भारत के स्त्री-रत्न

अनुवादक

श्रीयुत रामचन्द्र वर्म्मा
श्रीयुत शंकरलाल वर्म्मा

भारत के स्त्री-रत्न

मूल लेखक

शिवप्रसाद दलपतराम पंडित
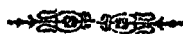
अनुवादक

बाबू रामचंद्र वर्म्मा

बाबू शंकरलाल वर्म्मा

प्रकाशक—

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल,

अजमेर

बार] दिसम्बर १९२५. [मूल्य १=)

लागत मूल्य पर हिन्दी पुस्तकें प्रकाशित करनेवाली
एक मात्र सार्वजनिक संस्था

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक-मंडल, अजमेर

उद्देश्य—हिन्दी साहित्य संसार में उच्च और शुद्ध साहित्य के प्रचार उद्देश्य से इस मण्डल का जन्म हुआ है। विविध विषयों पर सर्वसाारण और शिक्षित-समुदाय, स्त्री और बालक सबके लिए उपयोगी, अच्छी ेर सस्ती पुस्तकें इस मण्डल के द्वारा प्रकाशित होंगी।

विषय—धर्म (रामायण, महाभारत, दर्शन, वेदान्तादि) राजनीति, ़ , कलाकौशल, शिल्प, स्वास्थ्य, समाजशास्त्र, इतिहास, शिक्षाप्रद , नाटक, जीवनचरित्र, स्त्रियोपयोगी और बालोपयोगी आदि की पुस्तकें तथा रामतीर्थ, विवेकानन्द, स्वामी टालसटाय, तुलसीस, सूरदास, कबीर, विहारी, भूषण आदि की रचनाएँ प्रकाशित होंगी।

इस मण्डल के सदुद्देश्य, महत्व और भविष्य का अन्दाज पाठकों होने के लिए हम सिर्फ उसके संस्थापकों के नाम यहाँ दे देते हैं—

मंडल के संस्थापक—(१) सेठ जमनालालजी बजाज वर्धा, (२) ़ घनश्यामदासजी बिड़ला कलकत्ता (सभापति) (३) स्वामी आनन्दा- ़ (४) बाबू महावीर प्रसादजी पोद्दार (५) डा० अम्बालालजी दधीच) पं० हरिभाऊ उपाध्याय (७) पं० जीतमल लूणिया अजमेर (मन्त्री)

पुस्तकों का मूल्य—लगभग लागतमात्र रहेगा। अर्थात् बाजार में पुस्तकों का मूल्य व्यापाराना ढंग से १) रखा जाता है उनका मूल्य ़ारे यहाँ केवल ।=) या ।≶) रहेगा। इस तरह से हमारे यहाँ में ५०० से ६०० पृष्ट तक की पुस्तकें तो अवश्य ही दी जावगी। , सचित्र पुस्तकों में खर्च अधिक पड़ने के कारण उनका मूल्य कुछ अधिक ़गा पर रहेगा वही लागतमात्र। यह मूल्य स्थाई ग्राहकों के लिए । सर्व साधारण के लिये थोड़ासा मूल्य अधिक रहेगा।

गुजराती के सस्तुं साहित्य कार्यालय के—इस समय कोई ़त हजार स्थाई ग्राहक हैं। यही कारण है कि वहाँ से सैकड़ों उपयोगी

ग्रंथ प्रकाशित हो गये हैं। हिन्दी तो राष्ट्र-भाषा है। इस तरह इस मंडल के तो बीसियों हज़ार ग्राहक हो जाना चाहिए।

इङ्गलैंड जापान आदि देशों का साहित्य इसीलिये उन्नत है कि वहाँ के लोगों को पढ़ने लिखने का बड़ा शौक़ है। अमीर से लेकर भंगी तक के घर में आपको उत्तम उत्तम पुस्तकों का संग्रह मिलेगा।

हिन्दी प्रेमियों का स्पष्ट कर्तव्य

यदि आप चाहते हैं कि हिंदी का भी-यह 'सस्ता मंडल' फले, फूले तो आपका कर्तव्य है कि आजही न केवल आपही इसके ग्राहक बनें पर अपने परिचित मित्रों को भी बनाकर इसकी सहायता करें। जितने अधिक ग्राहक बनेंगे उतना ही कम मूल्य पुस्तकों का होता जायगा। परमात्मा आपको ऐसी सद्बुद्धि दे कि आप हमारे इस सेवाकार्य को अपनाने के साथ ही आप लोग भी इस सेवा कार्य में लगें।

विद्वानों से निवेदन—आपकी सहायता तो इस संस्था का प्राण ही समझिए। यदि आपलोग अपनी लेखनी द्वारा इसकी सहायता करते रहें तो आपकी पुस्तकों का खूब प्रचार होने के साथ ही साथ राष्ट्र भाषा और हिन्दी जनता का असीम लाभ होगा। हम भी अपनी ओर आपकी सेवाओं के बदले में उचित पुरस्कार देने का प्रयत्न करेंगे।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

वर्ष भर में लगभग १६०० पृष्ठों की लगभग सात आठ पुस्तकें निकलेंगी और इन सब पुस्तकों का मूल्य मिला कर केवल ३) होगा। और सब स्थाई ग्राहकों को लेनी होंगी। स्थाई ग्राहक दो तरह से हो सकते हैं।

(१) वार्षिक ग्राहक—चूँकि प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से भेजने में पोस्टेज के अलावा ।) प्रति पुस्तक वी० पी० खर्च ग्राहकों को अधिक लग जाता है अतएव यह सोचा गया है कि वार्षिक ग्राहकों से प्रति वर्ष ४) पेशगी लिया जाय अर्थात् तीन रुपया लगभग १६०० पृष्ठों की पुस्तकों का मूल्य और १) डाक खर्च।

(२) जो सज्जन ॥) प्रवेश फीस देंगे उनका नाम भी स्थाई ग्राहकों में सदा के लिये लिख लिया जायगा और ज्यों ज्यों पुस्तकें निकलती जावेंगी वैसे वैसे पुस्तक का लागत मूल्य और पोस्टेज खर्च जोड़कर वी० पी० से भेज दी जावेंगी।

नोट—इस तरह प्रत्येक पुस्तक वी० पी० से भेजने में वर्ष भर में कोई ढाई रुपया पोस्टेज खर्च नं० (२) के अर्थात् ॥) प्रवेश फीस देने वाले ग्राहकों को लग जायगा।

हमारी सलाह है कि आप वार्षिक ग्राहक ही बनें

क्योंकि इससे आप वार वार वी० पी० छुड़ाने के झंझट से बच जावेंगे और पोस्टेज में भी आपको बहुत ही किफायत रहेगी और स्थाई ग्राहक फीस के आठ आने भी आप से नहीं लिये जावेंगे। साथ ही हम भी बारबार वी० पी० भेजने के झंझट से बच जावेंगे।

सस्ती-साहित्य-माला की पुस्तकें

दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह

(ले०—महात्मा गांधी)

पृष्ठ सं० १७२ मूल्य स्थाई ग्राहकों से ।≤) सर्वसाधारण से ॥।)

म० गांधीजी लिखते हैं—"बहुत समय से मैं सोच रहा था कि इस सत्याग्रह-संग्राम का इतिहास लिखूँ क्योंकि इसका कितना ही अंश मैं ही लिख सकता हूँ। कौनसी बात किस हेतु से की गई है, यह तो युद्ध का संचालक ही जान सकता है। सत्याग्रह के सिद्धान्त का सच्चा ज्ञान लोगों में हो इसीलिये यह पुस्तक लिखी गई है"। सरस्वती, कर्मवीर, प्रताप आदि पत्रों ने इस पुस्तक के दिव्य विचारों की प्रशंसा की है।

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए०, एल० टी०) पृष्ठ संख्या १३२, मूल्य स्थाई ग्राहकों से केवल ।) सर्व साधारण से ।=) प्रत्येक इतिहास प्रेमी को इसे पढ़ना चाहिए।

(३) दिव्य जीवन—अर्थात उत्तम विचारों का जीवन पर प्रभाव। संसार प्रसिद्ध स्विट मार्सडन के The Miracles of R[illegible] Thoughts का हिंदी अनुवाद। पृष्ठ संख्या १३६, मूल्य स्थाई [illegible] से ।) सर्व साधारण से ।=)

(४) भारत के स्त्रीरत्न—(प्रथम भाग) इस ग्रंथ में वैदिक काल से लगाकर आजतक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पातिव्रत्य परायण, विद्वान और भक्त कोई ५०० स्त्रियों का जीवन वृतान्त होगा। हिंदी में इतना बड़ा ग्रन्थ आज तक नहीं निकला। प्रथम खण्ड (सचित्र) पृष्ट लगभग ४००, मूल्य स्थाई ग्राहकों से केवल ॥।=) सर्व साधारण से १।)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—यह पुस्तक बालक, युवा, पुरुष, स्त्री सबही के उपयोगी है, परस्पर बड़ों व छोटों के प्रति तथा संसार में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, ऐसे ही अनेक उपयोगी उपदेश भरे हुए हैं। पृष्ठ लगभग ११०, मूल्य स्थाई ग्राहकों से ≈) सर्वसाधारण से ।–)

आगे छपनेवाले ग्रन्थ-रत्नों में से कुछ के नाम

(१) स्वाभाविक जीवन (२) टालस्टाय के अनेक नवीन ग्रन्थ (३) समाज-शास्त्र (४) भगवान् बुद्धदेव (५) भारत [illegible] अछूत संत (६) अछूतोद्धार (७) ब्रह्मचर्य (८) स्वामी रामतीर्थ (९) स्वामी विवेकानन्द (१०) भारत के भक्त पुरुष (अनेक खंडों में निकलेगा) इसके अतिरिक्त कई उत्तमोत्तम ग्रंथ निकलेंगे।

आदर्श पुस्तक-भंडार

हमारे यहाँ दूसरे प्रकाशकों की उत्तम, उपयोगी और चुनी हुई हिन्दी पुस्तकें भी मिलती हैं। गन्दे और चरित्र-नाशक उपन्यास नाटक आदि पुस्तकें हम नहीं बेचते। हिन्दी पुस्तकें मँगाने की जब आपको जरूरत हो तो इस मण्डल के नाम ही आर्डर भेजने के लिये हम आपसे अनुरोध करते हैं। क्योंकि बाहरी पुस्तकें भेजने में यदि हमें व्यवस्था का खर्च निकाल कर कुछ भी बँचत रही तो वह मण्डल की पुस्तकें और भी सस्ती करने में लगाई जायगी।

पता—सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

विषय-सूची

विषय. पृष्ठ.

विषय.	पृ

विषय.	पृष्ठ.

'भारत के स्त्री-रत्न' नामक पुस्तक की

लागत का ब्योरा—

छपाई	४७० रुपया
कागज़	४८५ ,,
जिल्द बँधाई	८०
अनुवाद कराई	२२५
काशी से अजमेर भेजने का रेल-भाड़ा	६५
व्यवस्था व विज्ञापन आदि का खर्च ...	४०० ,,
	१७२५ रु०

प्रतियाँ २२००

एक प्रति का मूल्य ।।।)

मंत्री,

सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मंडल

अजमेर

भारत के स्त्री-रत्न

दक्ष-कन्या सती

हरिद्वार में जिस स्थान पर गङ्गा नदी हिमालय से भूमि पर अवतीर्ण हुई है, उसके सामने के मैदान को कनखल कहते हैं। जिस समय का हम ज़िक्र कर रहे हैं, प्रजापति दक्ष उस समय इस प्रदेश का राजा था।

राजा दक्ष का प्रताप खूब बढ़ा-चढ़ा था। ऐश्वर्य एवं पराक्रम में उसका मुक़ाबिला करनेवाला उस समय कोई न था। यही नहीं, किन्तु वह महातपस्वी भी था। उसने कितने यज्ञ, कितने दान और कितने व्रतानुष्ठान किये, इसकी तो कोई गिनती ही नहीं। इसीलिए सर्व-साधारण कहा करते थे कि धर्म और कर्म में राजा दक्ष के साथ और किसी की तुलना नहीं हो सकती।

दक्ष की राजधानी—कनखल शहर—सुन्दरता में अमरावती को भी मात करती थी। हज़ारों वर्ष बीत गये, किन्तु आज भी कनखल के सौन्दर्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। गिरिराज हिमालय, शिखर पर शिखर चढ़ा कर, मेघमाला के सदृश उसके पास खड़ा है। उसके बीच में होकर गङ्गा का स्रोत, एक विशाल सर्प की नाईं बल खाता हुआ, वेगपूर्वक धड़ाधड़ नीचे की ओर बहा

जाता है। कनखल में गङ्गा की ऐसी अपूर्व शोभा है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जल स्फटिक के समान स्वच्छ है। यहाँ तक कि नदी की सतह में क्रीड़ा करनेवाली छोटी छोटी मछलियाँ भी उसमें से स्पष्ट देखी जा सकती हैं। किसी जगह जल पारा जैसा सफ़ेद है, तो किसी जगह मेघ के समान शुभ्र आकाश वर्ण। नेत्रों को तो उसे देखते रहने से ही ठण्डक पहुँच जाती है। प्राचीन कालीन आर्य गङ्गा नदी की महिमा से ऐसे मंत्र मुग्ध क्यों हो गये थे, जो यह जानने के जिज्ञासु हों, उन्हें तो एक बार कनखल और हरिद्वार से गङ्गा के दर्शन अवश्य करने चाहिये।

गङ्गा का जो स्रोत कनखल के आगे होकर बहता है, उसका नाम नीलधारा है। मणि-मुक्ताओं से मढ़ा हुआ राजा दक्ष का महल इस नीलधारा के तट पर ही था। वर्षा ऋतु में नदी का स्रोत इस महल को धोता हुआ बहता था और महल में रहने वाले लोग इस प्रवाह से रात-दिन होने वाले कलकलनाद का श्रवण करते हुए निद्रा-मग्न होते थे।

राजा दक्ष के अनेक पुत्रियाँ थीं। जिस प्रकार सरोवर खिले हुए कमलों से और आकाश ज्योतिर्मय तारों से सुशोभित रहता है, राजा दक्ष का राजभवन भी राजकुमारियों के अपूर्व सौन्दर्य से वैसा ही सुशोभित था। राजमहिषी को कन्याओं के मनमोहक रूप देख देख कर इतना आनन्द होता था कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं।

राजकुमारियाँ प्रति दिन नीलधारा में स्नान करने आतीं। नदी के स्निग्ध जल में स्नान करके वे जलक्रीड़ा करतीं। नदी के किनारे की रेत में वे दौड़ मचातीं, और नदी के प्रवाह में से रंग-

विरंगे छोटे-छोटे पत्थर इकट्ठे करके घर आतीं। माता उन्हें देख कर हँसती और कहती—'अपने घर में अनेक मणि-मुक्तादि रत्न भरे पड़े हैं; उन्हें छोड़, इन पत्थरों को तुम क्यों इकट्ठे करती हो?'

राजकुमारियाँ कुछ जवाब तो न देतीं; पर मणि-मुक्ताओं की उपेक्षा करके, इन पत्थरों से ही अपने खेल के घर सजातीं।

शनैः शनैः राजकुमारियाँ बड़ी हुईं। तब खूब समारोह के साथ प्रजापति दक्ष ने उनके विवाह कर दिये। मनचाहे समधी और जँवाइयों के मिलने से राजा-रानी के आनन्द का वारापार न रहा। विवाह के वाद, एक-एक करके, राजकुमारियाँ अपनी अपनी सुसराल गईं और आनन्दपूर्वक अपने घर-बार सम्हालने में लग गईं।

परन्तु दक्ष की एक कन्या अभी भी कुँवारी थी। इसका नाम था सती। सती सब कन्याओं से छोटी होने के कारण, माता-पिता का इस पर सब से अधिक स्नेह था। राजा-रानी की इच्छा यह थी कि सती जब सयानी हो जायगी तब दूसरी सब कन्याओं से ज्यादा ठाटवाट से और भी अच्छे वर के साथ उसका विवाह करेंगे।

सती के रूप-गुण की तो वात ही क्या कही जाय? वैसे तो राजा दक्ष की सभी कन्याएँ अनुपम सुन्दरियाँ थीं; परन्तु सती के साथ तो उन किसी का मुक़ाबिला नहीं हो सकता था। सती का सौन्दर्य उसके शरीर के वर्ण अथवा उसके नेत्र या कानों की बनावट में न था। उसका सौन्दर्य तो था उसके भाव में, उसके शरीर की दिव्य ज्योति में। जिस किसी की भी उस पर नजर पड़ जाती, एकटक उसे देखता ही रह जाता। साधु-सन्यासियों को तो उसे,

बालिका सती को, देख कर जगत-जननी के स्वरूप का भान होने लगता और इसलिए भक्ति के साथ वे उसे प्रणाम करते।

सती का स्वभाव भी अन्य राजकुमारियों से बिल्कुल भिन्न ही था। और राजकुमारियाँ तो वस्त्राभूषण एवं खाने-पीने में मग्न रहतीं, पर सती का इस ओर किञ्चित भी ध्यान न था। राजकुमारियों में से कोई तो मेघ-धनुष के रङ्ग की साड़ियाँ पसन्द करतीं, कोई कमलपत्रों से बनाये गये वस्त्रों से शरीर को अलंकृत करतीं; पर सती की रुचि एक और ही प्रकार की थी। उसे गेरुआ रङ्ग पसन्द था। और कन्याओं के गलों में जहाँ मोती की मालाएं और हाथों में हीरे के कङ्कण सुशोभित रहते, वहाँ सती के गले में स्फटिक की सफ़ेद माला रहती और उसके कोमल करों में सुशोभित होते रुद्राक्ष के दाने। और राजकुमारियाँ जहाँ अपने शरीरों पर चन्दन और कस्तूरी का लेप करतीं, वहाँ सती के ललाट में पिता के यज्ञकुण्ड की भस्म शोभा पाती। सेविकाएँ सावधानी से बाल गूँथतीं, पर सती कुछ ही देर में उन्हें बिखेर डालती और जटा की तरह बान्ध लेती। किशोरी कुँवारी कन्या को शरीर के अलंकारों के प्रति ऐसी लापर्वाह देख कर भला किस माता के हृदय में दुःख न होगा? अतः रानी को अपनी लाडली बेटी की ऐसी दशा देख कर दुःख होना स्वाभाविक ही था। कभी-कभी तो कुछ खिन्न होकर वह सती से कह भी बैठती—"सती! तू दिनों दिन बड़ी होती जाती है; पर तुझे कुछ शऊर क्यों नहीं आता? तू न तो ढंग से कपड़े पहिनती है, न अच्छे-अच्छे आभूषण पहिनती है, और न दासियों से जूड़ा ही बन्धाती है—तमाम दिन बाल बिखेरे फिरती है। इतनी बड़ी लड़की ऐसा आचरण करे तो लोग

उसे पागल कहते हैं। ऐसी लड़की से कोई विवाह भी नहीं करता। भला तू कब तक ऐसी नादान रहेगी ?"

माता की ऐसी बातें सुनकर सती हँस पड़ती और कहती—"बहुत ठीक ! कोई विवाह नहीं करेगा, तो अच्छा ही है; मैं तुम्हारे ही पास रह जाऊँगी।" माता को तो वह ऐसा जवाब दे देती, पर बाद में उसके मन में नाना प्रकार के विचार उठते। अन्त में उसने निश्चय किया कि 'वस्त्राभूषण और जूड़े की शोभा देख कर ही जो मेरे बारे में अपने विचार बनावेगा, उसके साथ मैं हर्गिज़ अपना विवाह न करूंगी।'

राजा दक्ष ने जब सती की यह हालत देखी तो उसे भी बड़ी मनोवेदना हुई। परन्तु सती सरलता की मूर्त्ति थी और थी आनन्दमयी देवी, इससे राजा दक्ष को भी उससे कुछ कहने—सुनने का साहस न हुआ। सती में एक दोष और था। वह यह कि उसका स्वभाव बड़ा क्रोधी था। उसे कोई ज़रा भी कुछ कहता, तो उसके कमल जैसे नेत्रों में आँसू भर आते। दक्ष जब उसकी ऐसी दशा देखता तो तुरन्त रानी से कहता—"जाने भी दो, अपनी बेटी तो पागल है। अच्छा हो कि भगवान किसी पागल के साथ इसका पल्ला न बान्धे।"

होते-होते सती विवाह-योग्य हो गई। तब, उसके लिए वर तलाश करने को, राजा दक्ष ने अपने भाई देवर्षि नारद को बुलाया। राजा ने उनसे कहा—"नारद ! तुम बहुत घूमते रहते हो। ग़रीब अमीर, गृहस्थ और संन्यासी, सब लोगों में तुम्हारी पैठ है। अतः अपने मित्रों की सहायता से, सती के लिए, अगर तुम कोई योग्य वर ढूँढ़ लाओ, तो बड़ा अच्छा हो"

'जो आज्ञा' कह कर नारदजी वर ढूँढ़ने चल दिये। बहुत कुछ खोज के बाद, वह फिर कनखल आये। राजा रानी से उन्होंने कहा—"आप की सती के लिए मैंने एक बहुत योग्य वर तलाश कर लिया है। सती के लिए, उससे अधिक योग्य वर मुझे और कोई नहीं मिला।"

दक्ष ने उत्कण्ठा से पूछा—"वह कौन है?" नारद ने जवाब दिया—"कैलाश नगरी के राजा—कैलाशपति।"

नारद का यह कहना था कि राजा दक्ष का दिमाग़ चढ़ गया! पर वह कुछ कहें, इससे पहले ही रानी बोल उठी—"कैलाश नगरी? यह तो अभी बहुत दूर की बात है। रास्ता बड़ा विकट है। सती को अगर इतनी दूर व्याहा जाय, तो चाहे जब उससे नहीं मिला जा सकता और न हाल-चाल ही दर्याफ़्त किये जा सकते हैं।"

नारद ने कहा—"रानी! तुम्हारे कमी किस बात की है जो इच्छा होने पर भी, केवल दूर होने के कारण, तुम सती से न मिल सको? गाड़ी, घोड़ा, रथ, हाथी, विमान—जो कुछ चाहिये वह सब तो तुम्हारी सेवा में प्रस्तुत हैं, फिर ऐसा फ़जूल बहाना करने से क्या लाभ? फिर यह भी तो सोचो कि तुम हमेशा अपनी कन्या से मिलती रहो, यह ठीक; या उसे अच्छा वर मिले, यह ठीक? तुम्हारी सती को सुख मिलना चाहिये; फिर अगर तुम उससे न भी मिल सको, तो भी क्या हर्ज? मा-बाप को तो इसी बात में सन्तुष्ट रहना चाहिये कि उन की पुत्री सुखी रहे।"

नारदजी की यह बात राजा-रानी दोनों के पसन्द आ गई। और दक्ष बोले—"यह तो ठीक। पर वर की विद्या-बुद्धि कैसी है?"

नारद ने कहा—"विद्या-बुद्धि में तो उनकी बराबरी करने वाला आज और कोई नहीं है। वेद, पुराण, तंत्र आदि कोई भी शास्त्र या विद्या ऐसी नहीं कि जिसमें वह प्रवीण न हों। उनकी बुद्धि कितनी तीव्र है, इसका अनुमान तुम इसी पर से लगा सकते हो कि स्वयं वशिष्ठ मुनि ने उनसे ऋज, यजु तथा सामवेद का अध्ययन किया है, परशुराम ने धनुर्विद्या सीखी है और मैंने गान्धर्व-विद्या का अभ्यास किया है।"

नारद जी की यह बातें सुनकर दक्ष का चेहरा खिल उठा। उसने कहा—"वर का बल-वीर्य कैसा है?"

नारद—"बल का परिचय तो उनके (शिव) धनुष से ही मिल सकता है। उसमें धागा पिरोना तो दूर, दूसरा कोई तो उसे हिला-डुला भी नहीं सकता। इस धनुष से निकले हुए बाण से ही त्रिपुरासुर राक्षस की मृत्यु हुई थी।"

रानी ने पूछा—"उनका रूप-रंग कैसा है?"

नारद—"उनका रूप-रंग का तो पूछना ही क्या? हृष्ट-पुष्ट लम्बा-चौड़ा शरीर है, घुटनों तक लम्बी भुजायें हैं, विशाल नेत्र हैं, तेजस्वी गौर वर्ण है, और मुख सदैव खिला रहता है। ये सब बातें और किसी व्यक्ति में नहीं दीखतीं। ऐसा रूप सती की दाहिनी तरफ़ विराजने ही के योग्य है।"

सती की सखी विजया किसी कार्यवश रानी के पास आयी थी।। यहां सती के विवाह की बातें होती देख, सुनने की ग़रज़ से, वह यहीं बैठ गयी थी। परन्तु नारद मुनि से वर की ऐसी प्रशंसा सुन कर उससे न रहा गया। वह तुरन्त दौड़ी हुई सती के पास पहुँची और उससे कहने लगी—"सती! अब तेरी मनो-

कामना पूर्ण होगी । इतने दिनों से तू जिनकी पूजा कर रही थी, उन्हीं कैलाशपति के साथ तेरा विवाह करने की चर्चा चल रही है ।"

सती कुछ न बोली । पर दोनों हाथ जोड़, ऊपर को मुँह करके, सर्वव्यापी परमेश्वर को उसने प्रणाम किया ।

इधर रानी ने नारद से फिर पूछा—"वर की धन-सम्पत्ति कैसी है ?"

नारद ने कहा—"कैलाश में इतने रत्न दबे पड़े हैं कि जिनका कभी खात्मा ही नहीं हो सकता, और यक्षराज कुबेर उनके भण्डारी हैं ।"

इससे अधिक खुलासे की जरूरत न हुई । क्योंकि भला रत्नों की शौकीन कौन ऐसी स्त्री होगी कि जिसने कुबेर भण्डारी का नाम न सुना हो ? हीरा, मोती, माणिक, पुखराज इत्यादि तरह-तरह के जितने रत्न इस समय कुबेर के भण्डार में थे, उतने भला और किस राजा के पास थे ? फिर वह कुबेर ही जिसका भण्डारी हो, उसका तो कहना ही क्या ? अस्तु । तब रानी ने पूछा—"उसके मा-बाप, भाई-बहन आदि को तुम जानते हो ?"

इस पर नारद ने मुसकुराते हुए कहा—"बस, वर में केवल एक यही खामी है कि उनके अपना सगा कोई नहीं । पर रानी ! तुम्हें तो इस बात से दुःखी होने के बजाय खुश ही होना चाहिये । क्योंकि विवाह के बाद अपनी सती, तुरन्त ही, अपने घर की खुदमुख्त्यार मालकिन बन जायगी ।"

नारदजी की यह बात रानी को जरा अखरी, और उन्होंने नारद की ओर एक तीखी नज़र डाली । तब नारद बोले—"रानी !

वर के व्यवहार के बारे में मुझे तुमसे दो-एक बातें स्पष्ट कह देना ज़रूरी है। फिर तुम उन्हें दोष समझो या गुण, यह तुम्हारी मर्ज़ी पर है। पर बाद में तुम मुझे भला-बुरा कहो, इससे मैं पहले ही साफ़ किये देता हूँ। वर संसार के प्रति बिल्कुल उदासीन है। घर और श्मशान, चन्दन और चिता की भस्म, ये दोनों उसके लिए एकसा हैं। वह सदैव चिन्तामग्न रहता है। परन्तु उसकी चिन्ता किसी पार्थिव वस्तु के लिए नहीं होती, प्रत्युत वह रात-दिन संसार के कल्याण ही की चिन्ता में निमग्न रहता है। श्मशान में मुर्दों की परीक्षा करने में, जङ्गल में वनस्पतियों के गुण-दोषों का विवेचन करने में, एवं कन्दराओं में खनिज पदार्थों का तत्व निरूपण करने में ही उसका तमाम समय व्यतीत होता है। तत्व-निरूपण करने के लिए वह हला-हल विष-पान करने अथवा ज़हरीले सर्प को गले में धारण करने में भी नहीं हिचकता। यही कारण है कि गृहस्थ होते हुए भी वह संन्यासी है, और राजा होते हुए भी भिखारी। अस्तु उसमें जो कुछ भी गुण-दोष या आचार-व्यवहार हैं, वे सब मैंने तुम्हें बतला दिये। अब जो कुछ तुम्हें ठीक जान पड़े, वह तुम जानो और वही करो।"

सब बातें सुन कर दक्ष ज़रा गम्भीर हो गये। वह बार-बार शिव के सम्बन्ध में विचार करने लगे। रानी भी कुछ चिन्तित हो गई। यह देख रानी की एक चतुर सेविका, जो वहाँ खड़ी थी, चुप न रह सकी। उसने रानी से कहा—"रानीजी! आप इतनी चिन्ता क्यों करती हैं? जिनके मा-बाप न हों, ऐसे तो अनेक लड़के देखने में आते हैं। घर-बार में दीन और दुनिया में मन न लगने से गुफाओं और श्मशानों में घूमते रहते हैं, इसकी

भी पर्वाह नहीं। क्योंकि अगर सती में गुण होंगे तो वह महीने भर में ही जँवाई साहब को ठिकाने ले आयगी।"

सेविका की बात से रानी को सन्तोष हुआ। और कहने लगी—"ठीक है, सभी गुण तो किसी मनुष्य में हों भी कैसे ? माँ-बाप को तो यही चाहिए कि कन्या का विवाह किसी योग्य पात्र के साथ किया जाय। हमें तो अपने इसी कर्त्तव्य की पूर्त्ति करनी चाहिये; पीछे यह जाने, और जाने इसका भाग्य। पात्र जब रूप-गुण, धन ऐश्वर्य, इन सब में अपनी सानी नहीं रखता, तो मेरी इच्छा तो इसी के साथ सती का विवाह करने की है। आगे जैसी महाराज की इच्छा हो।"

दक्ष ने कहा—"रानी! जो तुम्हारी इच्छा है, विधाता भी उसीके अनुकूल जान पड़ता है। मुझे पहले से ही यह आशङ्का थी कि जैसी भोली-भाली यह छोकरी है वैसाही भोला-भाला कहीं इसे वर भी न मिल जाय, अन्त में मेरी वह आशङ्का सच ही हुई। ख़ैर, अगर तुम इस वर के साथ सती का विवाह करना चाहती हो, तो खुशी से करो, मुझे इसमें कोई ऐतराज़ नहीं।"

इसके बाद और कोई बातचीत नहीं हुई। कैलाश-पति के साथ सती का विवाह निश्चित हो गया। राजा दक्ष ठाटबाट से विवाह करने कि तैयारी में जुट गये।

शुभ दिन देख कर अन्त में सती का विवाह भी हो गया। राजमहल जगमगाती हुई रोशनी से और उससे भी अधिक, राजकुमारियों के उज्जवल मुखारविन्दों से जगमगाने लगा। वर के सम्बन्ध में नारद ने जो कुछ कहा था, वह सब सच निकला। किन्तु एक बात से राज-महिषी को कुछ क्षोभ हुआ। वह सोचने

लगी कि नारद ने वर के ऐश्वर्य की जो बात कही थी क्या वह बिल्कुल निराधार थी ? क्योंकि विवाह के समय भी उनके गले में रुद्राक्ष ही की माला थी, शरीर पर भस्म का लेप था और कमर पर था व्याघ्रचर्म (शेर की खाल)। रानी ने कहा—यह क्या ? ऐसे शुभ प्रसङ्ग में भी अगर यह मेरी सती को सुन्दर वस्त्राभूषण नहीं पहिनायेगा, तो फिर कब पहिनायेगा ? परन्तु फिर उन्हें विचार होता कि 'नारद ऐसा मनुष्य है तो नहीं जो झूठ बोल कर धोखा दे। तब क्या नारद को शिव की वास्तविक परिस्थिति का पता न लगा होगा ?'

रानी को इस प्रकार के विचारों में उद्विग्न देख विवाह में बाहर से आयी हुई स्त्रियों से न रहा गया। उनमें से एक बोल ही उठी—"बेचारे जँवाई के मा-बाप तो कोई हईं नहीं, तब भला विवाह के वक्त अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण कौन पहिनावे ? बेचारा वर अपने आप तो सज-धज कर आने से रहा ! इसीलिये जैसा वह हमेशा रहता है वैसाही यहां चला आया है। अतः इस विषय में आपको अधिक चिन्ता न करनी चाहिये।"

एक दूसरी स्त्री बोली—"सती के भाग्य में यदि धन-वैभव का सुख भोगना बदा होगा तब तो वह उसे भोगे ही गी, चाहे जो हो। अपने यहां भी तो किसी चीज़ की कमी नहीं है। यह एक तो क्या, अपने लिये तो ऐसी दस कन्याओं का पालन-पोषण भी कोई बड़ी बात नहीं !"

परन्तु रानी को ये बातें न सुहाईं। तब नारदजी बुलाये गये। रानी ने उनसे कहा—"नारदजी ! तुम ने तो वर के वैभव की इतनी प्रशंसा की थी, पर यहाँ तो उसका कोई भी चिह्न दृष्टि-

गोचर नहीं होता ! और तो और पर मेरी सती को हाथ में पहिनने के लिए कङ्कण तक तो इन्होंने दिये ही नहीं ! विवाहिता कन्या को भला रुद्राक्ष की माला ! यह क्या मेरी बेटी कोई संन्यासिनी तो हुई नहीं !"

नारद ने कहा—"रानी ! मेरी बात में असत्य तो किंचित भी नहीं है। तुम्हारी सती आज सचमुच पूर्णतः राजराजेश्वरी हुई है। अभी कुछ मत बोलो, थोड़ा धीरज रक्खो; जब सती एक बार ससुराल होकर आवे, तब देखना कि तुम्हारे जँवाई का वैभव कितना बढ़ा चढ़ा है।"

नारद के इस जवाब से महारानी तथा अन्य सगे-सम्बन्धियों को कुछ आश्वासन हुआ और उन्हें ढ़ाढ़स बंधा।

परन्तु वर की विवाह-समय की पोशाक और उनके साथियों के रंग-ढंग को देख कर दक्ष को भी सन्तोष नहीं हुआ। क्योंकि उसके दूसरे जँवाई तो हाथी, घोड़े, रथ और गाजे-बाजे के साथ विवाह करने आये थे; किन्तु इस नये जँवाई के साथ तो सिर्फ़ एक बड़ा शंख और सवारी के लिये एक मोटा बैल ही थे। और जँवाइयों के साथ जहाँ सुनहरी वर्दीवाले सुघड़ नौकर-चाकर थे, वहाँ इस नये जँवाई के साथ थे त्रिशूलधारी लम्बे और डरावनी सूरतवाले नन्दीगण। बरातियों के ऐसे भयङ्कर रूप और अद्भुत हाव-भाव देखकर कनखल-निवासियों को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे एक-दूसरे से कहने लगे, कि "राजा ने जँवाई तो खूब ढूंढ़ा है !" लेकिन जो लोग ज़रा भी समझदार थे, वे उन्हें समझाते, कि "भाई ! इसमें अचरज की कोई बात नहीं। बात यह है कि यह लोग पहाड़ों के रहनेवाले हैं, और पहाड़ियों की रहन-सहन इसी

क़िस्म की होती है।" पश्चात् जब नगर-निवासियों ने वर का सदा आनन्दी स्वभाव, सरल मधुर व्यवहार और हमेशा खिला रहने-वाला चेहरा देखा, तो धीरे-धीरे उनका क्षोभ दूर हो गया।

राजा, रानी और नगर-निवासियों के तो ऐसे भाव थे; परन्तु सती का इस समय क्या भाव था, यह भी जान लेना आवश्यक है। साधु-संन्यासियों से प्रशंसा सुनकर रात-दिन जिनकी पूजा में लगी रहती थी उन्हीं शिवजी के साथ आज अपना प्रत्यक्ष पति-पत्नी-सम्बन्ध होते देख उसके हृदय में जो अगाध आनन्द हो रहा था, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है? आँख से आँख मिलते ही, उसने तो अपना हृदय कैलाशपति के चरणों में समर्पित कर दिया। उनके सुन्दर मुख, भस्म लगे हुए शरीर, विशाल चक्षु आदि के सौन्दर्य को सती एकटक निहारने लगी। अन्त में उन्हें सम्बोधन करके बोली—"स्वामी! सती के स्वामी! मेरा जीवन आपही के लिये है। भगवान मुझे बल दें कि मैं आपकी सहधर्मिणी होने के योग्य बनूं।"

इस प्रकार सती का विवाह हो गया, और अपने पति के साथ वह कैलाशपुरी चली गयी। कैलाशपुरी में सती के पहुँचने पर पुष्पों में पहिले से अधिक सौरभता प्रतीत होने लगी, परिन्दे अधिक मधुर राग गाने लगे, और संन्यासी कैलाशपति सती के विवाह के बाद संसारी बन गये। सती भी धर्म और कर्म में अपने पति की पूर्णतः अर्द्धाङ्गिनी बन गयी।

इसी तरह उक्त घटना को बहुत समय बीत गया। एक समय की बात है कि कैलाश में खूब बसन्त छा रहा था, और उससे कैलाश की अपूर्व शोभा हो रही थी। बर्फ़ के लगातार गिरते रहने

से कैलाश के जो वृक्ष लताएँ पत्र-पुष्प-हीन एवं शोभाहीन हो गये थे, ऋतुराज वसन्त का ऐन्द्रजालिक स्पर्श होते ही नवीन फूल-पत्तों से वे ऊपर से नीचे तक सज गये थे। गिरिराज ने, बर्फ़ की सफ़ेद पोशाक उतार कर, नीले वस्त्र धारण कर लिये थे। पर्वत पर जगह-जगह सफ़ेद, लाल, पीले इत्यादि भिन्न-भिन्न रङ्गों के फूल खिल उठे थे। पिघले हुए वर्फ़ से सैकड़ों झरने निकल पड़े थे, और कल-कल-नाद करते हुए रात-दिन नीचे की ओर वहते थे। घोर शीत के कारण जो जानवर कैलाश से नीचे के ऊष्ण प्रदेश में चले गये थे जिससे कैलाश कुछ ऊजड़ सा लगने लगा था, उनके वापिस आ जाने से अब फिर चहल-पहल रहने लगी थी। जङ्गलों को भौंरे कैलाश को फिर से गुंजाने लगे थे, और हिंसक जन्तु अपनी गर्जनाओं से कपकपी पैदा कर रहे थे। कस्तूरीमृग नवोत्पन्न घास खाने के लोभ से पुनः पहाड़ पर आ गये थे, और पर्वत के ऊपर से चन्दन के वृक्ष अपनी सुगन्धि फैला कर पर्वत-निवासियों की घ्राणेन्द्रियों को तृप्त कर रहे थे। सारांश यह है कि ऋतुराज वसन्त के आगमन से कैलाश के तरु-लता और पशु-पक्षी इत्यादि सभी में नयी स्फूर्ति और नया जीवन आ गया था।

पर्वत के एक उच्च शिखर पर कैलाशपति का स्फटिक का महल था। राजमहल के चारों तरफ़ देवदार के मोटे-मोटे वृक्ष लगे थे जिनसे अपने आप ही चारों ओर एक प्राकृतिक कोट बन गया था। राजमहल के चारों ओर स्निग्धता, विशालता और रमणीयता दृष्टि-गोचर होती थी। तपोवन की गम्भीरता के साथ उपवन सौन्दर्य का संयोग हो जाने से यह स्थान तपस्या और गृह्य-सुख, दोनों के लिए उपयोगी हो गया था। महल से कुछ ही दूर

देवदार का एक पुराना दरख्त अपनी शाखा-प्रशाखाएं फैलाये खड़ा था। दरख्त के नीचे प्राकृतिक पत्थरों की ही एक वेदी भी थी। संध्या का सुहावना समय था। शेर की खाल का आसन बिछाये कैलाशपति इस वेदी पर बैठे हुए थे। कैलाशपति की बायीं ओर दक्ष-कन्या सती विराजमान थीं। वृक्ष पर एक बेल छायी हुई थी। संध्या-वायु के चलने पर यह कोमल वनलता भी उसके साथ हिलती थी और उस झकोरे से उसमें के सुगन्धित कोमल पुष्प इस देव-दम्पत्ति के शरीर पर इस प्रकार पड़ रहे थे, मानों वृक्ष और लता भी इन युगल प्रेमियों को भक्ति-पूर्वक प्रेम-पुष्पाञ्जलि चढ़ा रहे हों। कैलाशपति के सिर पर जटा थी, गले में रुद्राक्ष की माला, शरीर पर विभूति, और कमर पर व्याघ्र-चर्म। यही वेष सती का भी था। वह भी अपने पति के साथ शरीर पर गेरुए वस्त्र पहिने बैठी थी। गले में रुद्राक्ष की माला थी, हाथ में रुद्राक्ष के दाने और गर्दन, पीठ तथा कमर तक बिखरे हुए बाल थे। दोनों के सन्मुख हाथ में महान त्रिशूल लिये नन्दी खड़ा था। अस्ताचल-गामी सूर्य की किरणें इनके मुखों पर पड़ रही थीं जिससे इनका सौन्दर्य अत्युत्कृष्ट प्रतीत हो रहा था। नन्दी आनन्द-पूर्वक टक-टकी लगाये उनकी ओर निहार रहा था। इस देव-दम्पत्ति को नन्दी ठीक उसी भाव से एकटक निहार रहा था जिससे कि पितृ-वत्सल पुत्र अपने माता-पिता को देखता है, या प्रजा अपने राजा-रानी को, अथवा परमभक्त अपने इष्ट देवता या देवी को। कैलाशपति और सती में परस्पर जीवधारियों के सुख-दुःख की बातें हो रही थीं। उपवन के पशु-पक्षी और तरु-लता तक इस समय ऐसे शान्त थे, मानों इनकी बातचीत में उन्हें भी आनन्द आ रहा

हो। अपनी रश्मियों से पर्वत के शिखर को जगमगाता हुआ सूर्य उनकी बायीं ओर अस्त हो रहा था। उसकी ओर सङ्केत करके, कैलाशपति सती से बोले:—

"देवी! इसे देखो। जो सूर्य अभी अभी अपनी उज्ज्वल रश्मियों से संसार को प्रकाशमान कर रहा था अब उसमें वह तेज और वह प्रकाश नहीं रहा, और कुछ ही देर में तो यह बिल्कुल प्रकाशहीन होकर अदृश्य ही हो जायगा। देवी! संसार के मनुष्यों का जीवन भी ठीक ऐसा ही है। जो लोग आज ज्ञान एवं गौरव से प्रकाशित हो रहे हैं, कौन जानता है कि कल ही वे किस अन्धकार में ग़ायब हो जायँगे? मनुष्य ऐसा मूर्ख और अल्प-बुद्धि है कि इस क्षणभङ्गुर जीवन के सुख-दुःख को भी चिर-स्थायी समझता है!"

सती ने कहा—"स्वामी! जैसे सूर्य उदय और अस्त होता है, क्या मनुष्य के लिये भी वैसा ही नियम है?"

कैलाशपति—"हाँ, जिसे साधारण लोग जन्म और मृत्यु कहते हैं, ज्ञानियों के लिये वही उदय और अस्त है। भेद केवल यही है कि सूर्य के दैनिक उदय-अस्त से उसकी ज्योति में कोई अन्तर नहीं पड़ता, पर मनुष्य के विषय में यह बात नहीं है। मनुष्य तो प्रत्येक नये जन्म के साथ उत्तरोत्तर ज्ञान प्राप्त करके अधिकाधिक उन्नत होता है। सिर्फ़ वही लोग दिनोंदिन अधोगति को प्राप्त होते हैं जो धर्महीन—पापी होते हैं।"

सती—"धर्महीन प्राणी की तो तब कोई गति ही नहीं? उसका क्या सदैव अधःपात ही होता चला जायगा?"

कैलाशपति—"नहीं देवी! ऐसा नहीं है। आत्मा और शिव

एक ही है। प्रकृति का यह नियम है कि अपने-अपने कर्मों के अनुसार पाप का प्रायश्चित करने के लिये हर एक मनुष्य फिर से उन्नति या शिवत्व प्राप्त करता ही है।"

दोनों जनों में इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि इतने में दूर से वीणा की अत्यन्त मधुर ध्वनि उनके कानों में सुनाई दी। कोई गवैय्या सुन्दर गीत के द्वारा कैलाशपति और सती का गुणगान कर रहा था।

सती के लिये यह स्वर नया न था—उसे तो बाल्यावस्था से ही इससे परिचय था; अतः कानों में भनक पड़ते ही उसका समस्त शरीर हर्ष से रोमाञ्चित हो उठा। हर्ष से गद्गद् होकर उसने कैलाशपति से कहा—"स्वामी! यह तो देवर्षि नारद यहाँ आ रहे हैं; यह स्वर तो उनके सिवाय और किसी का नहीं हो सकता।" कुछ ही देर में स्वयं दिव्यमूर्त्ति नारदजी उनके सन्मुख जा पहुँचे। आपस में यथा योग्य नमस्कार और आदर-सत्कार की बातें हो जाने पर, देवर्षि नारद को एक शिला पर बैठा कर, सती ने उनसे पूछा—"देवर्षि! कनखल के क्या हाल-चाल हैं? पिता, माता, आदि सब राजी खुशी तो हैं न?"

नारद ने कहा—"सब कुशल हैं। तुम्हारे माता-पिता, बहिनें आदि सब अच्छी तरह हैं।"

सती—"इतने दिन हो जाने पर भी पिताजी ने मेरी सुध क्यों नहीं ली?"

नारद—"तुम्हारे पिता इन दिनों काम में बहुत व्यस्त हैं। आजकल वह एक बड़े भारी यज्ञ की तैयारी में लगे हुए हैं। भारत-भर के अमीर और ग़रीब, पण्डित और मूर्ख, सभी को

उन्होंने इस यज्ञ में आमंत्रित किया है। मुझे तो यह मालूम पड़ता है कि बड़े भारी यज्ञ की तैयारी ही के कारण उन्हें तुम्हारे हाल-चाल पूछने तक की फ़ुर्सत नहीं मिली होगी।"

सती ने उत्सुकता-पूर्वक पूछा—"देवर्षि ! क्या आप पिताजी की आज्ञा से मुझे उस यज्ञ में लिवा ले जाने ही के लिये तो नहीं आये हैं ?"

नारद—"नहीं बहिन ! तुम्हारे माता-पिता को तो मेरे यहाँ आने की खबर भी नहीं। मैं तो इधर होकर जा रहा था, और तुम्हें देखे बहुत दिन हो गये थे, इसलिये साधारण तौर पर तुम से मिलने ही के लिये चला आया हूँ।"

सती—पिताजी ने यज्ञ के लिये इतनी अधिक तैयारियाँ की हैं कि देश-विदेश तक के मनुष्यों को उसमें बुलाया गया है, तब फिर मुझी को खबर क्यों नहीं दी? मुझे निमंत्रण क्यों नहीं भेजा?"

नारद—"इसका मैं क्या जवाब दूँ ? तुम्हारे पिता की मति ही बिगड़ गई है। क्योंकि जैसा मैंने सुना है उसके अनुसार तो वह तुम्हें बुलावेंगे भी नहीं।"

नारद की इस बात को सुनकर सती आश्चर्य-चकित हो गयी। उसका कण्ठ अवरुद्ध हो गया और शोकातुर होकर पूछने लगी—"देवर्षि ! यह क्यों ? हमने ऐसा क्या अपराध किया ?"

नारद—"सुना तो यह है कि कैलाशपति के व्यवहार से वह नाराज़ हुए हैं। उनका ऐसा ख़याल है कि कैलाशपति ने उनका अपमान किया। उस अपमान का बदला लेने ही के लिए उन्होंने इस यज्ञ में और सब सगे-सम्बन्धियों को बुलाया है, पर सिर्फ तुम्हें और कैलाशपति को निमंत्रण नहीं भेजा गया।

सती—"क्या माताजी को यह मालूम है ?"

नारद—"हाँ, वह भी जानती हैं। उन्होंने राजा दक्ष को बहुत समझाया भी; पर उन्होंने तो किसी का कहना नहीं माना। इसी बात पर खिन्न होकर रानी ने खाना-पीना छोड़ दिया है। पर अब इन बातों पर विचार करने से क्या लाभ ? मुझे और काम हैं। अच्छा, अब मैं आज्ञा चाहता हूँ।"

नारद तो इतना कह कर चले गये। तब सती ने नम्रता के साथ कैलाशपति से पूछा—"स्वामी ! पिताजी को आपका व्यवहार बुरा लगा, इसका क्या मतलब ?"

कैलाशपति ने कहा—"देवी ! मैंने तो उनका कोई अपमान नहीं किया। किसीका अपमान करने का मेरा स्वभाव ही नहीं है। असल बात तो यह है कि कुछ दिन पहले और देवताओं के साथ मैं भी एक सभा में गया था। वहाँ प्रजापति के आने पर और देवताओं ने उनकी जैसी आव-भगत की, मैं वैसी न कर सका। इसी बात पर, सुना है, वह मुझ से बहुत बुरा मान गये हैं और मेरा अपमान करने की फ़िक्र में हैं। तुम्हें यह सुनकर दुःख होता, इसी से मैंने आज तक तुम से इसकी चर्चा नहीं की।"

सती—"स्वामी ! मेरी एक प्रार्थना है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं एक/बार कनखल हो आऊँ ? मैं वहां जाऊंगी तो पिताजी को सब बातें समझा कर उन्हें मना लूँगी !"

कैलाशपति—"देवी ! और किसी समय अगर तुमने जाने को कहा होता, तो कोई बात न थी। परन्तु ऐसे यज्ञ के समय अगर तुम वहां जाओगी, तो निश्चय ही सबके सामने वह तुम्हारा अपमान कर बैठेंगे।"

सती—"भला मेरा अपमान वे क्यों करने लगे? मैंने तो कभी उनका अपमान नहीं किया!"

कैलाशपति—"सती! तुम तो विलकुल भोली हो। तुम प्रजापति को नहीं पहिचानतीं। वह ऐसे हैं कि अपने अभिमान में चाहे जो कर सकते हैं। जब उन्होंने मेरा अपमान करने की ठान ली है, तो ऐसा सहज मौक़ा पा कर मेरे वदले तुम्हारा अपमान करने में वह ज़रा भी संकोच नहीं करेंगे। असल वात तो यह है कि मेरा अपमान करने ही के लिए यह यज्ञ रचा गया है। ऐसी दशा में, विना बुलाये यज्ञ में जाना तुम्हें शोभा नहीं देता। आगे जैसी तुम्हारी इच्छा हो, विचार कर लो।"

सती—"स्वामी! भला मैं आप को क्या समझाऊँ? पर लड़की को पिता के घर जाने के लिए निमंत्रण की क्या ज़रूरत, यह मेरी समझ में नहीं आता। फिर नारदजी ने जो कुछ कहा, वह क्या आपने नहीं सुना? मेरे लिए माताजी ने अन्न-जल त्याग दिया है, यह जान कर भी अपमान के ख़याल से अगर मैं माता की सेवा करने न जाऊँ, तो क्या यह ठीक होगा?"

कैलाशपति—"ख़ैर, इस बारे में अधिक वादविवाद की क्या ज़रूरत है। जब तुम जाना ही चाहती हो, तो ख़ुशी से जाओ। पर इतना ख़याल रखना कि जो कुछ करो वह समय को देख कर ही करना। क्योंकि मुझे तो अभी भी यह शङ्का है कि इस यज्ञ का परिणाम तुम्हारे, मेरे तथा प्रजापति दक्ष, इन तीनों के लिये अच्छा न होगा।"

अस्तु, नन्दी ने यथासमय कनखल जाने की तैयारियां कर दीं। किन्तु; मायके जाते वक्त सती ने कोई विशेष शृङ्गार नहीं

किया। जिस तपस्वी वेष में वह कैलाश में रहती थी, उसी वेष में वह कनखल चली गयी। उसके हाथ में त्रिशूल था, गले में स्फटिक की माला थी, हाथ में रुद्राक्ष के दाने थे, शरीर पर भस्म का लेप था, ललाट में भस्म का तिलक था, कमर तक लहराते हुए खुले बाल थे, और वस्त्र गेरुए थे,—इसी वेष में वह कनखल गयी। जिन कनखल-वासियों ने बचपन में उसे देखा था, अब उसके पूर्ण यौवन से प्रफुल्लित सौन्दर्य को देख कर वे चकित हो गये और झुक-झुक कर उसे प्रणाम करने लगे। पर सती किसी से कुछ न बोली। वह तो सीधी राजमहल की उस कोठड़ी में पहुँची जहाँ उसकी माता अन्न-जल त्याग ज़मीन पर पड़ी-पड़ी रोया करती थी। माता को शोक ग्रस्त देख कर वह बड़ी मृदुता से बोली—"माँ! मैं आयी हूँ।"

रानी के कानों में संजीवनी के समान यह शब्द पहुँचे। यह सुनते ही वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और सती को छाती से चिपका कर बोली "बेटी! तू आगयी?" और बार-बार यह कह कर वह सती का चुम्बन करने लगी। दोनों के नेत्रों से प्रेमाश्रु-धारा बह निकली। अन्त में सती बोली—"माँ! मैं एक बार पिताजी से मिलना चाहती हूँ। इसी के लिये मैं यहां आयी हूँ।" रानी ने कहा—"ना बेटी! महाराज अभी यज्ञ-सभा में हैं। इस समय वहां जाने की ज़रूरत नहीं।"

पर सती कब मानने वाली थी। यह कहती हुई कि "माँ मैंने बहुत दिनों से पिताजी को नहीं देखा है; ज़रा खड़ी खड़ी उनसे मिल तो आऊँ।" रानी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बग़ैर ही दौड़ती हुई यज्ञ-सभा में जा पहुँची।

यज्ञ-मण्डप राजमहल के सामने के विशाल मैदान में बनाया गया था। अनेक देशों के साधु, संन्यासी और दर्शक उसमें एकत्रित हुए थे। राजा दक्ष का ऐश्वर्य असीम था। कोई भी व्यवस्था बाक़ी नहीं रक्खी गयी थी। ऊपर भगवां रङ्ग का चन्दोवा, नीचे यज्ञ की वेदी थी, और वेदी के आस पास हवन करने वाले ऋत्विज लोग कुण्डलाकार बैठे हुए थे जिनके बीचों बीच प्रजापति दक्ष विराजमान थे। हवन का पवित्र धुआं चारों तरफ़ फैल रहा था। अग्नि में आहुतियां पड़ रहीं थीं और उनसे प्रज्वलित अग्नि के ताप से राजा दक्ष का मुख तप कर रक्तवर्ण हो रहा था इसी समय सती वहां पहुँची। सती को देखते ही, वहां बैठे हुए लोगों ने सम्मान के साथ उसके लिये रास्ता छोड़ दिया। सती सीधी यज्ञवेदी के पास चली गयी, और वहां पहुँच कर पिता को साष्टांग नमस्कार किया। क्षण भर के लिये ऋत्विजों के मुँह बन्द हो गये-वेदमंत्रों की ध्वनि रुक गयी और होताओं ने आहुति के लिए जो हाथ बढ़ाये थे वे जहां के तहां रह गये। दक्ष ने इसका कारण जानने के लिये जो आँख उठा कर देखा, तो सामने हाथ जोड़े सती को खड़े पाया। सती को देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। स्नेह से गद्गद् होकर उन्होंने पूछा—"सती! तू आ गयी?"

परन्तु दूसरे ही क्षण उनका भाव बदल गया। उनका सिर चढ़ गया। अग्नि के ताप से तपा हुआ मुख अब अस्त होते हुए सूर्य की नाईं लाल हो गया। स्वर कठोर हो गया। कर्कश स्वर से वह बोल उठे—"सती! तू यहां क्यों आयी? यहां आने के लिये तुझसे किसने कहा था?"

सती ने अपने जीवन-भर में कभी पिता के मुख से ऐसे शब्द

नहीं सुने थे। अतएव ज़हरीले बाण की नाईं यह शब्द उसके हृदय में चुभ गये। उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा वह निकली। पर किसी तरह जबरन अपने आँसुओं को रोक कर वह बोली—"पिताजी! बहुत दिनों से मैं आप से मिली नहीं थी; इसीसे आपसे मिलने के लिए आयी हूँ।"

सती के करुण-स्वर से यज्ञ में उपस्थित सब लोगों के हृदय द्रवीभूत हो गये। पर दक्ष पर कोई असर न हुआ। वह तो पहले की तरह ही कठोर स्वर से बोले—"तुझ से क्या किसी ने आने को कहा था जो तू चली आयी? मैंने तो तुझे निमंत्रण भी नहीं भेजा था।"

सती—"पिताजी! सन्तान को माता-पिता से मिलने के लिये निमंत्रण या बुलावे की क्या ज़रूरत? मैं तो बिना निमंत्रण ही आयी हूँ।"

दक्ष—"सती! प्रजापति दक्ष की कन्या के लिए ऐसा बहाना शोभा नहीं देता। ये शब्द तो उस निर्लज्ज की पत्नी के ही शोभा योग्य हैं जिसके साथ विधाता ने तेरा पल्ला बान्धा है।"

सती—"पिताजी! आप बिना किसी कारण के उन्हें गाली क्यों देते हैं?"

दक्ष—"क्या निर्लज्ज कहने ही में गाली हो गयी? आकाश ही जिसके वस्त्र हैं उस तेरे पति को निर्लज्ज कहा, इसमें गाली क्या हो गयी? घर और स्मशान, चन्दन और चिता की राख, अमृत और विष को जो एक समान समझता हो, ऐसे तेरे पति को यदि मैंने निर्लज्ज कहा, तो उसमें झूठ क्या कहा? तेरे पागल—जनूनी पति को निर्लज्ज कहा, इसमें इतना गुस्सा काहे का?"

सती—"पिताजी! वह निर्लज्ज हों, या पागल, अथवा और कुछ; पर मेरे तो वही देवता हैं। आप उनकी निन्दा न कीजिये।"

सती की यह बात सुनकर दक्ष का सारा शरीर क्रोध से काँपने लगा। वह कुछ कहनाही चाहते थे; पर क्रोध से इतने उन्मत्त हो गये थे, कि उनके मुँह से एक भी शब्द न निकल सका।

तब सती ने कहा—"पिताजी! आप इतने नाराज़ क्यों हैं। अगर हम से कोई अपराध हुआ हो, तो वह हमें बतला दीजिये और प्रसन्न होकर हमें क्षमा कर दीजिये। क्या हमारा अपराध ऐसा है कि जिसका कोई प्रायश्चित ही नहीं है?"

दक्ष—"प्रायश्चित तो है। पर वह तेरी मृत्यु से ही होगा। जिस दिन मैं तेरी मृत्यु की ख़बर सुन लूँगा उसी दिन से इस अधम के साथ मेरा जो सम्बन्ध है उससे मैं मुक्त हो जाऊँगा और सम्बन्ध छूट जाने पर फिर उसके साथ मुझे कोई राग-द्वेष भी नहीं रहेगा।"

सती—"अच्छा। अगर आपकी ऐसी ही इच्छा है, तो यही सही। यदि मेरी मृत्यु से ही आपका वैरभाव मिटता हो, हमारे अपराधों को आप क्षमा करने को तैयार हों, तो फिर मेरे लिये भला मृत्यु से अधिक और क्या सुख हो सकता है? अतः मैं खुशी के साथ आपकी आज्ञा का पालन करूँगी।"

इतना कहकर सती यज्ञ कुण्ड के पास ही योगासन लगा कर बैठ गयी। एकचित्त होकर शिर से पैरों तक अपने तमाम शरीर को उसने अपने गेरुए वस्त्र से ढ़क लिया। उपस्थित समुदाय चकित होकर एकटक उसे निहारने लगा। पर यह कोई नहीं समझ सका कि उसके इस प्रकार योगासन लगाकर बैठने का

आशय क्या है ? इतने में, देखते-देखते, सती के सुन्दर शरीर से, एक अपूर्व आभा निकली जिसके प्रकाश के सामने हवनकुण्ड की अग्नि भी निस्तेज प्रतीत होने लगी। फिर यह आभा सती के ब्रह्माण्ड से निकली हुई उसकी आत्मा-रूपी दिव्य-ज्योति के साथ मिलकर अनन्त आकाश में विलीन हो गयी।

इसके बाद दक्ष के यज्ञ का क्या परिणाम हुआ, इसका लिखना व्यर्थ है। माता की हत्या करनेवाले को पुत्र जिस दुर्दशा के साथ मार डालता है, उसी प्रकार कैलाशपति के गणों ने आकर दक्ष का संहार कर डाला। मणि-मुक्तादि से सज्जित दक्ष के सुन्दर राजमहल को उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर डाला, जिसके चिह्न उस स्थान पर आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। जिस स्थान पर सती का शरीरान्त हुआ था, वहाँ पर अभी तक एक कुण्ड मौजूद है। कनखल में अब पहले जैसी अपूर्व शोभा तो नहीं रही। उसके निवासी अब आशाहीन, निरुत्साही और निर्धन हैं। सती के अपमान-रूपी पाप के फल-स्वरूप यह सुन्दर स्थान अब स्मशान सरीखा हो गया है। परन्तु पुण्य-सलिला भागीरथी आज भी कनखल में पहिले की तरह ही कलकलनाद करती हुई बहती है और संसार को सती के महान आत्म-त्याग की कथा सुना रही है।

अब शिवजी की जो दशा हुई, उसे देखना चाहिए। तूफ़ान के बाद प्रकृति जैसी शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सती की चिन्ता छोड़कर बेल के वृक्ष के नीचे वह शान्ति के साथ ध्यान-मग्न बैठे थे। ध्यानावस्थित होने के कारण इस समय संसार के सुख-दुःख की उन्हें किञ्चित भी पर्वाह न थी। इतने में उनके पाँव से ब्रह्मा के कमण्डलु और विष्णु के सुदर्शन चक्र का स्पर्श

हुआ जिससे उनका ध्यान भङ्ग हो गया। ध्यान का भङ्ग होना था कि उनके हृदय में सती के वियोग की तीव्र ज्वाला सुलग उठी। पर सामने ब्रह्मा और विष्णु को मौजूद पाया। तब बोले—"क्या आप दक्ष के लिये आये हैं? नन्दी की चिल्लाहट सुनकर कुछ देर के लिये तो मुझे बड़ा क्रोध हो आया था; फिर क्या, हुआ, यह मुझे नहीं मालूम। पर अगर दक्ष का संहार किया गया होगा, तो वह अखिल विश्व के कल्याण ही के लिये। क्योंकि दक्ष ने मेरा जो अपमान किया, उसे मैं व्यक्तिगत नहीं मानता। उसने तो मेरा अपमान करके संसार के वैभवों की पर्वाह न करने वाले उन तमाम लोगों का अपमान किया है जो सादा होते हुए भी मुमुक्षु हैं। इसलिये जो लोग दैहिक सुख के पक्षपाती नहीं, संसार की भलाई ही जिनका मूलमंत्र है, ऐसे अनेक ऋषि इस यज्ञ में शरीक ही नहीं हुए थे। मुझे छोड़कर दक्ष ने न केवल मेरा किन्तु इन लोगों का भी अपमान किया है। यही नहीं किन्तु मेरा अपमान करके उन्होंने गरीबी के प्रति तिरस्कार प्रकट किया है। पर सादगी धारण किये बिना, केवल दिखावटी दरिद्रता से, हृदय की शोभा नहीं बढ़ती। फिर पतिव्रता सती का अपमान करके उस उच्च प्रेम का तिरस्कार किया गया है जो कि स्त्री का पति के प्रति होना चाहिए। ऐसा आदमी दुनिया में रहने क़ाबिल ही नहीं था।"

देवताओं ने कहा—"महाराज! एक बार आप अपनी आँखों से तो दक्ष की यज्ञशाला देख आइये। स्वर्ण की प्रतिमा सरीखी आपकी सती हवनकुण्ड के पास पड़ी है, उसे तो एक बार देख आइये।"

सती का नाम सुनते ही महादेव ने एक दीर्घ निःश्वास छोड़ा। कैलाश में जितने फूल थे, वे सब इस लम्बे साँस से सूख गये। इसके बाद ब्रह्मा और विष्णु के साथ भोलानाथ सती की हालत देखने के लिये यज्ञशाला में पहुँचे।

वहाँ जाकर देखा तो तमाम यज्ञमण्डप युद्धभूमि सरीखा भयङ्कर प्रतीत हो रहा था। दक्ष का धड़ और मस्तक अलग-अलग पड़े थे; ऋषि लोग बेहोश पड़े थे, हवनकुण्ड से रक्त के जलने की दुर्गन्धि आ रही थी, और अन्तःपुर में हाहाकार मच रहा था। नन्दी 'माँ'-'माँ' कह चिल्ला २ कर रो रहा था। वीरभद्र, चण्डेश आदि शिवजी के साथी यज्ञ का नाश करके लाल-पीली आँखें किये बैठे थे। तदोपरान्त वेदी से कुछ फ़ासले पर उन्होंने ज़मीन पर पड़ी हुई सती के शरीर को देखा। कैलाश से विदा होते समय उसके सिर में जो फूल थे, वे ज्यों के त्यों मौजूद थे। पत्नी के इस मृत शरीर को महादेव जी ने अपने तीनों नेत्र फाड़ कर देखा। पर उन्हें किसी प्रकार का रोष न हुआ। उल्टे वे सब लोग जो यज्ञ-भूमि में घायल हुए पड़े थे, उनके वरदान से मृत्यु से बचकर उठ खड़े हुए। हाँ, दम्भी दक्ष का मस्तक दण्ड-स्वरूप बकरे का कर दिया गया। यज्ञ का स्वयं हरि ने पूरा किया, और उसका शेष भाग महादेवजी के अर्पण कर उन्हें सन्तुष्ट किया गया।

अब महादेवजी ने सती के इस पवित्र शरीर को अपनी गोदी में उठा लिया और उसके ऐंठे हुए दोनों हाथों को अपने गले में डालकर, उसे लिये—लिये, पर्वतों की गुफ़ाओं में घूमने लगे। यहाँ तक कि वह मृत शरीर के स्पर्श से ही अपना विरह—दुःख भूल गये। इस अपूर्व मिलन के आनन्दवेश में वह पागल-

सरीखे हो गये और अपना सब काम-काज छोड़ रात-दिन सती के शरीर को ही लिये हुए, उसे निरखते और खिलाते हुए, घूमने लगे। संसार को इससे बड़ा कष्ट हुआ। देवता भी घबरा गये। उन्होंने विचार किया कि जब तक इनके कन्धे पर सती का मृत-शरीर रहेगा तब तक इनका मन ठिकाने नहीं आ सकता। अन्त में लाचार होकर विष्णु ने सब देवताओं की एक सभा की और तीर-कमान से सती के शरीर को ऐसा वेध डाला कि उसके सैकड़ों टुकड़े हो गये। कहा जाता है कि यह टुकड़े भारत के १०८ स्थानों में पड़े और इसीलिये जहाँ-जहाँ यह पड़े वे स्थान आज तक प्रसिद्ध देवी-पीठ कहे और माने जाते हैं। उदाहरणार्थ विंध्याचल, काशी, कामाक्षा, पंजाबान्तर्गत ज्वालामुखी, हिंगलाल काश्मीर आदि स्थानों में इस घटना के स्मरण-स्वरूप आज भी देवी के मन्दिर विद्यमान हैं। यह भी सम्भव है कि सती के अन्तिम स्मरण के रूप में उसकी पवित्र अस्थियों को उसके भक्त आर्यों ने भारत के भिन्न भिन्न स्थानों में ले जाकर वहाँ-वहाँ उनके स्मारक-स्वरूप मन्दिरों की स्थापना कर दी हो। जो हो, पर उसी दिन से पवित्र भारतवर्ष में पातिव्रत धर्म की प्रतिष्ठा हो गयी। तभी से जो स्त्री पति-प्रेम से विह्वल होकर अपने प्राण छोड़ती है उसे 'सती' कहा जाने लगा है। और आज भारतवर्ष में सैकड़ों ही नहीं बल्कि हजारों अनजान गाँवों तक में पति-भक्ति के लिए आत्म-बलिदान करनेवाली सतियों के चबूतरे और छत्रियाँ लोगों द्वारा पूजे जाते हैं। सती का अनुकरण कर आर्य स्त्रियाँ अभी भी अपने पति की निन्दा सुनना पसन्द नहीं करतीं— फिर पति चाहे जैसा क्यों न हो। फिर सच्ची सहधर्मिणी के प्रति

पुरुष का कैसा गहरा स्नेह होना चाहिये इसका परिचय भोलानाथ शिवजी ने बहुत समय तक अपने कन्धे पर सती की लाश डाले हुए फिर कर दे दिया है। जिस पत्नी के लिये महादेवजी ने इतना अधिक शोक और त्याग किया, उसके सद्गुणों की पूरी कल्पना भी भला हम किस तरह कर सकते हैं? सच तो यह है कि शिव और सती ने दाम्पत्य जीवन के उच्च आदर्श का उदाहरण भारतवासियों के सन्मुख रख दिया है। सती के समान पतिव्रता स्त्री और महादेव के समान पत्नीव्रतधारी पुरुष ही सच पूछो तो, विवाह की पवित्रता का पालन कर सकते हैं। अतः भारत में घरघर शिव और सती जैसे दम्पत्ति हों, यही जगदीश्वर से हमारी प्रार्थना है।

सती पार्वती

पूर्व जन्म में ये दक्ष प्रजापति की कन्या सती थी। पति के अपमान से दुःखी हो, अपना शरीर त्याग करने के पश्चात्, फिर से उन्हीं महादेव से विवाह करने के अभिप्राय से इन्होंने हिमालय के घर में जन्म लिया था। इनकी माता का नाम मेनका था। और जैसा महा-प्रतापी राजा हिमालय था, वैसे ही सद्गुणी पति के अनुरूप—भार्या मेनका थी। पार्वती इस प्रतापी दम्पत्ति की द्वितीय सन्तान थी। यह कन्या भी अपने माता-पिता के ही अनुरूप थी। वाद में जब ये तपस्या के लिए गईं, तब इनका नाम 'उमा' पड़ा। शरीर का वर्ण उज्ज्वल ज्योति के समान होने से इन्हें लोग 'गौरी' तथा पर्वतराज की कन्या होने के कारण 'पार्वती'

कहते हैं। प्रतापी माता-पिता की यह कन्या आज भी जगत् जननी, आदिशक्ति एवं सर्वव्यापिनी के रूप में भारतवर्ष में पूजी जाती है। जिस दिन इनका जन्म हुआ था उस दिन प्राणी एवं वनस्पति सब के सुख-सूर्य का उदय हुआ था। चारों दिशाएँ जगमगा रही थीं और चहुँओर पवित्र वायु फैल रहा था। उदय होने के बाद, शुक्लपक्ष में, चन्द्रमा जैसे दिनोंदिन अपनी नयी कलाओं के साथ ज्योत्स्ना पूर्वक बढ़ता जाता है, उसी प्रकार आयु के साथ-साथ इस कन्या का मनोरम शरीर भी उत्तरोत्तर अपूर्व लावण्य से खिलने लगा। माता-पिता का इनपर अपूर्व स्नेह था। इन्हें देख-देख वे प्रेम से विह्वल हुए जाते थे और इनके लाड़-चाव में कुछ भी बाकी न रखते थे। उनकी यह धारणा थी कि इस बालिका के पैदा होने से ही हमारा घर पवित्र और सुशोभित हुआ है। पार्वती अपनी सखी-सहेलियों के साथ नदी-किनारे जातीं और वहाँ वे सब रेत के घर बनातीं या गेंद और गुड़ियों से परस्पर खेलतीं। पूर्व जन्म में इन्होंने जो विद्या प्राप्त की थी, उसका लेशमात्र भी नाश न होने से विद्यारम्भ का समय आनेपर वह तमाम विद्या अपने आप ही इनमें आ गई। फिर धीरे-धीरे बाल्यकाल समाप्त होकर यौवन का आरम्भ हुआ। और नवयौवन का उदय होते ही इनका शरीर ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर हो गया, जैसे सूर्य की किरणों से कमल खिल उठता है। बोली ऐसी मीठी; कि उनके मधुर स्वर के सामने कोयल की कूक भी कर्कश प्रतीत होती। चाल हरिणी के समान चपल थी। और उनके अपूर्व सौन्दर्य एवं अगाध लावण्य का तो वर्णन ही क्या किया जाय? इस सम्बन्ध में तो, अधिक न लिख कर, यही कहना पर्याप्त होगा कि उपमा-योग्य समस्त पदार्थों को

एकत्र कर देने से जैसा अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न होता है, मानों इसे बताने ही के लिए पार्वती के शरीर में उन सब को यथास्थान लगा कर विधाता ने बड़ी सावधानी के साथ उसे रचा था! देवर्षि नारद एक बार घूमते हुए हिमालय के घर जा पहुँचे। वहाँ पिता के पास इस रूप-गुण-धारी पार्वती पर नज़र पड़ते ही, एकाएक उनके मुँह से निकल पड़ा—'निःस्सन्देह यह कन्या एक-न-एक दिन महादेव की अर्धाङ्गिनी होकर रहेगी।' माता-पिता को देवर्षि की इस बात से बड़ा सन्तोष हुआ। वे ऐसे निश्चिन्त से हो गये कि कन्या के पूर्ण युवती हो जाने पर भी उसके लिए और किसी वर को खोजने की फ़िक्र उन्होंने नहीं की। क्योंकि इस बातको वे भली भांति जानते थे कि उनकी कन्या को महादेव से अधिक योग्य वर और कोई नहीं मिल सकता। परन्तु भले आदमियों का नियम है कि अपनी बात के अस्वीकृत होने के अपमान की आशंका से अपने इच्छित विषयों में भी वे प्रायः उपेक्षा-भाव ही दरसाया करते हैं। तदनुसार पर्वतराज को भी यह शंका थी कि मैं जाकर महादेवजी से कहूँ और वह मेरी प्रार्थना स्वीकार न करें, तो मेरा अपमान होगा। फिर वह यह भी सोचते थे कि कन्या के रूप-गुण की प्रशंसा तो चारों ओर फैल ही गई है; अतः सम्भव है कि महादेवजी स्वयं ही इसके लिए इच्छा प्रकट करें। परन्तु न तो महादेवजी की ही तरफ़ से मँगनी आई, और न पर्वतराज ही उनके पास कन्या को अर्पित करने की इच्छा प्रकट करने गये।

उधर पशुपति महादेव अपनी प्रथम पत्नी दक्ष-कन्या सती के शरीरान्त के बाद, विषय-भोग की वासना का परित्याग कर, एकान्त वास करने लगे थे। यह परम प्रभु शङ्कर मृगचर्म धारण करके,

तपस्या करने के लिए, गङ्गा के प्रवाह से अभिषिक्त, देवदार के वृक्षों से सुशोभित, कस्तूरी की गन्ध से सुगन्धित और किन्नरों के सङ्गीत से ध्वनित हिमालय के निकटवर्त्ती एक प्रदेश में रहने लगे थे। यहाँ एक दूसरी वात का उल्लेख करना भी आवश्यक है। एक समय तारकासुर नामक राक्षस देवताओं को वहुत सताने लगा था। तारकासुर को ब्रह्मा का वरदान था; जिसके कारण देवता लोग उसका वध नहीं कर सकते थे। अतः शक्तिशाली होकर वह देवताओं को स्वर्ग से निकालने लगा और नाना प्रकार से उन्हें तंग करने लगा। तव देवताओं को एक सेनापति की ज़रूरत हुई और वे ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने कहा—"आप लोग तो तारकासुर का वध कर नहीं सकते; हाँ, महादेवजी के जो वालक होगा, वह उसे मार सकेगा। पर कठिनाई तो यह है कि महादेवजी ध्यानावस्थित हैं। मेरी या विष्णु की उनके सामने न तो कुछ चल सकती है, और न हम में इतना साहस ही है कि उनसे विवाह के लिऐ कह सकें। हाँ, हिमालय के घर जो अपूर्व रूपवती कन्या पार्वती है, वह उनके मन को जरूर आकर्षित कर सकती है। अतः आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि महादेव पार्वती के रूप पर मोहित होकर उसके साथ विवाह करलें; जिससे उनके पुत्र उत्पन्न हो, और वह तारकासुर को संहार करके आपके दुःखों का नाश करें।"

पर्वतराज को जव यह मालूम हुआ कि महादेवजी उसके प्रदेश के पास ही तपस्या कर रहे हैं, तो उन्होंने सोचा कि तपस्वी का आदर-सत्कार करना तो राजा का धर्म है। अतः वे उनकी सेवा में प्रस्तुत हुए और अर्घ्य पाद आदि अर्चना करने के उपरान्त अपनी कन्या पार्वती को रात-दिन उनकी सेवा में रहने

के लिए वहीं छोड़ आये। महादेवजी इस बात से अनभिज्ञ न थे कि तपस्या के मार्ग में स्त्री-जाति बाधक है; किन्तु पार्वती की सेवा शुश्रूषा को स्वीकार करने में उन्होंने न केवल कोई आपत्ति ही की, प्रत्युत् उसका अनुमोदन भी किया। है भी ठीक; क्योंकि वस्तुतः धीर पुरुष तो वही हैं कि जो विकारोत्पादक पदार्थों के पास होने पर भी अपने मन में विकार को उत्पन्न न होने दें। अस्तु सुन्दर बालोंवाली नरेन्द्र राजनन्दिनी पार्वती महादेवजी की पूजा के लिए पुष्प, दर्भ (दूब) आदि ला देतीं; हवन की वेदी को होशियारी के साथ लीप-पोत कर साफ कर देतीं तथा और भी कई प्रकार से उनकी तपस्या में सहायता करके उनकी सेवा में लगी रहतीं। पशुपति महादेव की इस प्रकार निरन्तर सेवा करते हुए जब कभी उन्हें थकान मालूम होने लगती, तो उनमें स्थित चन्द्रमा की किरण से वह अपने शरीर को शीतल कर लेतीं। इसी प्रकार अनेक दिन बीत गये, किन्तु महादेवजी की तपस्या भङ्ग होने के कोई लक्षण प्रकट न हुए। उधर देवता लोग प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो उठे। तब उनके राजा इन्द्र ने सभा करके मदन (कामदेव) को बुलाया। देवताओं की तमाम हालत बताकर, इन्द्र ने उससे कहा—"अब तू किसी तरह अपने बाण की सहायता से महादेवजी की समाधि को भङ्ग करके हमारी रक्षा कर।" मदन ने 'जो आज्ञा' कह कर अपनी सहमति प्रकट कर दी और ऋतुराज बसन्त को अपनी मदद के लिए बुलाकर रति के साथ वह महादेवजी के आश्रम में जा पहुँचा। उसका वहाँ पहुँचना था कि एकदम हिमालय में बसन्त छा गया। स्थावर और जङ्गम समस्त पदार्थ मिलन की आशा से पुलकित और प्रफुल्लित हो उठे। आश्रम

के आसपास फूल खिल गये। पशु-पक्षी, अपने-अपने जोड़े बना-कर घूमने लगे। किन्नर-किन्नरियाँ मिलकर गाने लगे। परन्तु महा-देवजी पर इन सबका कुछ भी असर न हुआ; वह तो अपने ध्यान में वैसे ही मग्न रहे; उनके ध्यान में तो ज़रा भी चंचलता दिखाई नहीं दी। सच है, जो लोग जितेन्द्रिय होते हैं वे चाहे जो विघ्न उपस्थत होने पर भी अपने चित्त की एकाग्रता नष्ट नहीं होने देते। अस्तु, इसी समय नन्दी बाहर आया। मुँह पर अंगुली लगा कर इशारे से उसने कामदेव को समझाया, कि 'ख़ामोश! तुम सब होशियार हो जाओ। किसी प्रकार की चपलता मत करो।' नन्दी का इतना कहना था कि वृक्ष निश्चल हो गये, भौंरों ने गूँजना छोड़ दिया, पक्षी शान्त हो गये, हरिणों ने अपनी क्रीड़ा और उछ-लकूद बन्द करदी; मतलब यह कि समस्त बन एकदम शान्त हो गया। परन्तु इसी समय नन्दी की नज़र बचाकर पिछले दर्वाजे से कामदेव चुपचाप महादेवजी के आश्रम में घुसगया। वहाँ जाकर उसने देखा कि महादेवजी व्याघ्रचर्म धारण किये हुए वेदी पर ध्यान-मग्न हैं। उनके इस समय के शान्त किन्तु तेजस्वी स्वरूप को देख कर कन्दर्प भी भय से काँप उठा। घबराहट के मारे उसके हाथ-पाँव ढ़ीले पड़ गये; यहाँ तक कि धनुष-बाण हाथ से गिर पड़े, और उसे कुछ मालूम भी न पड़ा। संयोगवश इसी समय दो सखियों के साथ भूधर राजनन्दिनी पार्वती भी महादेवजी की आरा-धना के लिये वहाँ आ पहुँचीं। वसन्त के रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पों के आभूषणों से वे सज्जित थीं; जिससे उनका अपूर्व लावण्य और भी खिला पड़ता था। अब क्या था, कामदेव भी समझ गया कि अब निराश होने की ज़रूरत नहीं। उसने सोचा कि त्रिलोचन भग-

वान कितने ही जितेन्द्रिय क्यों न हों, फिर भी इस देवी की आड़ में मैं उन पर अपना वाण चला ही लूँगा। फिर जिस समय पार्वती आश्रम में आकर पहुँचीं, उसी समय परमयोगी महादेव अपने अन्तःकरण में परमज्योति परमात्मा का दर्शन करके ध्यान से निवृत्त हो गये। नन्दी ने उन्हें प्रणाम करके कहा—"नगराज नन्दिनी आप की सेवा के लिए आई हुई हैं।" महादेवजी ने सङ्केत करके उन्हें अन्दर बुला लेने को कहा। पार्वतीजी आईं और उनकी दोनों सखियों ने अपने हाथों चुने हुए वसन्त काल में शोभा पानेवाले तमाम फूल-पत्तों को त्रिलोचनशङ्कर के चरणों में चढ़ा दिया। तदोपरान्त पार्वती ने भी उन्हें प्रणाम किया। प्रणाम करने के लिए जब वह झुक रही थीं; तो जूड़े में सुशोभित कर्णिका का पुष्प और हाथ का पल्लव उनकी भौं पर खिसक आये। इसी समय महादेवजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया, कि 'तुझे ऐसा पति प्राप्त होगा जिसने और किसी स्त्री का चिन्तन न किया हो।" पार्वतीजी यह सुन-कर लज्जा से सकुचा गईं और उनका सिर झुक गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने बड़े प्रेम से गूंथी हुई कमल के बीजों की एक मनोहर माला शिवजी को भेंट की।

मदन चुपचाप यह सब देख रहा था। यह प्रसङ्ग उसे अपने अनुकूल मालूम पड़ा। अतः 'सम्मोहन' नाम के अपने अचूक वाण को उसने धनुष पर चढ़ाया और शिवजी पर उसका निशा-ना लगाया। अब क्या था, शिवजी का मन चञ्चल हो उठा। वह कुछ विचित्र भाव से बार-बार पार्वतीजी के होंठ और मुँह को निहारने लगे। यहाँ तक कि उनके मनोभाव को बदला देख पार्वतीजी ने भी सकुचा कर मुँह फेर लिया।

तब शिवजी को होश आया। अपने मन में इस प्रकार एकाएक विकार को उत्पन्न होते देख उन्होंने चित्त की चञ्चलता को रोका और उसका कारण जानने के लिए चारों ओर दृष्टिपात किया। तब उन्होंने देखा कि एक वृक्ष पर भयभीत मदन बैठा हुआ है। वह अपना धनुष ताने हुए बाण छोड़ने की तैयारी ही में था। यह देख कर महादेवजी को इतना क्रोध आया कि उनके तीसरे नेत्र से आग की एक लपट निकल पड़ी और उसने देखते-देखते मदन को जला कर भस्म कर दिया। इसके बाद शिवजी ने सोचा, कि यह सब गड़बड़ पार्वतीजी के यहाँ आने से ही हुई है; अतः या तो मुझे उनका यहाँ आना रोक देना चाहिये, या मुझे स्वयं ही यहाँ से चले जाना चाहिये। अन्त में वह स्वयं ही अपने गणों के साथ एकदम वहाँ से अन्तर्धान हो गये।

पार्वतीजी को शिवजी के इस प्रकार अन्तर्धान हो जाने से बड़ा दुःख हुआ; यहाँ तक कि उन्हें अपनी कुछ होश-हवास भी न रही। उन्हें तो यह विश्वास था कि सेवा शुश्रूषा से इस महापुरुष को प्रसन्न करके मैं इसकी पत्नी बनूंगी; पर अब तो उनकी समस्त आशा व्यर्थ हो गई। अतः उन्हें इतनी निराशा हुई, कि वह बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ीं। जब घर पर ख़बर पहुँची, तो पर्वतराज दौड़े हुए वहाँ आये और समझा-बुझाकर उन्हें घर ले गये।

परन्तु घर पहुँच जानेपर भी पार्वतीजी की दशा में कोई सुधार न हुआ। वह दिनों दिन सूखने लगीं। आखिर लज्जा को छोड़, एक दिन उन्होंने अपनी माता से कहा—"माँ! मैं अपने हृदय में शङ्कर भगवान को वर चुकी हूँ। अतएव उनके दर्शनों बिना

मुझ से एक घड़ी भी नहीं रहा जाता। मैं उन्हें चाहती हूँ, अतः उनकी प्राप्ति के लिए तपस्या करने को किसी वन में जाऊँगी और उन्हीं का ध्यान करूँगी। यह मुझे उम्मीद है कि मेरी भक्ति और प्रेम को देख अन्त में वह मेरी ओर आकर्षित हो जायँगे।" पार्वती की यह वात सुनकर माता ने उन्हें छाती से चिपटा लिया और कहने लगी—"वेटी! वहुत से देवता तो तेरे घर में ही रहते हैं। तू उन्हीं को क्यों नहीं पूजती? तेरे मनोरथ तो उन्हीं की पूजा से पूरे हो जायँगे। भला कहाँ तपस्या, और कहाँ तेरा यह कोमल शरीर! सरसों का फूल भौंरे का भार चाहे सह ले, पर पक्षी का भार तो उससे नहीं ही सहा जा सकता।"

परन्तु दृढ़ संकल्पवाली पार्वती पर माता की सीख क्या असर करती? उन्होंने तो पिता को भी समझा लिया। और अन्त में तपस्या के लिए दोनों ही की सम्मति प्राप्त कर ली।

पिता की आज्ञा मिलनी थी, कि पार्वती ने तुरन्त ही गले से हीरे का वहुमूल्य हार निकाल डाला, गहने तमाम उतार डाले, और वल्कलवस्त्र धारण कर लिये। जूड़े को खोल कर वालों की जटा करली। इसके वाद पर्वत के एक उच्च शिखर पर जाकर वह घोर तप करने लगीं। अव वह नियम पूर्वक स्नान करतीं, हवन करतीं, स्तोत्रादि का पाठ करतीं और रात-दिन शिव के नाम की माला जपतीं। शनैः शनैः तपस्या और भी कठोर होने लगी। कठोर तपस्या के द्वारा पार्वतीजी ने यह सिद्ध कर दिया कि वह कनक-कमल की वनी हुई है। क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो कुसुम से भी अधिक कोमल होने पर भी तपस्या का दुःख वर्दाश्त करने जितनी कठोरता कहाँ से आती?

वैसाख-जेठ के सख्त गर्मी के दिनों में पार्वतीजी अपने चारों तरफ़ धूनी जलाकर बैठतीं। ऊपर से सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से आग को और भी भयङ्कर कर देता। इस प्रकार पार्वतीजी को पंचाग्नि में तपते हुए देखकर बड़े-बड़े तपस्वी भी आश्चर्य से चकित रह जाते।

सावन-भादों की मूसलाधार वर्षा में पार्वतीजी खुले मैदान में चुपचाप एक शिला पर बैठी रहतीं और वर्षा व बिजली की ज़रा भी पर्वाह न करते हुए अपने ध्यान में मग्न रहतीं।

सर्दियों में पहाड़ों पर बर्फ़ जम जाता, ठण्डी हवा चलती, पर पार्वतीजी उस वक्त तालाब के अन्दर बैठकर तपस्या करतीं। यही नहीं, किन्तु यह उग्र तपस्या करते हुए उन्होंने फल-फूल या कन्दमूल आदि किसी चीज़ का भोजन भी नहीं किया; मात्र जल और वायु से ही अपने शरीर का निर्वाह किया।

इस प्रकार तपस्या करते हुए पार्वतीजी को बहुत दिन हो गये। तब, एक दिन, एक ब्रह्मचारी उनके पास आ पहुँचा। ब्रह्मचारी के सिर पर लम्बी जटा थी, हाथ में पलाश की लकड़ी, और बग़ल में मृगछाला। उसे देखते ही ऐसा प्रतीत होता था, मानों ब्रह्मचर्य का अवतार ही हो।

ब्रह्मचारी को देखकर पार्वतीजी उत्साह पूर्वक उठीं और प्रणाम करके कुशल-मङ्गल पूछा। तदोपरान्त अर्घ्य पाद्य आदि से उसका सत्कार किया। क्योंकि वह अतिथि था, और अतिथि सब के लिये गुरु के समान पूज्य होता है; फिर यह तो तपस्वी भी था। अस्तु, ब्रह्मचारी पार्वती के दिये हुए एक कुशासन पर बैठ गया और पार्वती से ऐसी कठोर तपस्या करने का कारण

पूछने लगा। उसने कहा—"तुम्हें रूप, गुण, ऐश्वर्य सुख आदि किसी भी प्रकार की कमी नहीं; फिर अपने यौवन के आरम्भ ही में तुम ऐसा कठोर तप क्यों कर रही हो! कहीं योग्य पति प्राप्त करने के लिए तो तुम ऐसा नहीं कर रही हो? यदि ऐसा हो, तो आज ही इस तपस्या को समाप्त कर दो। क्योंकि तुम सरीखा रत्न ग्राहक को खोजना फिरे, यह तो उल्टी बात है। ग्राहक तो खुद ही रत्न की खोज में फिरता रहता है। भला रत्न ग्राहक के पास क्यों जाय?"

तब पार्वती के सङ्केत और उनकी सखियों के कहने से ब्रह्मचारी को मालूम हुआ कि पति-प्राप्ति ही के लिए यह तपस्या है और जिस भाग्यशाली पुरुष को पार्वती ने पसन्द किया है वह और कोई नहीं महादेव शङ्कर हैं। यह जानकर वह बोला—"अरे! तुम्हारा यह क्या संकल्प है? यह तो बड़े दुःख की बात है। क्योंकि अगर उसके साथ तुम्हारा विवाह हुआ, तो बस यही समझना कि तुम पर आफ़त का पहाड़ टूट पड़ा। तुम्हारा जोड़ा बेमेल होगा। भला कहाँ तो तुम्हारा सुन्दर कोमल शरीर, और कहाँ सर्पों से आच्छादित उसका भयानक स्वरूप! विवाह के दिन से ही तुम्हारे ऊपर आफतें आने लगेंगी। तुम सुन्दर महलों में पली हुई हो, पर वह तुम्हें श्मशान में रक्खेगा। तुम भला उसके किस गुण पर मोहित हो पड़ी हो? उसकी सूरत-शक्ल तो ऐसी है कि देखते ही भय से चिल्ला उठे। कुल का ठिकाना नहीं। धन-दौलत का नाम नहीं। बस, व्याघ्रचर्म की लंगोटी लगाकर रोज़ इधर-उधर घूमता रहता है। भला कहाँ तो तुम सरीखी मङ्गलमयी राजकुमारी, और कहाँ अमङ्गल की साक्षात् मूर्त्ति शिव!

पार्वती ! इस अशुभ और अनुचित विचार को तो तुम छोड़ ही दो ।"

कोई भली स्त्री अपने भावी पति की इस प्रकार बुराई भला कैसे सुन सकती है ? सो, पार्वती को भी ब्रह्मचारी की बातों पर बड़ा क्रोध आया । उससे न रहा गया और वह बोल उठीं—"बस, बस; बहुत हुआ; अब ज्यादा बोलने की जरूरत नहीं है । शिवजी के गुण भला तुम क्या जानो ? साधारण मनुष्यों की समझ में महात्माओं के चरित्र नहीं आया करते; इसीसे वे उन की निन्दा किया करते हैं । भला तुमने यह कहाँ सुना है कि शिवजी निर्धन हैं । तमाम संसार जिनसे ऐश्वर्य पाता है, वह स्वयं निर्धन या भिखारी भला कैसे हो सकते हैं ? सच बात तो यह है कि वह वैभव-ऐश्वर्य को जरा भी महत्व नहीं देते—उनको ही सब कुछ नहीं समझते । धनहीन होते हुए भी समस्त सृष्टि को वह धन प्रदान करते हैं । श्मशान में रहते हुए भी तीनों लोकों का पालन, पोषण, रक्षण और शासन करते हैं । डरावनी सूरत-शक्ल रखते हुए भी अत्यन्त मङ्गलमय और कल्याणकारक हैं । अधिक क्या कहूँ वह विश्वमूर्त्ति हैं । तुमने जितनी बातें कही हैं, सब बिना सोच-विचार के कही हैं । फिर दुनिया उन्हें चाहे जैसा क्यों न समझती हो; किन्तु मेरे मन में तो उनके प्रति जो प्रेम और श्रद्धा-भाव है, वह तो किसी भी तरह कम होने का नहीं । मैं तो जो संकल्प कर चुकी, उसे हर्गिज न छोड़ूंगी । बस, अब तुम चुप रहो ।

"व्यर्थ दोष कहने की इच्छा तुममें यदपि समाई है,
एक बात शङ्कर-संबंधी तूने सत्य सुनाई है ।

ब्रह्मा का भी कारण जिनको बतलाते हैं ज्ञानी,
कैसे जान सकेगा उनका उद्भव तू, हे अज्ञानी ?
तूने जैसा उन्हें सुना है वैसा ही रहने दे नि-शेष,
करना नहीं चाहती हूँ मैं वादविवाद तुझसे विशेष।
मैं उनमें अनुरक्त एक ही सरस भाव से भले प्रकार,
स्वेच्छाचारी जन-कलङ्क का करते नहीं कदापि विचार।"

ब्रह्मचारी पार्वती की इस धमकी पर कुछ कहने ही वाला था कि पार्वतीजी ने उसे रोक दिया और अपनी सखी से कहा—"बहन ! जान पड़ता है कि यह ब्रह्मचारी फिर भी कुछ बोलना चाहता है, क्योंकि उसके होठ हिल रहे हैं। अतः तू उसे मना करदे कि वह और कुछ न बोले। क्योंकि महात्माओं की निन्दा करनेवाला ही पाप का भागी नहीं बनता, किन्तु निन्दा के सुनने वाले भी पाप के भागी बनते हैं।"

पार्वती इतना कहकर जाने लगीं, इतने में आगे बढ़कर ब्रह्मचारी ने उनका हाथ पकड़ लिया। अब तो पार्वती ने एक विचित्र चमत्कार देखा। ब्रह्मचारी तो न जाने कहाँ ग़ायब हो गया, और वहाँ उसके बजाय स्वयं शङ्कर भगवान खड़े दिखाई दिये। पार्वती उन्हें, देखते ही सकुचा गईं। शिवजी बोले—"आज से तुम मुझे अपना अनुचर दास ही समझो। तुम्हारे गुणों पर मैं शुद्ध अन्तःकरण से मुग्ध हूँ। तुम्हारी तपस्या ने मुझे पूरी तरह तुम्हारे हाथों में सौंप दिया है। बस, आज ही से मैं तुम्हारा हूँ।"

संवरण (पसन्द करके विवाह करना) अब भी अन्य देशों तथा हमारे देश में भी कई जगह होते हैं; परन्तु भावी दम्पत्ति में

एक दूसरे के गुणों के प्रति अनन्य पक्षपात, पूर्ण श्रद्धा, एक दूसरे की प्राप्ति के लिए अपार कष्ट-स्वीकार और घोर तपस्या का ऐसा भाव आज कितनों में मिलता है? पति-पत्नी के सम्बन्ध की भावना भारतवर्ष में कितनी ऊँची पहुँची हुई थी, उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। हजारों बल्कि लाखों वर्षों से प्रचलित देवी-देवताओं की ये पुण्य कथाएँ अभी भी भारत के युवक-युवतियों को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करती हैं। अस्तु।

शङ्कर के मुख से अपने मनोरथ के सफल होने की बात सुनकर पार्वतीजी को अपार हर्ष हुआ। वर्षों की तपस्या की थकान पल-मात्र में उतर गई। यह है भी स्वाभाविक कि अपने इच्छित फल के प्राप्त हो जाने पर उसके लिए उठाये हुए कष्टों और दुःखों की बात एकदम विस्मरण होकर शरीर में नवीन स्फूर्त्ति का सञ्चार हो जाता है। कवि कालिदास कहते हैं:—

"हे नतगात्रि! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान,
'मोल ले लिया तूने तप से', यों जब बोले शम्भु-सुजान।
तत्क्षण हुआ शैल तनया के प्रवल परिश्रम का परिहार,
क्लेश समूल भूल जाते हैं फल मिलने पर मनोनुसार॥"

अस्तु, पार्वती के दृढ़ प्रेम, प्रवल निष्ठा एवं निरन्तर तपस्या के प्रभाव से शङ्कर ने वैराग्य का परित्याग कर फिर से गृहस्थाश्रमी होने का निश्चय कर लिया।

पार्वती को जब शिवजी का निश्चय मालूम हो गया तो अपनी सखी के द्वारा उन्होंने उनसे कहलाया, कि "मेरे लिए अगर आप मेरे पिता से प्रस्ताव करें तो उत्तम हो; क्योंकि कन्या-दान पिता के द्वारा ही होना चाहिये।" शिवजी ने इस बात को स्वीकार

कर लिया और वशिष्ठ अङ्गिरा आदि सात परम तेजस्वी ऋषियों को इसके लिये बुलाया। थोड़ी ही देर में ये सातों ऋषि आ पहुँचे और अपने साथ वशिष्ठजी की परम विदुषी पत्नी अरुन्धतीदेवी को भी ले आये। शिवजी ने सप्त ऋषियों का तो आदर-सत्कार किया ही, किन्तु देवी अरुन्धती का आदर-सत्कार भी कुछ उनसे कम न किया। यह नहीं कि स्त्री होने के कारण उनके आदर-सत्कार में ज़रा भी कमी की गई हो। ऐसे विचार तो अज्ञानियों में ही होते हैं कि अमुक पुरुष है इसलिये इसका अधिक आदर होना चाहिए, और अमुक स्त्री है इसलिये इसका कम। ज्ञानवान ऐसे भेदभाव नहीं रखते। वे तो केवल शुद्ध चरित्र का सम्मान करते हैं। अस्तु। अरुन्धती को देखकर, शिव जी की विवाह करने की इच्छा और भी दृढ़ हो गई। अब उन्हें यह मालूम पड़ गया कि एक सुशील विदुषी एवं व्यवहार-कुशल पत्नी पति की सहधर्मिणी होकर नाना प्रकार से उसके लिए कितनी उपयोगी हो जाती है। यह भी वह समझ गये कि धार्मिक क्रियाओं का मूल कारण पत्नी ही है और पतिव्रता पत्नी के मिलने से धर्मनिष्ठा उत्तमता के साथ हो सकती है।

पार्वती के साथ विवाह करने में भी शिवजी का उद्देश्य विषय-भोग नहीं था किन्तु धार्मिक संस्कारों एवं कर्मों को रीत्या-नुसार कर सकना ही था। उन्होंने ऋषियों से अपना विचार प्रकट किया और कहा, कि आप हिमालय के पास जाकर मेरे लिए उनकी कन्या का प्रस्ताव कीजिये। देवी अरुन्धती आपके साथ हैं ही, इससे यह काम बड़ी सुगमता से हो जायगा। क्योंकि ऐसी बातों में स्त्रियों की बुद्धि बड़ी तेज़ हुआ करती है!

अस्तु, महादेव की इच्छानुसार सप्तर्षि लोग हिमालय की राजधानी औषधिप्रस्थनगर में पहुँचे। ऋषियों और देवी अरुन्धती का हिमालयराज ने यथोचित आदर-सत्कार किया, और उनसे अपने देश को पवित्र करने का कारण पूछा। उत्तर में, योग्य शब्दों में शिवजी का परिचय देकर, ऋषियों ने कहा—"बड़े-बड़े देवता जिनके चरणों में सिर नवाते हैं, उनके साथ यदि आप अपनी कन्या का विवाह करदें, तो आप सहज ही में जगद्-गुरु शङ्कर के भी गुरु बन जायँगे। आपके सौभाग्य का पार न रहेगा।"

ऋषि लोग जिस समय हिमालय से बातें कर रहे थे, पार्वती चुपचाप पिता के पास खड़ी थीं। हर्ष के मारे उनका कलेजा उछला पड़ता था; पर शर्म के मारे, कमल के पत्तों को गिनने के बहाने, वह उसे छिपाने का प्रयत्न कर रही थीं।

ऋषियों की बातें सुनकर हिमालय ने अपनी पत्नी मेनका की राय पूछी। मेनका पतिव्रता थी, और पतिव्रता स्त्रियों का यह स्वभाव ही ठहरा कि वे अपने पति के विरुद्ध कभी कोई बात नहीं करतीं। वे तो पति के मन की बात जान कर, सदैव उनकी इच्छा-नुसार ही करती हैं अतः मेनका ने भी पति की इच्छानुसार ही कहा—"बड़ी अच्छी बात है। शङ्कर भगवान सरीखा वर भला और कहाँ मिलेगा? इसलिये मेरी तो यही सलाह है कि इस सम्बन्ध को करने में हमें ज़रा भी विलम्ब न करना चाहिये।" इस प्रकार जब पत्नी की भी सम्मति मिल गई तो उन्होंने अपनी पुत्री पार्वती का हाथ पकड़ कर कहा—"बेटी! यहाँ आओ। विश्वात्मा शिव ने मुझ से तुम्हारे लिए प्रार्थना की है। मंगनी के लिए ये लोकमान्य और परमपूज्य ऋषि लोग आये हैं। भला

मेरे लिये इससे अधिक सौभाग्य और क्या हो सकता है ?"
तदोपरान्त सप्तर्षियों की ओर लक्ष्य कर उन्होंने कहा—"यह कन्या आपको नमस्कार करती है। आज ही से आप इसे त्रिलोचन शिव की पत्नी समझिये।"

इस पर ऋषियों ने पर्वतराज को धन्यवाद दिया, और पार्वती को अनेक आशीर्वाद। देवी अरुन्धती ने भी उनके मस्तक पर हाथ फेरकर उन्हें सस्नेह आशीर्वाद दिया।

इसके बाद, ऋषियों की सम्मति से, उसके बाद का चौथा दिन विवाह के लिए निश्चित किया गया। यह शुभ दिन भी यथा समय आ पहुँचा और शुभ मुहूर्त्त में पुरोहितों व ऋषियों के समक्ष हिमालय ने शिवजी को अपनी लाडली बेटी पार्वती का कन्यादान कर दिया। ब्रह्मा आदि देवता भी इस पवित्र विवाह में मौजूद थे। ब्रह्मा ने पार्वती को वीरमाता होने का आशीर्वाद दिया और देवताओं की प्रार्थना पर शिवजी ने मदन के शाप का निवारण कर उसे फिर से जीवित कर दिया।

यथा समय वर-कन्या की विदा हुई, और पार्वतीजी के साथ शिवजी कैलाशपुरी जा पहुँचे। पार्वतीजी के पहुँचने से शिवजी के अन्धेरे घर में रूप की अपूर्व ज्योति झलक उठी। यही नहीं, प्रत्युत् पार्वतीजी जैसी सुशिक्षित, संस्कृत एवं विविध कला-निपुण स्त्री के आगमन से शिवजी का यह प्रेतस्थान सचमुच स्वर्गधाम बन गया। आश्रम के चारों तरफ़ उन्होंने सुगन्धित फूलों की क्यारियाँ लगा दीं; जिससे वायु के साथ आनेवाली मीठी-मीठी खुशबू से तमाम आश्रम सुगन्धित हो उठा। पर्णकुटी के आस-पास छाई हुई बेलों की रचना कुछ विचित्र ही शोभा देने लगी।

जहाँ नज़र डालो, सौन्दर्य ही सौन्दर्य दिखाई देने लगा। कहीं भौंरे गूँज रहे हैं, तो कहीं पक्षी गण अपने मधुर राग से कैलाश में कलरव मचा रहे हैं; मानों वे सब कैलाश की इस सुन्दर रचना के लिए पार्वती को धन्यवाद ही दे रहे हों!

पार्वतीजी के आगमन से शिवजी को जो आनन्द हुआ, उसका तो कहना ही क्या! जब दो अद्भुत आत्माओं का मिलन होता है, तब चित्त में कुछ विचित्र प्रकार के आनन्द का होना स्वाभाविक ही है। अस्तु, पार्वती ने पति के विशाल हृदय में हृदयेश्वरी का स्थान पाया। दोनों ही नम्र, सुशील एवं शुद्ध-हृदय थे। दोनों ही के हृदयों में ईश्वर के अनुराग, प्रेम और वैराग्य की सरिता बहती थी—दोनों ही शुद्ध आत्माएँ संसार की क्षणभंगुर वासना को तुच्छ मानकर यथाशक्ति अपने कर्त्तव्य का पालन करती थीं।

शिवजी को जंगल में घूमने का बड़ा शौक़ था। इधर हिमालय जैसे सुन्दर प्रदेश में पली होने के कारण पार्वतीजी भी प्रकृतिदेवी की उपासक थीं। अतएव विवाह होने पर पति-पत्नी ने कितना ही समय तो भिन्न-भिन्न स्थानों के भ्रमण में ही व्यतीत कर दिया। किसी दिन सुमेरु पर्वत के रम्य शिखर पर तो किसी दिन मन्दराचल की गुफ़ाओं में, किसी दिन मलयाचल की उपत्यकाओं में तो किसी दिन नन्दन वन के कुञ्जों में, और किसी दिन गन्धमादन पर्वत के घोर वन में, इस प्रकार विहार करती हुई यह देव-दम्पत्ति सुखपूर्वक अपना काल-क्षेप करने लगी। कुछ दिनबाद पार्वतीजी गर्भवती हुईं, और यथासमय उन्होंने एक सुन्दर बालक को जन्म दिया; बालक ऐसा सुन्दर था कि देखते नज़र लगे। समुद्र

में जैसे रत्न ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार पार्वतीजी का यह पुत्र भी देवताओं में रत्न के समान ही हुआ। देवताओं की अभिलाषा इसके जन्म से फलीभूत हो गई। इसके द्वारा अपने शत्रुओं का नाश होने की आशा से देवताओं ने इस पर पुष्प-वृष्टि की। माता-पिता ने बालक का नाम 'कार्त्तिकेय' रक्खा। बालक बड़ा सुलक्षणों का निकला। किशोरावस्था में पहुँचने के पूर्व ही उसने शस्त्र और शास्त्र दोनों में प्रवीणता प्राप्त करली। लोग इतनी छोटी उम्र में उसकी विलक्षण वीरता तथा विद्वत्ता आदि गुण देख कर चकित रह जाते थे। पर सच तो यह है कि सुयोग्य माता-पिता की सन्तान ऐसी ही बलवान, कर्मयोगी धर्मपरायण और गुणवान हुआ करती है। अस्तु, धीरे धीरे किशोरावस्था भी समाप्त हो गई और युवावस्था आ गई। तब देवताओं ने आकर शिवजी से प्रार्थना की, कि "महाराज ! आपके पुत्र के द्वारा ही हम लोग तारकासुर के अत्याचारों से त्राण पा सकते हैं, अतः आप अपने पुत्र को आज्ञा दीजिये, कि वह हमारे सेनापति बनकर राक्षसों का संहार करें।" यह सुनकर शिवजी ने अपने पुत्र को रणक्षेत्र में जाने को कहा। तदनुसार कुमार कार्त्तिकेय रण में जाने के लिये विदा माँगने माता के पास गये। वीरमाता पार्वती ने उन्हें गोद में लेकर प्यार से उनका सिर सूंघते हुए कहा—"बेटा जाओ ! मैं बड़ी ख़ुशी के साथ तुम्हें रण में जाने की इजाज़त देती हूँ। भगवान करें, तुम रण में शत्रुओं को पराजित करके मेरा 'वीरमाता' नाम सार्थक करो !" जिस समय पार्वतीजी यह शब्द कह रही थीं उस समय उनके मुख पर अपूर्व उत्साह, अलौकिक तेज, अद्भुत आनन्द एवं प्रबल आत्मगौरव के भाव स्पष्ट

झलक रहे थे; जैसे कि अपने वालक को धर्मयुद्ध में अथवा देश या जाति-सेवा के लिए भेजते समय किसी भी वीरमाता के चेहरे पर झलका करते हैं। अस्तु।

कार्त्तिकेय के नेतृत्व में तारकासुर और उसकी राक्षस-सेना के साथ देवताओं का भयङ्कर युद्ध हुआ। दोनों ओर से खूब वल और कौशल प्रकट किया गया। परन्तु अन्त में कुमार कार्त्तिकेय ने तारकासुर को मार डाला और देवताओं की विजय हुई। तव देवताओं द्वारा खूब सम्मान प्राप्त कर कार्त्तिकेय घर लौटे। उस वक्त माता-पिता को इतना हर्ष हुआ कि जिसकी कोई हद नहीं। पार्वतीजी ने आज अपने को सच्चे अर्थों में पुत्रवती समझा। भला जो पुत्र वीरता, कर्मण्यता और लोकहित द्वारा माता-पिता की यश-वृद्धि न करे, वह किस अर्थ का? पुत्र तो वही जो अपने सद्गुणों से माता-पिता के मुख को उज्ज्वल करे।

नारी-जीवन का पूर्ण विकास मातृपद की प्राप्ति के उपरान्त ही होता है। सो, कार्त्तिकेय की उत्पत्ति के वाद पार्वतीजी भी जगत्-माता कहलाने के योग्य हो गईं। अव सारा संसार उन्हें पुत्रवत् दीखने लगा और पति अथवा माता-पिता के संकुचित दायरे से वढ़कर सृष्टि-मात्र पर उनको प्रेम हो गया। संसार-भर में उनकी करुणा और सेवा-रूपी गङ्गा वहने लगी। पति के साथ जव वह घूमने निकलतीं, तो अनेक दुःखी-दरिद्रों के कष्ट निवारण करतीं। प्रवास में किसी दुःखी का आर्त्तस्वर सुनाई पड़ा नहीं कि ठहर जातीं और कहतीं—"हे भगवान्! कोई दुःखिया रो रहा है। वहाँ चलकर देखें कि उस पर क्या मुसीवत है?" शिवजी कहते—"ऐसे दुःखिये तो संसार में अनेक

पड़े हैं; तुम-किस किस के कष्टों का निवारण करोगी?" पार्वतीजी जवाब देतीं, कि "यह तो ठीक है; पर प्रिय! दया, करुणा और विश्व सेवा भी तो मनुष्य के स्वाभाविक गुण ही हैं न?" तब पति-पत्नी दुःखी मनुष्य के पास जाते, उसके हाल-चाल मालूम करते और उसकी यथाशक्ति मदद करते। आज पार्वतीजी को हुए अनेक युग बीत गये; मगर उनकी उदारता, दया, विद्वत्ता और नीति-संबंधी बातें हिन्दू बहनों में आज भी बड़ी श्रद्धा के साथ सुनी जाती हैं; और उन्हें सुन सुन कर उनसे वे अपने कर्त्तव्य-कर्मों की शिक्षा प्राप्त करती हैं।

पार्वतीजी की जीवनी लिखने बैठें, तो एक मोटा पोथा तैयार हो सकता है। क्योंकि, यदि प्राचीन ग्रन्थों पर विश्वास रक्खा जाय तो, कहना होगा कि, वह परम विदुषी भी थीं। शिवजी के समाधि से उठने के बाद, पति-पत्नी में विद्या-सम्बन्धी खूब चर्चा हुआ करती थी। पार्वतीजी प्रश्न करतीं, और शिवजी नम्रता एवं स्नेह के साथ उत्तर देते थे। और यह तमाम शास्त्र-चर्चा अधिकतर वैराग्य एवं मोक्ष के विषय में हुआ करती थी। तदोपरान्त सांसारिक विषयों पर भी अनेक बातें होती थीं। पुराणों में यह वार्त्ता-विनोद पढ़कर बड़ा आनन्द मिलता है। अस्तु।

पार्वतीजी के दूसरे पुत्र 'गणेश' थे जो तमाम शुभ कार्यों में और सब देवताओं से पहले पूजे जाते हैं।

पार्वतीजी सङ्गीत-शास्त्र में भी बड़ी निपुण थीं। सङ्गीत के ताण्डव और लव्य नामक जो दो प्रकार हैं उनमें ताण्डव तो शिवजी का चलाया हुआ है और गुजरात में 'गरबे' का (गोल

घेरा बनाकर नाचते हुए गाना) जो प्रकार प्रचलित है उसे पार्वती जी ने चलाया बताते हैं ।

पार्वतीजी में स्त्रियों को शोभा देनेवाले गुण तो थे ही; किन्तु उनके अलावा देश-व्यवस्था का कार्य भी वह भली भाँति जानती थीं। युद्ध-कला में भी वह विशेष दक्ष थीं। जगदम्बा, महामाया; शक्ति आदि नामों से पुराणों में इनके पराक्रम की कहानियाँ वर्णित हैं, और इनके इस वीर स्वरूप को आज भी लाखों हिन्दू श्रद्धा एवं भक्ति के साथ पूजते हैं। स्त्रियों में कोमल पुष्प से भी अधिक सुकुमारता होने पर भी अन्याय-अत्यांचार का मुक़ाबिला करने का प्रसङ्ग आ पड़ने पर, वे कितनी वीरता, साहस और प्रचण्डता दिखा सकती हैं, इन कहानियों पर से इस बात का अन्दाज़ा सहज ही में लग सकता है। देश-रक्षा में स्त्री और पुरुष दोनों का काम वह स्वयं करती थीं।

एक बार शुम्भ और निशुम्भ नाम के राक्षसों ने अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से आकर आर्यावर्त्त (भारत) पर चढ़ाई की। उन्होंने आर्यों के खेतों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, गाँव के गाँव उजाड़ दिये और नगरवासियों पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे। आर्यों ने कई बार उनका सामना किया, पर उन्हें हरा न सके। एक-एक करके आर्यों के तमाम योद्धा लड़ाई में मारे गये। शूर-वीरों के हृदय काँपने लगे। शेष आर्यों ने जब देखा कि हमारे सजातीय वीर तो सब शत्रुओं द्वारा मारे गये और अब हमारे पास शत्रु से लड़ने-योग्य कोई योद्धा नहीं है, तो वे इधर-उधर भाग गये! फिर दो-चार दिन बाद इकट्ठे होकर उन्होंने राजर्षि दधीचि को युद्ध के लिए आमंत्रित करने का निश्चय किया। दधीचि ऋषि

वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुके थे, उनकी कमर टेढ़ी पड़ गई थी; मगर आख़िर को वह थे वीरः तब भला देश की रक्षार्थ युद्ध करने से वह कैसे आनाकानी करते ? अतः आमंत्रण पाते ही, तपोवन का त्याग कर, देश-रक्षा के लिए वह रणक्षेत्र में आ डटे। उनका वहाँ आना था कि क्षत्रियों में भी जीवन आ गया। फिर से वे सब इनके झण्डे के नीचे आ इकट्ठे हुए और संग्राम करने को कटिबद्ध हो गये। परन्तु वृद्धावस्था तो थी ही; अतः दधीचि मारे गये, और आर्यों को फिर से पराजय ही मिली।

अब क्षत्रियों में कोई ऐसा प्रतापी और शूरवीर राजा न रहा जिसे नेतृत्व सौंपा जाता। अन्त में सबों ने मिलकर खूब विचार के बाद निश्चय किया कि देश की रक्षा के लिए शिवजी को आमंत्रित किया जाय। तदनुसार कुछ क्षत्रिय पुत्र कैलाश पहुँचे। पार्वतीजी ने उनका यथोचित आदर-सत्कार किया। जब उन्होंने देश-रक्षा का सन्देशा कहा, तो पार्वतीजी बोलीं—"शिवजी तो समाधि में हैं। उनको जगाने की मुझे इजाज़त नहीं है। वह समाधि से कब उठेंगे, यह भी मैं नहीं जानती। और आप कहते हैं कि हमारी सेना में अब कोई नेता नहीं रहा। समस्या विकट है। समय सचमुच बड़ा नाजुक आ पहुँचा है, तो चलिये; मैं स्वयं आपके साथ चल कर शत्रुओं को परास्त करूँगी।"

पार्वतीजी की बात सुनकर वीर युवाओं का हृदय भर आया। 'भला शक्तिशाली शत्रु के साथ यह कोमलाङ्गी स्त्री क्या युद्ध करेगी ?'—इन्हीं विचारों में कुछ देर तक वे मौन रहे। पार्वती जी उनके मन की बात ताड़ गईं और बोलीं—"क्या आप यह सोचते हैं कि स्त्रियाँ निर्बल होती हैं, वे युद्ध करना नहीं जानतीं

पर यह आपकी भारी भूल है—अज्ञान है। भला जिसके उदर से आप पैदा हुए हैं, जिसके रज एवं मांसादि से आपका शरीर बना है, जिसके दूध से आपके शरीर का पोषण हुआ है, वह स्त्री नहीं तो कौन है? सच तो यह है कि संसार में आप जितना प्रकाश पाते हैं, उसका कारण स्त्री ही है। अतएव इन भ्रान्त विचारों को आप सर्वथा अपने मन से निकाल डालिये। मैं दो कारणों से आपके साथ चलने को तैयार हुई हूँ। एक तो इसलिये कि मेरे स्वामी (महादेवजी) इस समय समाधि में हैं, दूसरे यह बताने के लिये कि रणक्षेत्र में मौजूद रहकर स्त्री एक-एक योद्धा से दस-दस योद्धा का काम करा सकती है। एक माता की आज्ञा से सैनिकों के हृदय में जितना उत्साह पैदा होगा, उतना और किसी भी तरह नहीं। आप लोग मेरी बात पर अविश्वास न कीजिये। मुझे साथ ले चलिये; फिर आप स्वयं देखेंगे कि मैं शत्रु-सैन्य को कैसी तितर-बितर किये डालती हूँ।"

वीर युवकों ने पार्वतीजी की तमाम बातों को बड़ी सावधानी के साथ सुना। अन्त में विनय-पूर्वक बोले—"अच्छा माताजी! आप चलने की कृपा करती हैं, तो बड़ी अच्छी बात है पर चलिये जल्दी ही। अब विलम्ब करने की जरूरत नहीं है। क्योंकि शत्रुओं ने बड़ी निर्दयता और निष्ठुरता के साथ हमारा पराजय किया है। वे खेतों, जंगलों व गाँवों में आग लगाते हैं, और हमारे ग़रीब देश-बन्धु घर-बार और धन-दौलत से रहित होकर दुःख और कष्ट पा रहे हैं।"

युवकों की यह बात सुनते ही पार्वतीजी तुरन्त उठ खड़ी हुईं। योगियों के वस्त्र उन्होंने उतार दिये, और युद्ध का राजसी वेष

धारण कर लिया। इसके बाद कैलाश के दस वीरों को साथ में लेकर, एक वीर सेनापति की नाईं वह रणभूमि को रवाना हो गई।

प्रभातकाल का समय था। सुगन्धित पवन बह रहा था। इसी समय राक्षस-सैन्य के पड़ाव के सामने की रम्य वाटिका में एक कोमलाङ्गनी नवयौवना स्त्री फूल बीनती हुई दिखाई दी। उसकी प्राकृतिक कान्ति को देख लोग हैरान थे। उसका शरीर ऐसा सुन्दर था, मानों परमात्मा ने अपनी सारी कारीगरी उसी में खर्च कर दी हो। उसके सौन्दर्य के सामने आँखें मिची जाती थीं। बहुतों के मन में यह खलबलाहट मच रही थी कि यह ऐसी कौन मृग-नयनी है जो शत्रु का जरा भी भय न करते हुए प्रभात के समय इस पुष्पवाटिका में फूल बीन रही है! किन्तु उस तेजस्वी स्त्री के सामने जाकर बातचीत करने का साहस किसी को न होता था। होते होते शुम्भ-निशुम्भ राक्षसों के कानों में भी यह बात पहुँची। उन्होंने जाँच के लिए अपने दो-चार आदमियों को वहाँ भेजा। उन्होंने वाटिका में आकर उससे पूछा—"सुन्दरी तुम कौन हो? महा-राज शुम्भ तुम्हें देखना चाहते हैं। उन्होंने सम्मान पूर्वक तुम्हें वहाँ ले चलने के लिए कहा है। इसीलिये हम यहाँ आये हैं।" पार्वतीजी (उस रमणी) ने हँसकर कहा—"मुझे लड़ाई में जो हरादे, मैं तो उसी की हूँ। अतः जो मुझे चाहता हो, वह आ जाय और मुझसे युद्ध करे।" यह बात शुम्भ तक पहुँचा दी गई। उसने यह सुनकर एक बलवान आदमी को भेजा, कि वह उसे जीतकर ले आवे। उसे यह समझा दिया गया, कि 'देखो, सुन्दरी का वध न करना; जहाँ तक हो, उसे जिन्दा ही बान्ध लाना।' शुम्भ की आज्ञानुसार वह वीर रणक्षेत्र में पहुँचा और देवी को

शस्त्र चलाने के लिए प्रेरित किया। परन्तु देवी ने उसे चेताकर कहा—'देखो, मेरा वार खाली नहीं जाता; इसलिये सम्हल जाओ।' और कमर से जगमगाती हुई तलवार निकाल कर बात की बात में उसका सिर धूल में लौटा दिया। तब दूसरे शूरवीर आये, और उनकी भी यही गति हुई। जब यह खबर शुम्भ के पास पहुँची, तो इस तरुण स्त्री की वीरता और अद्भुत पराक्रम पर उसे भी बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने ख़ास कुटुम्बियों को भेजा, पर देवी पार्वती ने उन्हें भी तलवार के घाट उतार दिया। यह देख प्रत्येक मनुष्य भय और आश्चर्य से एक दूसरे का मुँह ताकने लगा और सोचने लगा कि यह कैसी स्त्री है कि देखते-देखते रणदेवी का खप्पर भर देती है! शुम्भ का हृदय क्रोध से जलने लगा। उसने अपने सेनापति रक्तबीज को हुक्म दिया, कि "अब तू रणभूमि में जा; और या तो उसे मार डाल, या जिन्दा ही पकड़ कर मेरे सामने हाज़िर कर। मैं ज़रा देखूँ तो सही कि वह कौन स्त्री है जिसका सिर ऐसा फिर गया है!" राजा का हुक्म मिलना था कि रक्तबीज भी वहाँ जा पहुँचा। अपने समय के योद्धाओं में यह अद्वितीय माना जाता था। राक्षस लोग इसी के पराक्रम से बारम्बार आर्य सेना को पराजित करते थे। रणभूमि में आकर कुछ देर तक तो वह देवी के मुखारविन्द की कान्ति और सूर्य-समान उनके तेज को देखता रहा; पश्चात् तलवार निकाली, और दोनों ओर से खूब वार होने लगे। रक्त-बीज ने अपने जीवन-भर में किसी योद्धा को ऐसी कुशलता से लड़ते न देखा था। देवी की शस्त्र-विद्या ने उसे चकित कर दिया। देवी का वध करने का उसने बहुतेरा प्रयत्न किया, पर हर

वार उसे असफलता ही मिली। अन्त में देवी ने गर्ज कर कहा—"दुष्ट ! अब सावधान हो जा। देखना अब मेरा वार निष्फल न जायगा।" रक्त-बीज ने छल-कपट से अपने को बचाने का प्रयत्न किया, पर देवी ने एकदम तलवार का ऐसा वार किया कि गेंद की तरह उछल कर उसका मस्तक नीचे जा ही पड़ा।

शुम्भ को जब अपने सेनापति के मारे जाने की खबर मिली, तो वह बेहोश होकर जमीन पर गिर पड़ा और कहने लगा—"हाय ! जिस रक्तबीज के नाम से समर विजयी शूरवीरों का हृदय भी काँप उठता था, आज एक स्त्री ने उसका शरीर काट कर रणदेवी की अर्पण कर दिया !" ऐसे समर-विजयी वीर के मारे जाने का शुम्भ को इतना शोक हुआ कि जिसका ठिकाना न रहा। गुस्से के मारे उसकी आँखें लाल लाल हो गईं और वह शिर-त्राण तथा तलवार धारण कर पार्वतीजी से लड़ने के लिए तत्काल वाटिका में जा पहुँचा। पार्वतीजी तो इस दुष्ट का इन्तज़ार ही कर रही थीं। शुम्भ ने जाते ही कहा—"तैंने मेरे बड़े बड़े योद्धाओं को मार डाला है; अब ज़रा मेरे सामने आ, और अपना पराक्रम बता।" देवी ने हँसकर कहा—"अरे दुष्ट ! इतनी जल्दी क्यों करता है ? देख, अभी देखते-देखते तुझे भी मार कर तेरे योद्धाओं से मिलने के लिए तुझे यमपुरी पहुँचाए देती हूँ।" इसके बाद दोनों गुस्से में आ गये और खनाखन तलवारें चलने लगीं। चारों ओर आर्य लोग खड़े हुए इस विचित्र संग्राम की अद्भुत लीला को देख रहे थे। हथियार ऐसी सरसता के साथ चल रहे थे, मानों एक-एक वार शस्त्र-विद्या के एक एक सूत्र की व्याख्या ही कर रहा हो। क्रोधावेश से पार्वतीजी के नेत्र रक्तवर्ण हो

गये। उन्होंने गरज कर कहा—"अरे दुष्ट! अब चेत। यदि तू मेरे वार से अब के बच सके, तो बच !" बस इतना कहना था कि तुरन्त ही उनकी तलवार शुम्भ के मस्तक पर पड़ी । पर शुम्भ के सिर पर लोहे का टोप था; इसलिए बजाय इसके कि उसका सिर कटे, तलवार के ही दो टुकड़े हो गये । तत्कालीन धर्म-युद्ध के नियमानुसार ऐसे मौक़े पर पार्वतीजी को दूसरी तलवार मिलनी चाहिये थी; पर क्रोध के कारण अन्यायी शुम्भ ने उन्हें दूसरा शस्त्र धारण करने तक का मौका नहीं दिया, और उनकी चुटिया पकड़ कर उन्हें घसीटने लगा । तब पार्वतीजी के मुँह से 'शिव !' 'प्राणनाथ शिव !' ये शब्द निकल पड़े । एकाएक शिवजी का तेज त्रिशूल शुम्भ की छाती को छेदता हुआ आरपार निकल गया । और तुरन्त ही वह ज़मीन पर गिरकर छटपटाने लगा । पार्वती जी ने शिवजी के चरण कमल पकड़ लिये और उनके दल के तरुण वीरों ने हर्षित होकर अमृत ध्वनि से जयनाद शुरू कर दिया—'जय ! पार्वती माता की जय !!' 'शिवजी की जय !!!'

यहाँ यह बतला देना भी आवश्यक है कि ऐन मौक़े पर शिवजी वहाँ कैसे आ पहुँचे । बात असल में यह हुई कि जिस समय पार्वतीजी कैलाश छोड़कर आईं उसके थोड़ी देर बाद शिवजी समाधि से उठे । फिर जब सेवकों से उन्हें पार्वतीजी के जाने का कारण मालूम हुआ, तो उन्होंने सोचा कि पार्वती के उत्साह का परिणाम कहीं हानिकर न हो, इसके लिए मुझे भी वहाँ जाना चाहिये । और यह सोचकर वे तुरन्त ही वहाँ से चल दिये; और जिस समय शुम्भ बाल पकड़ कर पार्वतीजी को घसीट रहा था, ठीक उसी समय ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह भी वहाँ जा पहुँचे थे ।

पार्वती माता ! तुम धन्य हो। तुमने अपने जीवन से यह साबित कर दिया है कि स्त्रियाँ न केवल अपने घर-बार की ही रक्षा कर सकती हैं, प्रत्युत् काम पड़ने पर देश, जाति और कुल तथा धर्म की भी वे रक्षक हो सकती हैं।

स्त्री-धर्म-विषयक पार्वतीजी के कुछ और विचारों को बतला कर हम इस चरित्र को समाप्त करेंगे।

एक बार की बात है कि महादेवजी ने पार्वतीजी से उनके स्त्री-धर्म-संबंधी विचार पूछे। उसपर पार्वतीजी ने जो विचार प्रकट किये वे इस प्रकार हैं:—

"स्त्रियों के धर्म के विषय में मैं तो सिर्फ यही जानती हूँ कि माता-पिता आदि सम्बन्धियों की आज्ञा और सम्मति के अनुसार योग्य पात्र के साथ विवाह करना स्त्री का मुख्य कर्त्तव्य है।"

"पति-भक्ति ही स्त्रियों का सब से मुख्य धर्म है। यही उनकी तपस्या है, और यही उनका स्वर्ग; पति-सेवा से बढ़कर स्त्री के लिए और कोई धर्म या व्रत नहीं।"

"पति ही स्त्री का परम देवता है, परम बन्धु है, और परम गति है। स्त्रियों के लिए पति-प्रेम और पति का आदर स्वर्ग से भी अधिक सुख देने वाला है। जो स्त्री ऐसा नहीं मानती वह महा नीच है।"

"हे नाथ ! अगर पति प्रसन्न न रहे, तो पतिव्रता स्त्री को स्वर्ग-प्राप्ति पर भी सुख नहीं मिलता। स्वामी की सेवा छोड़कर वह स्वर्ग में भी नहीं जाना चाहती।"

"पति चाहे कितना ही ग़रीब हो, रोगी हो, वृद्ध हो, कुरूप हो, पापी हो, अथवा चाहे जैसा हो, तथापि स्त्री के लिए तो वह

देवता ही है। स्त्री का कर्त्तव्य है कि पति जो कुछ आज्ञा दे, उसका सदैव प्रसन्नता के साथ पालन करें।"

"हे स्वामी! जो स्त्रियाँ सदाचारिणी, स्नेहमयी होती हैं वे अपने पति को कठोर वचन कभी नहीं कहतीं। उनके साथ सदैव अच्छा व्यवहार रखती हैं। उनका मुँह देखने में स्वर्ग-समान सुख अनुभव करती हैं। उनकी सेवा करने में अपने आपको भूल जाती हैं। जिन्हें स्त्री-धर्म का पूर्ण ज्ञान है और उसका पालन करने को जो सदा तत्पर रहती हैं, पति-धर्म ही जिनका मुख्य धर्म है, पातिव्रत्य ही जिनका मुख्य व्रत है, पति के सुख में ही जिनका सुख है, पति के दुःख में ही जिनका दुःख है, जिनके लिए पति देवता है, और जिनके लिए पति ही सर्वस्व है, वे ही स्त्रियाँ पतिव्रता हैं; वे ही सती हैं। ऐसी स्त्रियों से मैं सदैव प्रसन्न रहती हूँ।

"हे नाथ! जो स्त्री पति की सेवा करने में और उसके अधीन रहने में सब से अधिक आनन्द मानती है; जो स्त्री स्वामी के कुछ कड़े शब्द कहने या क्रोध करने पर भी उसके बदले में कुछ न कह कर उल्टा पति को प्रसन्न करने ही का प्रयत्न करती है, जो पर पुरुष का मुख तक नहीं देखती, पति के दरिद्री, रोगी, क्रोधी, अङ्गहीन अथवा कोढ़ी होने पर भी मन, वचन और कर्म से उसकी सेवा करती एवं उसमें पूर्ण श्रद्धा रखती है, जो गृह-कार्य में चतुर है, पुत्रवती है, पति-परायणा है, समस्त भोग-विलास, आनन्द और वैभव की ओर लक्ष्य न कर एकमात्र पति की सेवा में ही तल्लीन रहती है, जो हर रोज़ सवेरे जल्दी उठकर घर को झाड़ू बुहार से साफ़ करती है, सदा सुव्यस्थित रीति से घर का कार्य चलाती है, पति के साथ व्रत-उपवास करती है, अतिथि का यथो-

चित आदर-सत्कार करती है, सास-श्वसुर को खुश रखती है, दीन-दुःखियों पर दया-भाव रखती है, वही स्त्री स्वर्ग लोक को प्राप्त होती है।"

सावित्री (ब्रह्मा-पत्नी)

सावित्री महर्षि ब्रह्मा की स्त्री थीं। यह परमपूजनीय, परमपवित्र, शुद्धात्मा और सरल स्वभाव वाली थीं। घर-गृहस्थी के कामों में तो कुशल थीं ही; किन्तु साथ ही आध्यात्मिक ज्ञान में भी यह खूब समझ-बूझ रखती थीं। सनक, सनत्-कुमार, सनन्दन और सनातन नाम के चार पुत्र और सरस्वती नाम की एक कन्या इनकी कोख से पैदा हुई थी। आजकल की तरह उस समय पठन-पाठन का प्रचार नहीं था। न कहीं पुस्तकें थीं, न पाठशालाओं का नाम-निशान। लोग वेद के मन्त्र सुनकर कण्ठ कर लेते थे। इसी कारण वेदों को श्रुति कहा जाता है। अपनी सन्तान को सावित्री ने स्वयं ही शिक्षा दी थी। और क्योंकि सावित्री स्वयं गुणवती एवं अध्यात्मविद्या में प्रवीण थीं, इसलिये उनकी पाँचों सन्तान परम विद्वान हुईं। यहाँ तक कि उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा हमारे देश में आज तक होती रहती है।

ऋषिपत्नियों की सभा में सावित्री अपनी सन्तान को साथ ले जातीं और वहाँ उन्हें तथा दूसरे ऋषिसन्तानों को उपदेश दिया करती थीं। निवृत्ति पर वहाँ नित्य ही व्याख्यान होता था। परिणाम यह हुआ कि उनके सत्सङ्ग के प्रभाव से उनकी सन्तान में विरक्ति आ गई और चारों ऋषिपुत्रों ने अपना समस्त जीवन

विद्याध्ययन में ही लगा दिया। फलतः उनमें से सनत्कुमार आ-युर्वेद के ज्ञाता एवं परम पण्डित निकले, और सरस्वती आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर अनेक विद्याओं की अधिष्ठात्री हुईं। लेख-प्रणाली, गणित और रागविद्या आदि अनेक विद्याओं का प्रचार करने वाली यही देवी हैं।

सभाओं में सावित्री सदैव यही कहा करती थीं, कि "मनुष्य को संसार में बालक के समान निर्लेप रहना चाहिये; क्योंकि इस प्रकार जीवन व्यतीत करने से आत्मसुख प्राप्त होता है और दुःख से छुटकारा मिलता है।" उनकी सन्तानों पर उनके इस उपदेश का प्रभाव पूरा-पूरा पड़ा मालूम होता है। क्योंकि सनत्कुमार आदि आज दिन भी बालऋषि के नाम से प्रसिद्ध हैं और सर-स्वती का वृत्तान्त भी सब पर भली भांति विदित है। उनके चित्र में आज भी भोलापन और बाल्यावस्था की निर्दोषिता प्रदर्शित की जाती है।

घर के काम-काज से जो वक्त मिलता उसमें सावित्री बालकों को नीति, धर्म, पतिव्रत-भाव और ईश्वरीय ज्ञान की शिक्षा देती थीं। शास्त्रों में कहीं-कहीं यह भी लिखा है कि धर्मशास्त्रों का संग्रह करने में यह ब्रह्मा की मदद करती थीं और ब्रह्माजी भी हर बात में इनका परामर्श लेते थे।

इस देवी की आत्मा और हृदय इतना स्वच्छ था एवं इनका आचरण ऐसा शुद्ध था कि उस समय भी इनके समान पवित्र व्यक्ति बहुत कम थे। परन्तु फिर भी वह पति से स्त्रीधर्म की बातें पूछती रहती थीं और उन उपदेशों से अन्य स्त्रियों को भी लाभ पहुँचाया करती थीं। सामवेद के गान में यह अद्वितीय थीं।

जिस छन्द को यह बड़े प्रेम से गाती थीं, कहते हैं कि, ब्रह्माजी ने उसे उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध किया है।

यह सदैव बड़े मीठे शब्दों में पति की प्रार्थना किया करती थीं। ब्रह्माजी भी इन्हें बड़ी स्नेह दृष्टि से देखते थे और पति-पत्नी दोनों सदा परस्पर प्रेम में मग्न रहते थे।

सरस्वती

सरस्वती महर्षि ब्रह्मा और देवी सावित्री की पुत्री थीं। यह अत्यन्त सुन्दरी और रूपवती थीं। सनक, सनन्दन, सनत्कुमारादि अपने पुत्रों के साथ ब्रह्मा और सावित्री ने इन्हें भी वेदों की अच्छी शिक्षा दी थी। सरस्वती ने वेदविद्या एवं अन्य शास्त्रों के अध्ययन में खूब मन लगाया और इस प्रकार अपने जीवन को आनन्दमय बना लिया था, यहां तक कि वह समस्त विद्याओं की साक्षात् देवी कहलाने लगी थीं। गानविद्या में यह बड़ी निपुण थीं। हाथ में सितार लिये हुए ईश्वर के भक्तियुक्त प्रेम में मग्न हो कर यह ऐसे गीत गाया करती थीं कि जिन्हें सुन-कर मनुष्य मात्र ही नहीं वरन् वनचर पशु-पक्षी भी मुग्ध हो जाते थे। अपनी तीव्र बुद्धि से इन्होंने संसार में अनेक विद्याओं का प्रचार किया है। संगीतशास्त्र से छन्दादि के पठन-पाठन और गाने की रीतियां ज्ञात होती हैं, यह इसी देवी की स्वभाविक विलक्षण बुद्धि के विचार का फल है। निस्सन्देह श्रुति पहले से थी; परन्तु संस्कृत के ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में जो भाषा मिलती है, अनेकों का ख़याल है कि वह इन्हीं की निर्माण की हुई है।

सभा में व्याख्यान देने का प्रचार सर्व प्रथम इन्होंने ही किया था, गणित-विद्या को भी अनेक लोग इसी सर्व-गुणसम्पन्ना देवी के तीक्ष्ण विचार और परिश्रम का फल बतलाते हैं। स्वर और व्यञ्जन आदि भी इन्होंने ही बनाये हैं। मतलब यह कि इस देवी के आचरणों की इस संसार में इतनी अधिक प्रतिष्ठा हुई कि इनका नाम ही विद्या के समान अर्थका सूचक बन गया है।

सरस्वती अत्यन्त प्रतिष्ठित और पूजनीया देवी थीं। उस समय ऋषि-कुमार प्रायः बड़े सुयोग्य और सुशिक्षित हुआ करते थे; परन्तु उस समय भी सरस्वती के योग्य वर कोई न मिला। इन्होंने अपना तमाम जीवन ब्रह्मचर्यावस्था में और सदैव विद्याध्ययन एवं नीतियुक्त शिक्षा प्राप्त करने में ही व्यतीत किया। सरस्वती इस बात का एक उत्तम उदाहरण हैं कि प्राचीन काल में अपनी इच्छा न होने पर कन्याओं को कुमारी रहने की स्वाधीनता थ। अस्तु।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनी के समय तक सरस्वती की दी हुई विद्या का प्रचार इस देश में खूब रहा। पुराने समय में इस देश में 'सरस्वती' के तात्पर्य को सब लोग भलीभाँति समझे थे। विद्याभ्यास के लिये उन्होंने जो नियम प्रचलित किये थे उनका भलीभाँति पालन होता था। परन्तु अब हालत बदल गई है। मोर पर विराजमान वीणाधारिणी सरस्वती के दर्शन तो हम सब करते हैं, किन्तु दर्शन के वास्तविक आशय—उनके बताये हुए ज्ञान का उपार्जन करने का ज़रा भी प्रयत्न नहीं करते।

दीवाली का पवित्र दिन, इस पवित्र एवं विद्वान देवी की याद-गार का दिन, सरस्वती की पूजा करके बालकों को विद्या का आ-

रम्भ कराया जाता था और पकी हुई उम्र के लोग हिसाव-किताव की जाँच करते थे। लोग उस समय से विद्या सीखने की प्रतिज्ञा करते थे और इस भाँति सरस्वती देवी की वास्तविक प्रतिष्ठा कर-के अपने आचरणों को सुधारते थे। परन्तु अब तो साँप के चले जाने पर लकीर को पीटना रह गया है! आज भी हमारे देश में दिवाली का उत्सव बड़े जोर-शोर से मनाया जाता है। व्यापारी लोग इस अवसर पर सरस्वती-पूजन जरूर करते हैं। परन्तु जो समय विद्या के गूढ़ अंशों पर विचार करने में लगाना चाहिये, उसका अधिकांश व्यर्थ के सैलसपाटों में, अतिशबाजी चलाने और जुआ खेलने में बिताया जाता है। इस पवित्र रात में, जुए पर लाखों रुपयों का पानी फिर जाता है। कितने ही घर उजड़ जाते हैं। कितनी बेचारी स्त्रियों के नाक की नथ तक उतार कर दांव में लगा दी जाती है। कितने ही बेचारे निर्दोष बालक इस रात्रि को निराधार हो जाते हैं। अनेक जगह जागरण करके इसी प्रकार सरस्वती का स्मरण और पूजन किया जाता है!!!

देश की दशा ही कुछ विचित्र हो गई है। जो दिन हमारे विद्यारम्भ और उन्नति का कहा जाता है और जिस दिन पवित्र सरस्वती माता का नाम लेकर हमें अपनी ज्ञानोन्नति करने का निश्चय करना चाहिये, अब वही दिन हम में से अनेक अपना और अपने कुटुम्ब के विनाश करने का कारण बना डालते हैं।

सरस्वती नाम की एक नदी भी हमारे देश में है। कुछ विद्वानों का कहना है कि प्राचीन काल में इस नदी के तट पर विद्यार्थियों का आश्रम रहा होगा; जहाँ ऋषि-मुनि एकत्र होकर मीठे स्वर से वेदध्वनि किया करते होंगे और इस आश्रम से शिक्षा

प्राप्त कर देश के हर एक भाग में विद्या-प्रचार करते होंगे। वास्तव में वह एक पवित्र स्थान होगा; जहाँ शुद्ध विचार और पवित्र आचरण रखने की शिक्षा दी जाती होगी। पर आज तो सरस्वती की सिर्फ इतनी ही प्रतिष्ठा होती है कि इस नदी में स्नान करना ही मोक्ष-प्राप्ति का एक साधन समझा जाता है। परन्तु यदि हमारे देशबन्धु सरस्वती के स्नान की वास्तविक महिमा को समझें, तो शीघ्र ही अपनी आत्मा को शुद्ध और आचरणों को पवित्र करके परमपद (मोक्ष) को प्राप्त कर सकते हैं।

चाहे जो हो, सरस्वती का नाम आज भी हमको सच्चाई पर चलने की राह बतला रहा है, और आशा की जाती है कि आर्य-सन्तान किसी समय अपनी माता सरस्वती के सच्चे पुत्र कहलाने के योग्य बन कर माता के नाम की यथावत् प्रतिष्ठा करते हुए, देश की दशा को सुधार लेंगे। उस समय चारों ओर वेद पाठ की मधुर ध्वनि सुनाई देगी, हमारी गृहदेवियाँ सरस्वती के बनाये हुए नियमों का पालन कर परम विदुषी देवियाँ बनेंगी, और हमारा भारतवर्ष वास्तव में स्वर्गधाम बन जायगा।

सरस्वती देवी ! तुम धन्य हो ! यदि हम तुम्हारी यथार्थ प्रतिष्ठा करना जानते होते और शुद्ध अन्तःकरण से तुम्हारी भक्ति और पूजा करते तो आज भारत को यह दिन हर्गिज़ न देखना पड़ता। अस्तु, ईश्वर से यही प्रार्थना है कि तुम्हारे सरीखी कन्याएँ हमारे देश में घर-घर पैदा हों और उनके द्वारा भारतमाता का मुख उज्ज्वल हो ! तुम्हारे अभाव में हम जो दुःख उठा रहे हैं, भगवान् शीघ्र उसका नाश करें! तथास्तु।

लक्ष्मी

इस सती का जन्म भृगु ऋषि के घर हुआ था। बचपन में इन्हें उत्तम शिक्षा मिली थी और इनका कोमल मस्तिष्क ऊँचे विचारों से भरा गया था। रूप भी इनका अपूर्व था। नारदजी ने इनके रूप और गुणों से प्रसन्न होकर विष्णु भगवान से इनका विवाह कराया था। इनका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुख और शान्तिमय था। यह हमेशा पति की सेवा में लगी रहती थीं। पति को ही परम देवता मानतीं और तदनुसार ही आचरण करती थीं। स्त्रीधर्म-सम्बन्धी इनके विचार बड़े ऊँचे थे, जैसा रुक्मिणीजी के साथ होनेवाली इनकी निचे लिखी बातचीत से मालूम होगा।

लक्ष्मी-रुक्मिणी-संवाद

एक दिन लक्ष्मीजी से मिलने को रुक्मिणीजी स्वर्ग में गईं। लक्ष्मीजी ने बड़े आदर के साथ इन्हें अपने पास बैठाया और दोनों में विविध विषयों पर वार्तालाप होने लगी। बहुत सी बातें हो जाने के बाद रुक्मिणीजी ने पूछा:—"बहन! तुम हमेशा कैसी स्त्रियों के साथ रहा करती हो, कैसी स्त्रियां तुम्हें पसन्द हैं और किन बातों के करने से स्त्रियाँ तुम्हारी प्रेमपात्र बन सकती हैं?"

रुक्मिणीजी का प्रश्न सुनकर लक्ष्मीजी कुछ मुस्कराईं। इसके बाद मधुर स्वर से बोलीं:—"मुझे वही स्त्री सब से ज्यादा प्यारी है जो अपने पति में अचल भक्ति रखती हो। उसे मैं क्षण-भर के लिए भी अपने से जुदा नहीं कर सकती। ऐसी स्त्रियों के पास में रहने से मुझे हर्ष होता है। मैं उनका सत्सङ्ग करना चाहती हूँ

और सदा उनके साथ में रहती हूँ। इसके विपरीत अनेक गुणों से विभूषित होने पर भी जो स्त्री अपने पति में श्रद्धा न रखती हो, उसे मैं धिक्कारती हूँ और उसे अपने पास भी नहीं फटकने देती।"

"जो स्त्रियाँ क्षमाशील हैं, यानी किसी के कुछ अपराध करने पर भी उसे क्षमा करने को तैयार रहती हैं, उनके घरों में मेरा निवास रहता है।"

"सदैव सच बोलनेवाली स्त्री मुझे बहुत पसन्द है। जिस स्त्री का स्वभाव सरल हो, वही मुझे प्राप्त कर सकती है। जो स्त्री छल, कपट और चालाकी से दूसरों को धोखा देती और झूठ बोलती है उसे मैं धिक्कारती हूँ; उसे मैं कभी दर्शन भी नहीं देती।"

"जो स्त्रियाँ पवित्र हैं, शुद्धाचरणवाली हैं, देवता और ब्राह्मणों में भक्ति रखती हैं, पातिव्रत-धर्म का पालन करती हैं, और जो अतिथि की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहती हैं वे मुझे शीघ्र प्राप्त कर लेती हैं।"

"जो जितेन्द्रिय हैं और जो अपने पति के सिवा किसी पर-पुरुष का मुख देखना तक बर्दाश्त नहीं कर सकती है उनके घर में मैं सदैव निवास करती हूँ—उनका घर कभी नहीं छोड़ती। क्योंकि ऐसी स्त्रियाँ मुझे अपने वश में कर लेती हैं।"

इतना कह चुकने पर लक्ष्मीजी फिर कहने लगी:—"बहन! जैसी स्त्रियों को मैं चाहती हूँ, वह मैंने तुम्हें बता दिया। अब जैसी स्त्रियों से मैं अप्रसन्न रहती हूँ और जिन्हें धिक्कारती रहती हूँ वह भी सुनो—"

"जो स्त्री हमेशा अपने पति को बुरे लगनेवाले काम करती है, उसे तरह-तरह से तंग करती है और उससे कड़वी बातें

कहती है उस या वैसी अन्य स्त्रियों से मैं सख्त नफ़रत करती हूँ और उनका मुँह तक नहीं देखती ।"

"जो अपने पति का घर छोड़कर दूसरों के घर में रहने को उत्सुक रहती हैं, और पति मौजूद होते हुए भी परपुरुषों से प्रेम करती हैं वे स्त्रियाँ नरक का कीड़ा बनती हैं और मैं स्वप्न में भी उनके पास नहीं जाती ।"

"जो निर्लज्ज, लड़ाका, कलहकारिणी, कटुभाषी या बहुभाषी हैं, हर किसी से बातें करती हैं, चाहे जिसके साथ झगड़ा करती हैं, जिनका स्वभाव क्रोधी है, जो बात-बात में चिड़ती हैं, स्नेहशील नहीं हैं, और जिनमें दया एवं उदारता का अभाव है, उन स्त्रियों का मैं परित्याग कर देती हूँ । उन्हें छोड़ देती हूँ ।"

"जो सफ़ाई से नहीं रहतीं, बहुत सोती हैं, आलस्य में रहती हैं, बड़ों का कहना नहीं मानतीं, कोई काम करते समय उसके नतीजे पर नज़र नहीं रखतीं, घर में सुव्यवस्था नहीं रखतीं, घर की वस्तुओं को इधर-उधर पटक देती हैं, वे स्त्रियाँ मुझे कभी नहीं प्रसन्न कर सकतीं ।"

रति

भारतवर्ष में हरएक भावना किसी ऊँचे आदर्श से भरी हुई होती है । मनुष्यों में कामवासना प्रदीप्त करनेवाले देवता का नाम मदन, कामदेव या मन्मथ है । पर उसकी स्त्री रति के बारे में आर्य लेखकों ने जो लिखा है उसपर से मालूम होता है कि वह केवल विषयासक्त स्त्री न थी, वरन् पूर्ण पतिव्रता स्त्री थी ।

अपनी पहली पत्नी सती की मृत्यु के बाद जब शिवजी घोर तपस्या करने लगे थे, उस समय सब देवताओं की सलाह से इंद्र ने मदन को अपने शस्त्रों के साथ उनकी तपस्या में बाधा डालने के लिये भेजा था। तब अपनी स्त्री रति को भी वह अपने साथ ही ले गया था। शिवजी की सेवा-शुश्रूषा और उनकी पूजा पाठ एवं तपस्या में मदद करने के लिये जब पार्वतीजी उनके आश्रम में पहुँची, उस समय मदन ने चुपके से शिवजी पर बाण चलाने की कोशिश की थी; पर शिवजी ने उसे देख लिया और यह देखकर उन्हें ऐसा क्रोध आया कि उनकी तीसरी आँख से आग की एक तेज लपट निकल पड़ी, जिसने क्षण भर में मदन को जलाकर राख का ढेर कर दिया। रति उस समय वहीं खड़ी थी। उसने जैसे ही आग की लपट को अपने पति की तरफ़ जाते देखा, वह डर गई। यह असह्य घटना वह न देख सकी। इस दारुण वेदना से उसकी इन्द्रियाँ संज्ञाहीन हो गईं और वह बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ी। बेहोशी के कारण कुछ देर तो उसे पति की मृत्यु का पता भी न चला। वह बहुत देरतक बेहोश और विह्वल होकर अचेत पड़ी रही। यहाँ तक कि उसे अपने तन तक की सुध न रही। लेकिन अफ़सोस! दुःख को भुलानेवाली यह बेहोशी आखिर दूर हो ही गई। चेत होते ही उसे अपने विधवा हो जाने का पता चला। मूर्च्छा दूर होते ही उसने नेत्र खोले और अपने चारों ओर देखने लगी। पति की जीवितावस्था में उन्हें बार बार देखने पर भी उसके नेत्र न अघाते थे; पर आज, उन्हीं अतृप्त नेत्रों को पति के दर्शन नहीं हुए। पति जलकर राख हो गया, इसपर उसे एकाएक विश्वास ही न होता था। वह तो

अपनी आँखों को ही दोष दे रही थी, कि आँखों की खराबी ही के कारण वह मुझे नहीं दीख रहे हैं। कवि के शब्दों में—

"किया नयन निक्षेप व्यथित रति ने जब उठकर,
दृग्गोचर कर सकी न वह पति-रूप मनोहर।
'जीते हो हे नाथ !' वचन यह कह विषाद्-कर,
देखी पुरुषाकार भस्म उसने भूतल पर॥"

जब इसने शिवजी की क्रोधाग्नि में जलकर भस्म हुए अपने पति को देखा, तो इस पतिव्रता से न रहा गया। व्याकुल होकर यह ज़मीन पर गिर पड़ी और धूल में लोटने लगी। बाल बिखर गये, वदन धूल में भर गया, और बड़े करुणाजनक शब्दों में यह विलाप करने लगी। विलाप को सुनकर कलेजा टूक-टूक हुआ जाता था, यहाँ तक कि जंगल के जीव-जन्तु भी उसे सुनकर पिघल गये। रति का इस समय का विलाप था ही ऐसा कि जिसे सुनकर सख्त से सख्त पत्थर दिल भी पसीजे बिना न रहे। कवि शिरोमणि कालिदास ने इस विलाप को बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, जिससे पतिव्रता रति के हृदय की उच्चता का अच्छा परिचय मिलता है। उनके शब्दों में वह इस प्रकार विलाप करने लगी:—

"जो यह तेरा गात मनोहरता की राशी,
उनका था उपनाम सदा जो सुघर विलासी,
उसकी ऐसी दशा हुई ! फटती नहीं छाती ! !
हाय,हाय ! अति कठिन निंद्य नारी की जाती !!!
नव-नलिनी को नीर छोड़ जाता है जैसे,
कहाँ गये हे नाथ ! छोड़ मुझे तुम तैसे ?

किया नहीं प्रतिकूल कभी कुछ मैंने तेरा।
फिर क्यों देता नहिं दरस रोदन सुनि मेरा ?"

एक दिन उसके सामने कामदेव ने किसी पर-स्त्री का नाम ले दिया था; जिसपर नाराज़ होकर रति ने कामदेव को अपनी तगड़ी से वान्ध दिया था। ऐसे ही एक वार किसी वातपर अपने कमल के कुंडल उसपर डाल दिये थे जिनकी रज कण पति की आँखों में जाने से उसे सहज ही कुछ तकलीफ़ हुई थी। अपनी इन सव पिछली वातों को याद कर के रति इस प्रकार विलाप करने लगी:—

"हुआ स्मरण क्या तुझे करधनी से निज वन्धन ?
अथवा प्रणय-विशिष्ट कमल-कलिका सन्ताड़न;
'हृदय-वीच तव वास' कथन यह कपट तुम्हारा;
क्योंकि अतनु तुम हुए, तदपि तनु वना हमारा;
अपर लोक तुम गये न ये ही हे प्रिय मेरे,
निश्चय ही मैं नाथ ! निकट आऊँगी तेरे;
वंचित हुआ परन्तु जगत् यह विधि के द्वारा,
तेरे ही आधीन सौख्य इसका था सारा।"

हे प्यारे ! जव मैं किसी वात पर नाराज़ होती तो तुम मेरे पाँवों में पड़कर भी मुझे मनाते थे। उन सव वातों की याद कर के मेरा हृदय फटा जाता है। मेरी शांति छूटी जाती है। मेरे वास्ते तुमने वसन्त के खिले हुए सुन्दर फूलों के हार-गजरे वनाए थे; और प्रेम के साथ अपने ही हाथों से उन्हें मुझको पहनाया था। देखो मैं उन्हें अभी भी पहने हुए हूँ, पर जिनकी कृपा से ये प्राप्त हुये थे वह तो दीखते ही नहीं ! उनका सुन्दर शरीर तो

नष्ट हो गया, पर मैं जीती-जागती बैठी हूँ। हा ! कठोर-हृदय देवताओं ने अपना मतलब गांठने के लिए जब तुम्हें बुलाया था तब तुम मेरे पाँवों पर मेंहदी रचा रहे थे। दाहने पाँव पर तो रचा भी चुके थे, सिर्फ बायाँ पाँव बचा था; देखो वह वैसा का वैसा, बिना मेंहदी के रह गया है। आओ, इसपर मेंहदी तो लगा जाओ। पतंग जैसे आग में पड़कर समाप्त हो जाता है वैसे ही मैं भी अपने शरीर को जलाकर जल्दी ही तुम्हारे पास आकर तुममें मिलूँगी। मैं तुम्हारे पास आऊँगी तो जरूर, पर इसमें भी मुझे एक बात की बड़ी चिन्ता रहेगी। लोग कहेंगे कि तुम्हारे मरते ही मुझे भी तुरन्त ही जलकर मर जाना चाहिये था। क्योंकि जो पति के प्रति ऊँचे दर्जे का प्रेम हो तो पति के बिना भला एक क्षण भी कैसे जिन्दा रहा जा सकता है ? निश्चय ही मेरे पर यह बड़ा भारी कलंक रहेगा। भला मैं इसका निवारण कैसे करूँगी ?

"रति मनसिज के बिना रही पल भर जीवित,
हे मम जीवितनाथ ! कहेंगे यही सभी नित;
यद्यपि तनु तज अभी तुम्हें फिर अंक भरूँगी,
इस कलंक को दूर तदपि किस भाँति करूँगी ?"

एक बात और भी है जो मुझे असह्य वेदना पहुँचा रही है। वह यह कि तुम्हारे मृतक शरीर का उत्तर-संस्कार भी मैं नहीं कर सकी। मैं करूँ भी कैसे ? तुम्हारा तो शरीर ही नहीं रहा ! तुम्हारी तो ऐसी गति हुई कि जैसी आज तक न तो किसी की हुई, न कल्पना ही में आ सकती थी ! तुम्हारे तो जीवन का ही नहीं बल्कि शरीर का भी साथ ही नाश हो गया। औरों के प्राण

निकल जाने पर भी उनका पंचमहाभूत शरीर तो रहता है, पर मैं तो ऐसी अभागिनी निकली कि मुझे तो तुम्हारा मृत-शरीर भी न मिला !

"शोक ! शोक !! हा शोक !!! अहो परलोक-निवासी !
अन्त्य कृत्य तक नहिं कर सकी है यह दासी !
अवितर्कित गति हुई नाथ ! तेरी हे स्वामी !
जीवन भी तव गया यह तनु भी नामी !"

रति का ऐसा विलाप सुनकर मदन के मित्र वसन्त को बड़ा दुःख हुआ। उससे यह विलाप और न सुना जा सका। वह उसके पास जा खड़ा हुआ। पर कुटुम्बियों और मित्रों के सामने तो हृदय का दुःख और भी जोर से उमड़ा करता है, सो वसन्त के आने पर तो रति का विलाप और बढ़ गया। नाना प्रकार से विलाप कर अपने पति के अनेक गुणों की याद कर-कर के वह कहने लगी—"हा ! पापी दैव, तैंने यह क्या किया ? मेरे स्वामी को मारा सो मारा, पर ठीक तरह से मारना भी न आया ! मेरे पति को तो जला डाला, पर मुझे काल यों ही छोड़ गया ! मुझे बचा कर एक तरह से उसने मेरी आधी हत्या की है, पर वास्तव में तो उसने मुझे मार ही डाला है; क्योंकि पति के बिना मैं ज़िन्दा रह ही कैसे सकती हूँ ? जिस वृक्ष पर बेल लगी हो उस वृक्ष को ही हाथी उखाड़ डाले तो कहीं वह बेल बच सकती है ? वृक्ष के साथ ही बेल का भी नाश ज़रूर होता है—अवश्यम्भावी है। अतएव, प्राणप्यारे के मर जाने पर मैं जीती नहीं रह सकती। (वसन्त से) तुम मेरे पति के मित्र हो और मैं भी तुम्हें अपना भाई मानती हूँ। अतः इस मौक़े पर तुम मेरी मदद

करो। दया करके मुझे तुम मेरे पति के पास पहुँचा दो। पति के पीछे-पीछे जाना, सती होना, यह तो स्त्री का कर्त्तव्य ही ठहरा। फिर यह भी नहीं कि सजीव प्राणी ही इसफ़र्ज़ को निभाते हों, निर्जीव (जड़) पदार्थों में भी तो पत्नियाँ पति का अनुगमन करती हैं। न मानो तो देखो चन्द्रमा के साथ-साथ चन्द्रिका (चान्दनी) भी चलती है, और बादलों के छिपते ही बिजली भी ग़ायब हो जाती है। लेकिन सती होने से पहले स्त्रियाँ जो नाना प्रकार के अलङ्कारों से अपने शरीर को सजाती हैं, यह मुझ से नहीं होने का। मैं तो, मेरे पति के जले हुए शरीर की जो राख सामने पड़ी है, उसीको सारे शरीर पर लगा लूंगी। मैं तो इसे ही बड़ा भारी गहना समझूंगी और आग को कोमल पत्तों से सजाया हुआ विस्तरा मानकर उसी पर अपने शरीर को सुला लूंगी। आग को मैं आग नहीं समझती। मैं तो उसे फूलों की सेज मानकर उसी में विश्राम करती हुई जल मरूँगी। तुमसे मेरी एक विनती और है। जब मेरी चिता बल उठे, तो तुम हवा को खूब तेज़ चला देना; जिससे मेरी आग तेज़ हो जाय और मैं जल्दी से पति के पास जा पहुँचूँ। फिर, मेरे मर जाने पर, हम दोनों के लिए तुम एक ही तिलाञ्जलि देना; हमारे लिए अलग-अलग अंजलि देने की भी कोई जरूरत नहीं।"

जब रति इस प्रकार जल कर सती होने को तैयार हुई; तो आकाश से एकाएक एक देववाणी हुई। तालाव सूख जाने पर तड़फड़ाने वाली मछलियाँ असाढ़ में पहली वरसात के होते ही जैसे सजीव हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार इस देववाणी से रति के हृदय में भी एकदम कुछ आशा की झलक आई। आकाशवाणी

यह थी—"हे कामदेव-पत्नी ! तुझे अधिक काल तक पति के बग़ैर न रहना पड़ेगा; कुछ ही दिनों में तेरा पति फिर से तुझे मिल जायगा। त्रिलोचन शङ्कर की क्रोधाग्नि में वह पतंग की नाईं क्यों जल मरा, यह तुझे मालूम नहीं ? सुन, तेरे पति ने एक बार ब्रह्माजी के मन में ऐसा विकार पैदा कर दिया था कि उनका चित्त अपनी पुत्री के प्रति चञ्चल हो उठा। जितेन्द्रिय होने के कारण उन्होंने अपने उस मनोविकार को तुरन्त ही दबा दिया था; पर तेरे पति मदन के कारण क्षण-भर के लिए भी जो ऐसा कुविचार उनके मन में उत्पन्न हुआ, इस पर उन्होंने उसे शाप दे दिया था। यही कारण था कि महादेवजी के क्रोध से वह भस्म हो गया। किन्तु ब्रह्माजी को शाप देते देखकर धर्म नामक प्रजापति को तेरे पति पर दया आ गई और उन्होंने उस शाप का निवारण करने के लिए ब्रह्मा से प्रार्थना की। जितेन्द्रिय तो 'क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा' होते ही हैं। अतः ब्रह्माजी ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और कहा कि पार्वती की तपस्या से प्रसन्न होकर जब शिवजी उन्हें अपनी सहधर्म्मिणी बनाएँगे और उस विवाह से उन्हें पूर्ण सन्तोष होगा तब वह कामदेव को पुनः जीवित कर देंगे। इसलिए हे सुन्दरी ! अब तू मरने का विचार छोड़ दे। भविष्य में तुझे तेरा पति अवश्य प्राप्त होगा। उसके समागम की प्रतीक्षा में तू अपने सुन्दर शरीर को क़ायम रख। दुःख के बाद सुख ज़रूर आता है, जैसे कि सूर्य के प्रचण्ड ताप से शुष्क हुई नदियाँ वर्षा के आते ही पुनः जल-परिपूर्ण होकर कल-कल करती हुई बहने लगती हैं।"

इस प्रकार धीरज की बातें कहकर इस अदृश्य देवता ने रति के मन को बहुत कुछ हलका कर दिया। इस आश्वासन से रति

ने जल मरने का विचार त्याग दिया। पति-मित्र वसन्त ने भी हिम्मत दिलाई, कि "देववाणी कभी असत्य नहीं हुआ करती। अतः तुमने जो कुछ सुना है, उसपर विश्वास करो। तुम्हारे पति फिर से तुम्हें जरूर मिलेंगे।" इस प्रकार समझाने पर रति ने मरने के विचार को छोड़ दिया और पति-वियोग में प्रतिदिन अपने शरीर को गलाते हुए उत्सुकतापूर्वक उसके शुभ मिलन की बाट जोहने लगी।

हिमालय की कन्या पार्वती के साथ जब शिवजी का विवाह हुआ तब, उस आनन्द में, देवताओं ने नम्रतापूर्वक शिवजी से कहा—"भगवन्! आपका विवाह तो हो गया; साथ ही मदन के शाप की अवधि भी समाप्त हो गई। अतः अब आप उसे पुनर्जीवित करके अपनी सेवा का मौक़ा दीजिये।"

अस्तु, इस शुभावसर पर मदन पुनः जीवित हो गया और रति ने पति को पाकर अपना शेष जीवन आनन्द के साथ व्यतीत किया।

दूसरे जन्म में कन्दर्प (कामदेव) ने श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में रुक्मिणी के गर्भ से जन्म लिया था, और रति ने श्रीकृष्ण के कट्टर दुश्मन शम्बर की स्त्री मायावती के रूप में जन्म ग्रहण किया था।

अदिति

ऋग्वेद संहिता के चौथे मण्डल के अठारहवें सूत्र की पाँचवीं, छठी और सातवीं ऋचाएं अदिति की बनाई हुई हैं। यह (अदिति) इन्द्रदेव की माता के नाम से प्रसिद्ध हैं। वामदेव ऋषि ने एकबार अपनी माता को सताया था; इस पर वह अदिति और इन्द्रदेव के पास चली आई थी। कहते हैं कि इस-पर कुछ मन्त्र रचकर अदिति ने वामदेव को खूब फटकारा था। अदिति के एक श्लोक का आशय इस प्रकार है:—"जलवती नदियाँ हर्षसूचक कलकल शब्द करती हुई चली जाती हैं। हे ऋषि! तुम उनसे पूछो तो, कि वे क्या कहती हैं?"

इनकी कथा बड़ी कवितामय है।

पुराणों में लिखा है कि अदिति भगवान् काश्यप की स्त्री और इन्द्रादि देवताओं की माता थीं। इनकी सौत दिति के वंश में राक्षस पैदा हुए थे जो एक समय बड़े ज़बर्दस्त हो गये थे। उनमें से प्रह्लाद के पोते; विरोचन के पुत्र, राजा बलि ने विश्वजीत नामक यज्ञ करके स्वर्ग का भी राज्य-पद प्राप्त कर लिया था। तब देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया गया और वे बड़ी कठि-नाई में पड़ गये। देवताओं की यह दुर्दशा देखकर देवमाता अदिति को बड़ा दुःख हुआ, और इसके निवारण का उपाय ढूँढ़ने के लिए उन्होंने मन-ही मन अपने स्वामी का स्मरण किया। भगवान् काश्यप ने कहा, पयोव्रत का उद्यापन करके विष्णु की आराधना करो। तदनुसार एकाग्र चित्त होकर अदिति ने उसे समाप्त किया। इसपर प्रसन्न होकर विष्णुजी ने उनके गर्भ से जन्म

लिया और उपनयन (यज्ञोपवीत-संस्कार) के समय यह वामन रूप-धारी विष्णु भीख माँगने के लिए बलि के पास गये। बलि तो दानी ठहरा, उसने कहा, जो कुछ माँगना हो वह माँगो। वामन ने सिर्फ़ तीन अंगुल ज़मीन माँगी। दानी बलि ने उनकी इस अत्यन्त सामान्य बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया। तब भगवान ने अपने ठिंगने शरीर को एकदम महा विशाल बना लिया। उन्हें तीन पग धरती लेनी थी। एक पग में तो उन्होंने पृथ्वी को नाप लिया, दूसरे पग में स्वर्ग तथा चान्द-सूरज-तारों समेत सारे आकाश को नाप लिया, और तीसरे पग के लिये कोई स्थान बाक़ी ही न रहा! तब बलि बड़ा चकित हुआ। वह सोचने लगा—स्वर्ग और मृत्युलोक पर तो वामन ने कब्ज़ा कर लिया और अपने वचन की पूर्ति के लिये अभी तीसरा पग बाकी ही है; पर अब अपने पास है ही क्या, जिस पर उन्हें तीसरा पग रखने दिया जाय? वह जान गया कि भगवान ने मुझे छकाया है। अतः विवश होकर उसने अपना मस्तक झुका दिया और कहा—"प्रभु! यह मेरा सिर उपस्थित है, इसपर आप अपना तीसरा पग रखिये।" स्वर्ग और मृत्यलोक का तो वह दान कर ही चुका था, तब उसे वहाँ खड़े रहने का भी क्या हक़ था? इसलिये वह पाताल में चला गया और देवताओं को फिर से स्वर्ग का राज्य मिल गया।

केतकी

प्रजापति दक्ष की कई कन्याएं थीं। उनमें से एक का नाम था 'केतकी'। रूप, गुण आदि सब बातों में केतकी साक्षात् लक्ष्मी-स्वरूप थी। धर्म-चर्चा का तो इतना अधिक शौक़ था कि घर-गृहस्थी की जरा भी पर्वाह न कर रात दिन एक मात्र इसी चर्चा में निमग्न रहती थी। परिणाम यह हुआ कि इसकी अन्य बहनें जहाँ अपने मनचाहे पति प्राप्त करके अपनी-अपनी गृहस्थियाँ चलाने लगीं, वहाँ केतकी माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर हिमालय के शिखर पर जाकर तपस्या करने लगी।

परन्तु धर्मकार्यों में अनेक विघ्न पड़ा करते हैं। तपस्या की परीक्षा भी शनैः शनैः ही होती है। इसे भी विषम कसौटी पर कसा जाना पड़ा। केतकी आख़िर स्त्री ही थी। जप, तप चाहे कितना करे, तथापि दूसरों की हँसी करने का नारी-स्वभाव कहाँ जाय ? अतः एक साधारण बात में ही इसका ध्यान भङ्ग हो गया और परीक्षा में यह असफल हो गई। गाय का मायावी रूप धारण करके आई हुई भगवती को यह न पहचान सकी और नारी-प्रकृति के वश हो उनपर हँसने लगी। यह देख भगवती ने प्रगट होकर कहा—"लक्ष्मी के वंश में जन्म ग्रहण करने और आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी होने पर भी तू मानव स्वभाव का दमन न कर सकी, तो जा, पृथ्वी पर जाकर नारी के रूप में जन्म ग्रहण कर और कुमारी रहने का जो तुझे बड़ा घमण्ड है, सो जा, मेरे शाप से तेरे पाँच पति होंगे।"

अब केतकी की आँखें खुलीं। शाप को सुन कर उसे बड़ा

दुःख हुआ। अपनी ग़लती पर बड़ी पछताई और तुरन्त ही जगन्माता के चरणों में पड़कर बिलख-बिलख कर रोने और पश्चात्ताप करने लगी। तब भगवती का मन पिघल गया। उन्हें केतकी पर दया आ गई और बोली—"बेटी! रो मत। तेरे भाग्य में यही लिखा होगा। अच्छा, जा, तेरे द्वारा पृथ्वी में भगवान का एक महान उद्देश्य सिद्ध होगा। तू उनकी प्रिय है, इसलिए उनके विधान को खुशी के साथ पूरा करने को तैयार हो जा। जा, पाँच स्वामियों के होने पर भी तू धर्म्म से पतित नहीं होवेगी; इतना ही नहीं, बल्कि सती-शिरोमणि मान कर लोग तेरी पूजा करेंगे और तेरी कीर्त्ति अक्षय होकर तेरा नाम प्रातःस्मरणीय होगा।"

इसके बाद भगवती अन्तर्ध्यान हो गईं। पर उनकी सान्त्वना भी केतकी को शान्ति न पहुँचा सकी। शाप की कठोरता से उस का हृदय टूक-टूक होने लगा और मानसिक दुःख से दुःखी होकर प्राणत्याग करने के लिए रोती हुई केतकी गङ्गा के उद्गम-स्थान पर जा पहुँची।

वहाँ का दृश्य जैसा सुन्दर था वैसा ही मनमोहक भी था। बरफ़ से आच्छादित हिमालय की उपत्यकाओं को चीरकर गङ्गा का चञ्चल जल तीन धाराओं में तीन ओर बह रहा था मानों हज़ारों खिलाड़ी बालक नाचते, कूदते, और उछलते हुए चले जा रहे हों। पर गङ्गा के उस पवित्र सौन्दर्य को देखकर भी केतकी का मन शांत नहीं हुआ; उलटे उसका दुःख और दुगुना हो गया। ऐसे मनोरम स्थान को छोड़ कर पापपूर्ण पृथ्वी पर जाना पड़ेगा, यह विचार वह किसी प्रकार भी न भुला सकी। अन्त में आँख के आँसुओं को पोछते हुए उसने गङ्गाजी में प्रवेश किया, परन्तु

देवमाया से उसके आँसुओं की प्रत्येक बूँद पानी के साथ मिल-कर एक-एक स्वर्ण-कमल बनने लगा जिसकी उसे कुछ खबर न थी। फिर मन्दाकिनी (गङ्गा) के प्रवाह में बहते हुए ये कमल स्वर्ग की तरफ चले गये।

धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों के साथ देवराज इन्द्र इस समय मन्दाकिनी के किनारे-किनारे स्वर्ग जा रहे थे। तुरत के ताजे सुनहले कमलों की मस्त खुशबू से वे पाँचों एकाएक ठिठक गये। खुशबू का पता लगाने को जब उन्होंने चारों ओर दृष्टिपात किया, तो मन्दाकिनी के किनारे-किनारे इन स्वर्णकमलों को देख उनके विस्मय की सीमा न रही।

किसी अशक्य प्रतीत होनेवाली वस्तु को देखकर जो कुतू-हल होता है, उसे दबा लेना कोई सहज बात नहीं। यह कहाँ से आई, कैसे आई, किसने बनाई आदि बातें जानने की उत्कण्ठा स्वभावतः ही उत्पन्न होती है। अतः सौरभपूर्ण स्वर्णपद्मों को देख कर उन सब के मन उनकी उत्पत्ति आदि जानने के लिये उत्क-ण्ठित हो गये। तब देवराज इन्द्र ने धर्म को इसका पता लगाने के लिये भेजा और स्वयं पवन तथा अश्विनीकुमारों सहित, उनकी प्रतीक्षा करने लगा।

परन्तु बहुत देर हो जाने पर भी धर्मराज नहीं लौटे। तब इन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। पवन को भेजा गया, पर वह भी धर्म-राज की तरह गायब हो गया। तब एक-एक करके अश्विनी-कुमारों को भेजा गया; पर उनका भी कोई पता न लगा। तब अत्यन्त आश्चर्य-चकित होकर इन्द्र स्वयं ही खोज करने चला। कमल की सीध में चलते-चलते वह गंगा के निकलने की जगह

पर जा पहुँचा। वहाँ जब उसने स्वर्णपद्मों की जनक, सौन्दर्य की सीमा-रूपीणी, मनोमोहनी एक रमणी को देखा; तो उसे बड़ा विस्मय हुआ।

केतकी का रूप देख कर इन्द्र उसपर मुग्ध हो गया और कामविह्वल भावसे एकटक उसकी ओर निहारने लगा। तदनन्तर, जब केतकी ने उसे देख लिया तो वह कहने लगा—"हे सुन्दरी! तुम कौन हो? किसके घरको अन्धेरा करके तुम इस जंगल को प्रकाश मान कर रही हो? यह क्या तपस्या की उम्र है? तीनों लोकों में दुर्लभ ऐसे इस रूप को ब्रह्मचर्य में नष्ट कर देने से भला तुम क्या फल पाओगी? मैं देवताओं का राजा इन्द्र हूँ; तुम मुझसे विवाह करके अमरावती के रत्न-जटित सिंहासन को उज्जवल क्यों न करलो?"

देवेन्द्र की बात सुनकर तपस्विनी (केतकी) चौंक पड़ी और व्यथित हृदय से बोली—"देवराज! आप यह क्या कह रहे हैं? ऐसी बात मुख पर फिर मत लाना! क्योंकि मैं जन्म से ही तपस्विनी हूँ, और शङ्कर के चरणों में मैंने आश्रय पाया है। मुझपर कुदृष्टि डालने से, विवाह के लिए कहने पर, इससे पहले चार व्यक्ति कठोर दण्ड प्राप्त कर चुके हैं। फिर यह ख़याल रखिये कि चाहे आप देवराज हों या और कोई, मैं दण्ड देने में चूकने-वाली नहीं हूँ।"

केतकी की बातें सुनकर इन्द्र का कुतूहल उलटा और बढ़ गया। उससे वह ज़रा भी न डरा, और फिर से अपने साथ विवाह करने की विनती करके बोला—"मुझसे पहले जो आये थे वे कहाँ गये?"

"उन्हें देखना है ? तो चलो !" यह कह कर केतकी इन्द्र को हिमालय की तरफ़ ले गई। वहाँ एक परम सुन्दर योगी अपनी साधना में निमग्न था ! केतकी ने दूरही से उन्हें बता कर कहा, "इनसे पूछने पर तुम्हें पता चल जायगा कि वे कहाँ हैं।"

इन्द्र ने उनसे धर्म, पवन आदि की बात पूछी पर तपस्वी के कानों में उसकी आवाज़ नहीं पहुँची। इसपर इन्द्र नाराज़ हो गया और अएटशएट कहने लगा। एकाएक योगी के नेत्रों से मानों आग बरसने लगी और देखते-देखते उनका रूप बदल गया। त्रिशूलधारी महायोगीराज रुद्र के रूप में प्रकट होकर गर्जते हुए बोले—"तुम सब बार बार, एक के बाद एक, आकर मेरे आश्रम में आई हुई आजीवन ब्रह्मचारिणी तपस्विनी पर क्यों अत्याचार कर रहे हो ? इसके लिए तुमसे पहले आये हुए चार जनों की तरह ही तुम्हें भी सज़ा होगी।" यह कह कर महादेव जी ने त्रिशूल के धक्के से एक अन्धेरी गुफा के सामने का बड़ासा पत्थर हटा दिया। इन्द्र ने भयभीत होकर देखा कि धर्म, पवन और दोनों अश्विनीकुमार हाथ-पाँव बँधे हुए इस अन्धेरी गुफा में पड़े हुए महादुःख पा रहे हैं।

यह देख डरके मारे थर-थर काँपता हुआ इन्द्र महादेवजी के चरणों में गिर पड़ा और हाथ जोड़ कर उनसे बड़ी प्रार्थना करने लगा।

शङ्कर भगवान तो ठहरे ही भोलानाथ ! उन्हें मनाने में भला क्या देर लगती है ? इन्द्र की स्तुति से वह झट प्रसन्न होगये और कहने लगे—"जाओ, मैंने तुम्हारा अपराध क्षमा किया; धर्म, पवन आदिको भी अभी मुक्त किये देता हूँ। पर कर्मों का फल तो सब को

भोगना ही पड़ेगा ! उससे बचने का कोई उपाय नहीं है। कर्म के फलस्वरूप तुम पाँचों को दण्ड भुगतना ही पड़ेगा। तुम सब मेरे साथ विष्णुजी के पास चलो। वह जो निर्णय करेंगे, उसका तुम्हें पालन करना पड़ेगा !"

तब इन पाँचों देवताओं और केतकी को साथ लेकर महादेव-जी विष्णु के पास गोलोक गये और उनसे यह सब हाल कहा। यह सब सुन कर भगवान बोले—"स्वर्ग प्राप्त होने पर भी मनुष्यों की नाईं तुम इन्द्रियों की दासता नहीं छोड़ सके, इसलिये तुम्हें मृत्युलोक में जाकर मनुष्य-शरीर तो ग्रहण करना ही पड़े-गा। देवराज इन्द्र! तुम्हारे मित्र धर्म, पवन और अश्विनीकुमारों की भी यही दशा होगी। इस दशामें केतकी तुम पाँचों की धर्म पत्नी होगी। बुरा न मानना; संसार की भलाई के लिए यही आवश्यकता आ पड़ी है। इस कार्य की सिद्धि के लिए द्वापर में, तुम्हारे साथ ही मैं भी पृथ्वी पर जन्म लूंगा।"

अस्तु, दक्षराज की यह कन्या आजीवन ब्रह्मचारिणी, तप-स्विनी केतकी संसार के किसी खास उद्देश्य की सिद्धि के लिए शाप-भ्रष्ट होकर द्वापर युग में पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या के रूप में पैदा हुई थी। इन्द्र, धर्म, पवन और अश्विनी कुमारों ने राजा पाण्डु के पुत्रों के रूप में कुन्ती के गर्भ से जन्म लिया था और वे पाँचों पाण्डवों के रूप में संसार में विख्यात हुए। दक्षकन्या केतकी दूसरे जन्म में द्रौपदी के नाम से प्रसिद्ध हुई थी।

इला

यह वैवस्वत मनु की कन्या थी। वैवस्वत मनु ने प्रजा की उत्पत्ति के लिए यज्ञ किया था। जब वह उस यज्ञ में आहुति दे रहा था, तो अग्निकुण्ड में से एक कन्या निकली; इसी का नाम इला या इडा रखा गया था। बुध के साथ इस कन्या का विवाह हुआ था। इला को अपने पिता के घर बड़ी अच्छी शिक्षा मिली थी। पुरुरवा नाम का इसके एक पुत्र हुआ था।

कात्यायनी

यह देवी भागवती का नाम है। पहले पहल महर्षि कात्यायन ने इनकी पूजा की थी; इससे इनका नाम ही कात्यायनी पड़ गया है। महिषासुर नामक राक्षस ने सौ वर्ष तक देवताओं के साथ युद्ध किया था। उस युद्ध से दुःखी हो, स्वर्ग से उतर कर, ब्रह्मा के नेतृत्त्व में देवता लोग हरि और हर के पास पहुँचे। हरि और हर ब्रह्मा के मुख से देवताओं की इस भारी विपत्ति का हाल सुन कर बड़े क्रोधित हुए और ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर के मुखारविन्द से एक अपूर्व ज्योति प्रकट हुई। उस ज्योति ने स्त्री का रूप धारण किया, जो बड़ा भयानक था। हर एक देवता ने अपने-अपने हथियार उस स्त्री को दे दिये। तब इस रमणी ने जाकर बड़ी बहादुरी के साथ महिषासुर से संग्राम किया और अन्त में महिषासुर और उसके साथी राक्षसों का संहार कर डाला। यह सिंहवाहिनी देवी (कात्यायनी) आश्विन कृष्ण चतुर्दशी (कुँआर वदी चौदश) को पैदा हुई थी,

इसी मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी, अष्टमी तथा नवमी के दिन कात्यायन ने इनकी पूजा की थी और दशमी के दिन इन्होंने महिषासुर का वध किया था। महिषासुर को इन्होंने तीन बार करके मारा था—पहली बार उग्र चण्डी-रूप धारण करके, दूसरी बार भद्रकाली बन कर और तीसरी बार दुर्गा-रूप होकर।

महिषासुर रम्भासुर का पुत्र और बड़ा मायावी था। शिव जी के वरदान से यह देवता और मनुष्य द्वारा अवध्य होकर पैदा हुआ था। परन्तु नारी-रूप-धारिणी इस देवी ने इस पराक्रमी राक्षस को देखते-देखते वध कर दिया था।

गायत्री

यह वेदमाता थीं। गानेवालों का त्राण यानी रक्षा करती हैं, इससे गायत्री कहलाती हैं। पद्मपुराण के अनुसार, यह ब्रह्मा की पत्नी थीं। ब्रह्मा की पहली स्त्री का नाम सावित्री था। एक बार ब्रह्मा ने किसी यज्ञ का आयोजन किया। पर स्त्री के बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं हो सकता है? अतः ब्रह्मा ने इन्द्र को भेजा कि वह सावित्री को बुला लावे। तदनुसार इन्द्र ने जाकर सावित्री से कहा। सावित्री ने जवाब दिया, कि "अभी लक्ष्मी आदि सतियां मौजूद नहीं हैं और मैं अकेली हूँ। अतः अपनी सखियों के आ जाने पर आऊँगी।" इन्द्र ने ब्रह्मा से यह बात जा कही। इस पर ब्रह्मा को बड़ा बुरा लगा और उन्होंने दूसरी स्त्री से विवाह कर लेने का निश्चय कर लिया। तब इन्द्र पाताल से एक ग्वालन को पकड़ लाया और गन्धर्व-रीति से ब्रह्मा ने

उसके साथ विवाह कर लिया। इसी स्त्री का नाम गायत्री था। इनके एक हाथ में हरिण का सींग था और दूसरे में कमल, वस्त्र लाल थे, गले में मोतियों का हार था, कान में कुण्डल थे, और मस्तक पर मुकुट था। वेद में लिखा है कि एक दिन क्रोध में आकर बृहस्पति ने गायत्री का मस्तक छेद डाला; पर इससे गायत्री के प्राण न निकले, प्रत्युत् मस्तक से वषट्कार देवता पैदा हुआ। अनेक इसे कोरी कपोल-कल्पना मानते हैं। जो हो, गायत्री हिन्दू-धर्म का मूल मंत्र है। आज संरक्षक और सुधारक सम्प्रदाय के करोड़ों हिन्दू भक्तिभाव से गायत्री-मंत्र का जाप करके परब्रह्म परमात्मा की उपासना करते हैं।

जगद्धात्री

यह चार भुजावाली सिंहवाहिनी देवी है। शारदीय (कुँआर की) दुर्गा-पूजा के बाद इस देवी की पूजा होती है। एक दिन की बात है जब कुछ देवताओं ने मिल कर यह निर्णय किया कि हमारे ऊपर और कोई देवता नहीं है। हम स्वयं ही ईश्वर हैं; परमेश्वर कोई नहीं है। देवी दुर्गा को जब इन देवताओं का उद्धत मनोभाव मालूम हुआ, तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। कोटि सूर्यों की प्रभा के समान उग्र ज्योतिर्मय स्वरूप धारण करके वह देवताओं के पास पहुँचीं। अग्नि, वायु और देवता इस ज्योति के स्वरूप का निर्णय न कर सके। तब उन्होंने आपस में सलाह करके सब से पहले पवनदेव को देवी के पास भेजा। देवी ने उनके सामने एक तिनका रख कर कहा—"तुम इस तिनके को

उड़ा सको, तभी मैं समझूँगी कि वास्तव में तुम सामर्थ्यवान् हो।" इस पर पवन ने बहुतेरा जोर लगाया, पर उड़ना छोड़ तिनका तो हिला तक नहीं ! तब अग्निदेव आये। उनसे देवी ने उस तिनके को जला डालने के लिए कहा, पर अग्निदेव उसे जला न सके। यह देख इन उद्धत देवताओं का घमण्ड दूर हो गया और ज्योतिर्मयी देवी को ही परमेश्वरी मान, वे उसकी पूजा करने लगे। उन्हें विश्वास हो गया कि हम सब को सामर्थ्य प्रदान करने वाला इस जगत का नियन्ता कोई दूसरा जरूर है; कि—

"भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥"

जिसके भय से आग सुलगती है, सूर्य्य तपता है, बादल बरसता है, हवा चलती है, और मृत्यु होती है।

इस प्रकार जगद्धात्री देवी ने देवताओं से जगत्कर्त्ता और जगन्नियन्ता परमात्मा की महिमा को स्वीकार कराया था। बंगाल में जगद्धात्री की पूजा बहुत प्रचलित है। इनके चार भुजाएं हैं, तीन नेत्र हैं, हास्यमुख है, और शेर की सवारी है। इनकी पोशाक लाल वस्त्रों की है और तमाम शरीर गहनों से सज्जित है।

देवसेना

यह सावित्री के गर्भ से उत्पन्न हुई, प्रजापति की कन्या थीं। इनका दूसरा नाम षष्ठी था। मातृधर्म का पालन करने में यह अत्यन्त श्रेष्ठ थीं। देव सेनापति कार्त्तिकेय के साथ इनका विवाह हुआ था। इन्होंने अपनी सन्तानों का पालन-पोषण बड़ी उत्त-

मता के साथ किया था और उन्हें अच्छी शिक्षा दी थी। शिशु-पालन के लिए यह सुप्रसिद्ध हैं।

विनता

यह प्रजापति कश्यप की पत्नी थीं। अरुण और गरुड नाम के इनके दो बड़े पराक्रमी पुत्र थे। प्रतिज्ञापूर्त्ति के लिए, ५० वर्ष तक, इन्होंने अपनी सौत की दासता की थी।

अश्विनी

यह प्रजापति दक्ष की कन्या और चन्द्रमा की पत्नी थीं। इन्हीं के नाम पर एक नक्षत्र का नाम भी अश्विनी रक्खा गया है।

शतरूपा

यह स्वायंभुव मनु की महारानी थीं। पति-पत्नी दोनों बड़े विद्वान और सदाचारी थे। इस प्रेमी दम्पत्ति का सांसारिक जीवन बड़ा सुखपूर्ण था। इनके बड़े पुत्र का नाम उत्तानपाद था। उत्तानपाद के पुत्र ध्रुव ईश्वरभक्ति के द्वारा अपना नाम अमर कर गये हैं। दूसरे पुत्र का नाम प्रियदत्त था। वह भी बड़ा पराक्रमी और सदाचारी था। पुराणों में उनकी बड़ी प्रशंसा है। शतरूपा के देवहूती नाम की एक कन्या भी थी, जो कर्दम ऋषि के साथ व्याही गई थी। देवहूती के गर्भ से कपिल

जी उत्पन्न हुए थे। कपिल मुनि ने सांख्यशास्त्र रचा था और तत्त्वज्ञान में यह बड़े प्रवीण थे।

स्वायंभुव मनु महाराज ने बहुत काल तक राज्य किया, और ईश्वर की आज्ञाओं का पालन करते हुए प्रजा को बड़ा सन्तोष पहुँचाया। इस प्रकार राज्य करते और गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए उनका चौथापन (बुढ़ापा) आ गया और विषय-भोग के प्रति उन्हें वैराग्य हो गया। तब उनके मन में बड़ा सन्ताप हुआ कि हाय! राजवैभव और गृहस्थाश्रम के सुख में ही सारा जीवन बीत गया; परमात्मा की भक्ति कुछ भी न हो सकी। यह सोचकर उन्होंने अपना राजपाट पुत्र को सौंप दिया और स्वयं रानी शतरूपा के साथ जंगल में चल दिये और नैमिषारण्य के पवित्र तीर्थ में रहने लगे। पति-पत्नी इस बन में ही प्रसन्नचित्त रहते थे वहाँ और भी अनेक सिद्ध मुनि पहले से ही वास करते थे। राजा मनु और रानी शतरूपा जब राजवैभव को छोड़कर वन में जा रहे थे, तब कैसा लगता था, वह कवि के शब्दों में सुनिये—

"पन्थ जान सोहहिं मति धीरा।
ज्ञान भगति जनु धरे शरीरा॥"

इस प्रकार जाते हुए जब यह गोमती नदी के किनारे पहुँचे, तो उसके निर्मल जल में इन्होंने स्नान किया। उसके आगे इन्हें धर्म धुरन्धर राजर्षि समझ कर अनेक ऋषि-मुनि इनसे मिलने के लिए आये। आगे जाते हुए भी इनसे अनेक साधु-सन्त मिले और उनसे ज्ञान की बातें हुई। भिन्न-भिन्न तीर्थों में इन्होंने तपस्या भी खूब की। इससे दोनों के शरीर दुर्बल हो गये। रानी शत-रूपा ने भी अब बल्कल वस्त्र धारण कर लिये थे और परमात्मा

का नाम जपने में ही उनका कालयापन होता था। वनवास में स्त्री-पुरुष दोनों केवल शाक, कन्द और फलों का ही भोजन करते थे। कुछ दिनों बाद उन्होंने तप शुरू किया और फलाहार को भी छोड़ कर केवल हवा पर ही जीवन-निर्वाह करने लगे। तदुपरान्त कई वर्ष तक एक पाँव पर खड़े रह कर तपस्या की। ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन पर प्रसन्न होकर अनेक बार इनके पास आये और कहने लगे हे राजा मनु और रानी शतरूपा ! हमें तुम्हारे तप से बड़ी प्रसन्नता हुई है; अतः तुम जो वरदान चाहो, वह माँगो !

प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥
'माँगु माँगु वर' भई नभवानी। परम गम्भीर कृपामृतसानी॥

मरे को भी जीवित कर देनेवाली यह सुन्दर आकाशवाणी कान में होती हुई जब राजा के हृदय में पहुँची, तो उनके शरीर की तमाम थकान दूर हो गई। उनका शरीर बड़ा सुन्दर हो गया। हृदय में प्रेम उमड़ आया और देवता को साष्टांग प्रणाम करके उन्होंने यह प्रार्थना की:—

"सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। विधि-हरि-हर-वंदित-पद-रेनू॥
सेवत सुलभ सकल सुखदायक। प्रनतपाल सचराचर-नायक॥
जौ अनाथहित हमपर नेहू। तौ प्रसन्न हो कर वर देहू॥
जो सरूप बस शिव मन मांहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि-मन-मानस-हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रशंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरी लोचन। कृपा करहु प्रनतारत-मोचन॥"

राजा-रानी की यह प्रार्थना मृदु, नम्र एवं भक्तिरस से परिपूर्ण थी; सो भगवान को बड़ी पसन्द आई। करुणानिधान भगवान प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष प्रगट हुए और राजा-रानी की इच्छा पर

उन्हें यह वरदान दिया कि 'भावी रामावतार के समय में तुम्हारे पेट से पुत्र-रूप में पैदा होकर तुम्हारी इस प्रेम-भक्ति का बदला चुकाऊँगा।'

अस्तु। रानी शतरूपा ने अपने पुत्र-पुत्रियों को जो असाधारण ज्ञान एवं सदाचार की शिक्षा दी थी, और आगे चलकर उनकी सन्तानों के जीवन जैसे यशस्वी एवं लोकोपकारी हुए, यह सब जानते हैं। ऐसी योग्य सन्तानों पर से भी पाठक और पाठिकाएं इनकी माता की महत्ता का अनुमान लगा सकते हैं।

देवहूती

प्राचीन काल में हमारे देश में ऐसी पुस्तकें रची गई हैं कि जिनमें जगत, प्रकृति, मनुष्य, आत्मा, ईश्वरीय तत्व धर्म आदि विषयों की गहरी विवेचना की गई है। यह पुस्तकें दर्शनशास्त्र के नाम से विख्यात हैं। दर्शनशास्त्र की कुल छः पुस्तकों में सांख्यदर्शन सब से पहले रचा गया था। गम्भीर युक्तियों के साथ आत्मा और प्रकृति के तत्व संबंधी विवेचना करने वाला सांख्य दर्शन जैसा ग्रन्थ संसार भर में दुर्लभ है। महर्षि कपिल ने इस सांख्यदर्शन की रचना की थी, जो देवहूती के गर्भ से पैदा हुए थे।

देवहूती मनु नाम के एक प्रसिद्ध राजा की पुत्री थी। उनकी माता का नाम शतरूपा था। पिता के घर इन्होंने अनेक विद्याओं में विशेष दक्षता प्राप्त की थी। इस समय कर्दम नाम के एक ऋषि बड़े भारी पण्डित और परम धार्मिक थे। कर्दम ऋषि की

विद्या, पाण्डित्य एवं धर्म-शीलता देखकर देवहूती उनपर मुग्ध हो गई और पिता से निवेदन किया कि मैं तो इस ब्राह्मण ऋषि ही से विवाह करूँगी।

कन्या (देवहूती) की यह उचित बात सुनकर पिता को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने कर्दम ऋषि के साथ ही उनका विवाह कर दिया।

देवहूती के, नौ लड़कियाँ और कपिल नाम का एक लड़का इस प्रकार, कुल दस सन्तान पैदा हुईं। जब कपिल बड़े हो गये, तो देवहूती और उनकी नवों कन्याओं के भरण-पोषण का भार उन पर डाल कर कर्दम ऋषि वानप्रस्थी हो गये।

इस समय कपिलजी ने सांख्य दर्शन रच कर देश-विदेशों में बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी। विदुषी एवं ज्ञानवती माता देवहूती अपने पण्डित पुत्र के साथ नाना प्रकार की शास्त्र-चर्चा करती हुई बड़े आनन्द के साथ अपना कालक्षेप करती थी।

कपिल के सांख्य की रचना कर लेने पर उसमें लिखे हुए तत्वज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने की देवहूती को बड़ी इच्छा हुई। एक दिन उन्होंने अपने पुत्र से कहा—"बेटा! मैंने कई शास्त्र पढ़े हैं, पर प्राणों का मोह जरा भी नहीं छूटा। क्योंकि 'मैं' और 'मेरा' इस भाव को छोड़ कर, जीवन के सार-रूप विशुद्ध आत्म-पुरुष को मैं अभी तक नहीं पहचान सकी। इसलिये तू अपने सांख्यशास्त्र में लिखे हुए पुरुष और प्रकृति का तत्व मुझे समझा, जिससे मैं मोह से मुक्त होकर दिव्य ज्ञान को प्राप्त कर सकूँ।"

तब कपिल ने माता को सारा सांख्यशास्त्र समझाकर पढ़ सुनाया। पुत्र से तत्व-ज्ञान प्राप्त करके उसका बारम्बार चिन्तन तथा

ध्यान करने से धीरे-धीरे देवहूती अपना अहम्भाव भूल गईं और मोहयुक्त आत्म-पुरुष को पहचान कर मुक्ति को प्राप्त हो गईं।

जिस जगह उन्होंने इस प्रकार सिद्धि प्राप्त की वह सिद्धिपद के नाम से मशहूर हो गया और बहुत दिनों तक लोग उसे परम पवित्र तीर्थ मानते रहे।
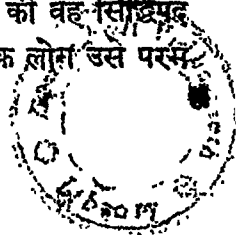
अरुन्धती

यह दक्ष की कन्या और महामुनि वशिष्ठ की साध्वी पत्नी थीं। अपने समय में यह सर्वश्रेष्ठ सती मानी जाती थीं। महादेवजी की माया तक से यह मोहित नहीं हुई थीं। भारतवर्ष में विवाह के समय इस महापतिव्रता का स्मरण किया जाता है। वेदशास्त्रों में यह विशेष प्रवीण थीं। अत्यन्त प्रतिभासम्पन्न होने पर भी यह बड़ी उदार हृदय और क्षमाशील थीं। विश्वामित्र ने इनके सौ पुत्रों को मार डाला, फिर भी इन्होंने शत्रु को शाप नहीं दिया था। तपोबल इतना था कि उससे इन्होंने शुचिस्मिता के स्वामी को फिर से जीवित कर दिया था।

एक दिन की बात है कि मुनिपत्नियों के साथ विहार करने के विचार से साधु के वेश में भस्म आदि लगाये हुए महादेव ने देवदार के वन में प्रवेश किया। मुनिपत्नियाँ उनको देखते ही आसक्त हो गईं और मुनियों के बहुत कुछ समझाने पर भी उन्मत्तसी होकर उन के पीछे-पीछे फिरने लगीं। आबाल, वृद्ध सब स्त्रियाँ इस समय कामातुर हो गई थीं; केवल एक अरुन्धती देवी ही ऐसी थीं जो महादेव के मायाजाल में नहीं फँसीं; इनके मनमें काम का ज़रा भी

विकार पैदा नहीं हुआ। दूसरी सब ऋषि पत्नियाँ अपने-अपने पतियों को छोड़ कर चली गई थीं। फूल के आसपास जैसे भौंरा फिरा करता है वैसे ही महादेवजी के पीछे-पीछे यह ऋषिपत्नियाँ फिरने लगी थीं। इसी वेश में महादेवजी वशिष्ठ मुनि के दर्वाजे पर भी गये और देवी अरुन्धती से कहने लगे—"देवी! भिक्षा दो! मैं शङ्कर तुम्हारा अतिथि होकर आया हूँ। इस जंगल में मुनियों ने तो मुझे मार कर निकाल दिया है, पर मुनिपत्नियाँ मेरी टहल करती हैं। देवी! तुम भी मेरा मनमोहक स्वरूप देखो। देखो तो सही, मुनियों ने मुझे कैसा लहू-लुहान कर दिया!" इस प्रकार कह कर धीरे-धीरे महादेवजी ने अपने तमाम अंग देवी को बताये। देवी अरुन्धती ने महादेवजी को अपने पुत्र शक्ति के समान समझ कर मातृभाव से उनके तमाम अंगों को धोकर साफ कर दिया और तमाम शरीर में कामधेनु (गाय) का घी मला। तदुपरान्त शुद्ध जल से स्नान कराकर नाना प्रकार के सुगन्धित लेपों और फूलों से उनके शरीर को विभूषित किया। इसके बाद विभिन्न प्रकार से उनकी पूजा करके कन्दमूल और फलफूलादि का स्वादिष्ट भोजन कराकर अरुन्धतीजी बोलीं—"भगवन्, नमस्कार! पुत्र! अब तुम्हें जिस देश में जाना हो, वहाँ जाओ।"

अतिथि इस बात से बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"देवी! तुमने धर्म की बात कही है। मैं सब का पूज्य हूँ। तुम्हारे व्यवहार से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ। जाओ, मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ कि तुम अखण्ड सौभाग्यवती होओ और तुम्हारे क्षमाशील वृद्ध पति फिर से युवावस्था एवं देवताओं सरीखा सुन्दर और अजर रूप को प्राप्त करें।"

इस प्रकार अपने आचरण से अरुन्धती ने यह प्रमाणित कर दिया कि कामदेव की मलिन वासनावाले पर-पुरुष से काम पड़ने पर उसके प्रति मातृभाव अथवा भगिनी-भाव धारण करने से अपना मन चंचल नहीं होने पाता और उस पुरुष पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ता है।

अरुन्धती के ऐसे अपूर्व पातिव्रत्य के कारण ही विवाह-संस्कार में उनकी स्तुति की जाती है। पुरोहित कन्या से कहते हैं, कि "इन वशिष्ठ-पत्नी के दर्शन करो, जो अपने पातिव्रत्य के माहात्म्य से चाहे जो कर सकती हैं। इनके दर्शनों से तुम महा-साध्वी बनोगी, और दर्शन न करोगी तो असाध्वी।" इसी पर से यह रीति प्रचलित है कि विवाह की रात को कन्या को अरु-न्धती नक्षत्र का दर्शन कराया जाता है। क्योंकि प्राचीन आर्य्य अपने महापुरुषों और स्त्रियों की स्मृति को नई रखने के लिए उनके नाम पर किसी मुख्य तारे या नक्षत्र ही का नाम डाल दिया करते थे; जिससे आर्यों को उनके सद्गुणों का स्मरण सदा होता रहे। अरुन्धती देवी के तारे का जो कन्याएं दर्शन करती हैं वे विद्वान पति को पाने और उसकी प्रियतमा बनने की अभिलाषिणी होती हैं।

एक दिन सूर्य, इन्द्र और अग्नि यह तीनों देवता कहने लगे कि शास्त्रीय सिद्धान्त तो यह है कि स्त्रियों के लिए पति ही देवता है, उसीकी आराधना से उन्हें सब कुछ मिलता है और परलोक में शुभगति प्राप्त होती है; पर रमणियों के कार्य देख कर तो इसकी सच्चाई में सन्देह होता है। क्योंकि झूठ बोलना, दुस्साहस, माया, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता और निर्दयता यह सातों स्वा-

भाविक दोष तो उनमें हैं, सत्यपरायण स्त्रियां तो बहुत कम मिलती हैं। जो ऐसी पवित्र और सदाचारिणी स्त्रियां हैं, उनमें वशिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती मुख्य हैं। एक बार अग्निदेव सप्तर्षियों की पत्नियों पर आसक्त हो गये थे; तब उनकी सती स्त्री स्वाहा ने दूसरे छः ऋषियों की पत्नियों का रूप तो धारण कर लिया, पर वसिष्ठजी की पत्नी अरुन्धती का रूप वह धारण न कर सकी। तब स्वाहा ने उनकी स्तुति की, कि हे कल्याणी! हे साध्वी अरुन्धती! तुम धन्य हो! एकमात्र तुम ही पातिव्रत धर्म का सच्चा पालन करनेवाली हो। तुम सरीखी पतिव्रता मैंने और नहीं देखी। अतः जो कन्याएं विवाह के समय उत्तमतापूर्वक एकाग्रचित्त से स्वामी का हाथ पकड़ कर तुम्हारा स्मरण करेंगी उन्हें सुख, धन एवं पुत्र की प्राप्ति होगी और वे अखण्ड सौभाग्यवती होंगी।' इस प्रकार वातचीत हो ही रही थी कि एकाएक तीनों देवता वोल उठे—"चलो, स्त्रियों के पातिव्रत-धर्म को जानने के लिए हम लोग महासती अरुन्धती के पास ही क्यों न चलें?" और सूर्य, इन्द्र व अग्नि तीनों अरुन्धती के पास चल दिये। संयोगवश अरुन्धतीजी मार्ग में ही मिल गईं। वे बगल में घड़ा दबाए पानी भरने को घर से जा रही थीं। इससे सूर्यादि देवता बड़े प्रसन्न हुए और उनके मार्ग में खड़े हो गये। अरुन्धती ने उन्हें देखा, तो पहचान कर प्रदक्षिणा की और प्रणाम करके प्रसन्नतापूर्वक पूछा—"कहिये देवगण! आपका शुभागमन कैसे हुआ?" देवताओं ने कहा—"हमें आप से एक बात का खुलासा करना है। इसीलिये हम आये हैं। आशा है, आप उसका यथोचित उत्तर देकर हमें कृतार्थ करेंगी।" अरुन्धती वोलीं—"कुछ देर

आप घर पर ठहरिये, मैं यह घड़ा भरकर अभी आती हूँ; तब मैं आपकी बात का खुलासा करूँगी।" सूर्यादि देवता बोले—"हे सती! इस घड़े को तो हम अभी भरे देते हैं।" और तीनों देवताओं ने अपने-अपने विशेष गुणों के प्रभाव से, चौथाई चौथाई करके, पौना घड़ा भर दिया। तब अरुन्धती बोलीं—"स्त्रियों को जहाँ तक एकान्त नहीं मिलता और परपुरुषों के साथ विशेष बातचीत करने का मौक़ा नहीं पड़ता, तहाँ तक उनका सतीत्त्व पूर्णतः सुरक्षित रहता है। इसलिये अच्छे घर की स्त्रियों को बन्धु-बान्धवों तथा बड़ी स्त्रियों द्वारा सुरक्षित रहने की व्यवस्था करनी चाहिये।" इसके बाद उन्होंने कहा—"हे देव! अगर मेरा कथन असत्य न हो तो उसकी सत्यता के द्वारा, मेरे घड़े का चौथाई भाग भी भर जाय!" और उसके मुँह से यह शब्द निकले नहीं कि तुरन्त ही घड़ा ऊपर तक पानी से भर गया। यह देख देवताओं ने कहा—"देवी! हम इसी बात का खुलासा जानने के लिए आपके पास आये थे। अतः अब वापिस अपने-अपने स्थानों को जाते हैं।" जब देवता चलने लगे, तो अरुन्धती ने फिर से कहा—"रमणियाँ तीन प्रकार की होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। सब स्त्रियाँ एकसी नहीं होतीं; किसी में सद्गुण अधिक होते हैं, किसी में कम। पर देवता लोग यह सब जानते हैं इसलिये ज्यादा कहना व्यर्थ है।" इसके बाद प्रणाम करके देवताओं को बिदा किया और देवताओं ने अपने-अपने स्थानों में जाकर अरुन्धती का माहात्म्य वर्णन किया। तभी से हिन्दू कन्याओं के विवाह के समय नव वधू को अरुन्धती नक्षत्र के दर्शन कराने का रिवाज जारी हो गया है।

ममता

ममता दीर्घतमा ऋषि की माता थीं। पर उनकी प्रसिद्धि दीर्घतमा को जन्म देने से ही हुई है, सो बात नहीं। क्योंकि वह स्वयं भी असाधारण ब्रह्मपरायण थीं। यही नहीं बल्कि अग्नि के उद्देश से पवित्र स्तुति-पाठ भी वह करती थीं जिसका एक उदाहरण ऋग्वेदसंहिता के पहले मण्डल के १०वें सूत्र की ऋचा में मिलता है। उसका भावार्थ निम्न प्रकार है:—

हे दीप्तिमान, असंख्य चोटियोंवाली और देवताओं को बुलाने वाली अग्नि! दूसरी अग्नि की मदद से प्रकाशित होकर आप इस मनुष्यस्तोत्र को सुनिये। श्रोता लोग ममता की तरह ही अग्नि के उद्देश से इस मनोहर स्तोत्र को पवित्र घी की नाईं अर्पण करते हैं।

भारद्वाज ऋषि ने एक जगह लिखा है कि स्तोत्र पाठ करने वाले ममता की तरह अग्निस्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। पर ममता का स्वामी कौन था, इसका पता नहीं लगता।

उशिज

उशिज ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि की पत्नी थीं। पहले यह कलिंग नामक एक राजा के यहाँ दासी थीं। इससे प्रकट होता है कि इनमें कोई असाधारण गुण अवश्य रहा होगा, जिसके कारण दासी से ऋषि की पत्नी हो गईं। काक्षीवान् ऋषि इनके पुत्र थे, जो एक बड़े प्रसिद्ध ऋषि हुए हैं। ऋग्वेद के पहले मण्डल के ११६ से लेकर १२१ तक के श्लोक इन्हीं के रचे हुए हैं। इन काक्षीवान् की कन्या घोषा का चरित्र आगे दिया जायगा।

घोषा उशिज की पोती थीं। इस पर से यह कहा जा सकता है कि स्वामी, श्वसुर, पुत्र और पोती सब का इतिहास इस कुटुम्ब का गौरव बढ़ानेवाला है। इस प्रकार उशा ने भाग्यवान् स्त्री हो कर संसार में परम आनन्द से अपने दिन बिताये थे। अपनी सन्तानों को इन्होंने अच्छी शिक्षा दी थी। दीर्घश्रवा इनके दूसरे पुत्र का नाम था। वह भी एक प्रख्यात ऋषि हुए हैं। वर्षा के लिए उन्होंने अश्विद्वय का स्तवन किया था।

वाक्

यह अम्भृण ऋषि की कन्या थीं। ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल के १२५वें सूक्त के आठ मंत्र इन्होंने रचे थे, जो देवीसूक्त के नाम से प्रचलित हैं। आज हमारे देश में जगह-जगह जो चण्डी-पाठ होता है, पूर्वकाल में उसकी जगह इस देवीसूक्त का ही प्रचार था। मार्कण्डेय पुराण के चण्डी-माहात्म्य-प्रकरण में वाक्-प्रणीत इन आठ मंत्रों के भाव-विषयक विस्तृत वर्णन हैं। चण्डी-माहात्म्य के साथ-साथ आज भी भारत-भर में इस वाक्देवी का माहात्म्य गाया जाता है। संसार में अद्वैत-वाद के प्रवर्त्तक के रूप में श्रीशङ्कराचार्य प्रसिद्ध हैं, पर वाकदेवी ने उनके जन्म से अनेक वर्ष पहले ही अद्वैतवाद के उन मूल सिद्धान्तों का प्रचार कर दिया था। जिस मत के आधार पर शङ्कराचार्यजी विश्वव्यापी बौद्धधर्म के ग्रास से ब्राह्मण-धर्म का उद्धार कर सके, सच पूछो तो वह मत उनका अपना नहीं प्रत्युत् उसकी मूलजनक वाक्देवी हैं। अतः इस महत्त्व के लिए हम

शङ्कराचार्यजी का जो सन्मान करते हैं, उसकी बहुत कुछ पात्र वास्तव में वाक्‌देवी ही हैं।

वाक् अपने रचे हुए श्लोक में कहती हैं:—"मैं रुद्र, वसु सब की आत्मारूप होकर विचरण करती हूँ। मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि एवं अश्विद्वय को मैं ही धारण करती हूँ। तमाम जगत की मैं ईश्वरी (अधिष्ठात्री) हूँ। अनेकानेक प्राणी मुझ में समाविष्ट हैं। जीव जो कुछ सुनता है, प्राण धारण करता है अथवा आहार करता है, वह सब मेरे ही द्वारा होता है। देवता और मनुष्य मेरी ही सेवा करते हैं। मैं ही समस्त कामनाओं को पूर्ण करती हूँ। लोगों को मैं स्रष्टा, ऋषि अथवा बुद्धिमान बना सकती हूँ। स्तोत्रों के द्वेषी और हिंसकों के वध के लिए रुद्र के धनुष में मैं ही पिरोई गई थी। भक्तों के उपकार के लिए उनके दुश्मनों से मैंने ही युद्ध किया है। स्वर्ग और पृथ्वी में प्रविष्ट होकर मैं ही रही हूँ। इस भूलोक पर आच्छादित आकाश को मैंने ही बनाया है। वायु जिस प्रकार स्वेच्छापूर्वक चलती है, अखिल विश्व को उत्पन्न करने वाली मैं भी, उसी प्रकर अपनी इच्छानुसार ही सब काम करती हूँ। जो कुछ पैदा हुआ है, वह सब मेरे अपनी ही माहात्म्य से हुआ है।"

रोमशा

यह भावभव्य की धर्मपत्नी और बृहस्पति की पुत्री थीं। यह किस नगर में पैदा हुई, अथवा कहाँ रहती थीं, इसका पता नहीं चलता। इन्होंने ऋग्वेद संहिता के पहले मण्डल के

१२६ वें सूक्त की सात ऋचाएँ रची हैं। यह ब्रह्मवादिनी (ब्रह्म को माननेवाली) थीं और जिन-जिन बातों से स्त्रियों की बुद्धि का विकास होता है उनका वेदानुसार प्रचार करती थीं; इसीलिये रोमशा नाम से प्रसिद्ध हुई हैं। वेद और शास्त्रों की अनेक शाखाएँ इनके रोम (शरीर के वाल) हैं। और जो इसीका प्रचार करे वह रोमशा। कुछ टीकाकारों ने इनकी रची हुई ऋचाओं का ऐसा घृणित अर्थ किया है कि जिसे देख कर वड़ा तिरस्कार उत्पन्न होता है। परन्तु एक विद्वान परिडत ने उसका जो अर्थ किया है उससे रोमशा के स्थिर किये हुए वेद के सिद्धान्त का अच्छा भान होता है। वह भावार्थ इस प्रकार है:—

"जो जितेन्द्रिय उद्योगी पुरुष बुद्धि से काम लिया करते हैं उनके प्रति कृतज्ञता-प्रकाश करने के लिये यह प्रार्थना है। पुरुषार्थी कहते हैं कि बुद्धि हमें सैकड़ों खाने के चीजें देती है। पर कब देती है? तव ही न, जव कि उसे चारों ओर से जकड़ा जाय। बुद्धि पर जो दृढ़ रहता है बुद्धि भी थारी के समान उसे ग्रहण करती है और उसके तमाम दुराचारों का नाश कर देती है।"

आगे चलकर बुद्धि कहती है—"हे मनुष्य! हे उद्यमी पुरुष मेरे निकट-से-निकट आकर मेरे वारे में मीमांसा करो। ऐसा विचार कभी मत करो कि मेरे पास विद्या-रूपी धन कम है; क्योंकि मैं तो सव तरह से धनवान हूँ। मेरी सम्पत्तियाँ अनेक हैं।"

इस प्रकार बुद्धि की महिमा का प्रचार करके रोमशा संसार में प्रख्यात हो गई हैं।

लोपमुद्रा

यह विदर्भ राजा की कन्या और महर्षि अगस्त्य की साध्वी धर्मपत्नी थीं। विदर्भ राजा ने बहुत दिनों तक सन्तान के लिए तपस्या की थी, तब यह सुभागा कन्या पैदा हुई थीं। यह बड़ी सुन्दर और कान्तियुक्त थीं। फिर ज्यों-ज्यों बड़ी होती गईं, त्यों-त्यों इनका सौन्दर्य और लावण्य और भी खिलता गया। इनके सुलक्षणों को देखते हुए, ब्राह्मणों की सलाह से, राजा ने इनका नाम लोपमुद्रा रक्खा। जब यह युवावस्था को प्राप्त हुईं, तो इनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए सौ सखियाँ और सौ सेविकाएं रात-दिन इनके साथ रहने लगीं। सच्चरित्र और सदाचार-सम्पन्न लोपमुद्रा अब जवान हो गई थी, मगर विदर्भ राजा के भय से किसी पुरुष को यह साहस न हुआ कि उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट करे। अप्सराओं से भी अधिक रूपवाली सत्यशीला लोपामुद्रा अपने सुशीलल स्वभाव से पिता और सगे-सम्बन्धियों के सन्तोष का कारण बनने लगी—उससे उन्हें बड़ा सन्तोष पहुँचता था। उसके सद्गुणों और विद्या-प्रेम को देख कर विदर्भ राजा अकसर सोचा करते कि ऐसी कन्या के लिए योग्य-वर कहाँ मिलेगा? इसी बीच में कुछ ऐसा संयोग हुआ कि एक दिन महातपस्वी और ब्रह्मचारी अगस्त्य मुनि ने कई आदमियों को एक बाड़े में औंधे-सिर लटकते हुए देखा। अगस्त्य ऋषि ने उनसे पूछा—"आप लोग कौन हैं आपकी ऐसी दशा कैसे हुई?" तब उन्होंने जवाब दिया—"हम लोग तुम्हारे पितृ हैं। तुमने अभी तक न तो अपना विवाह किया और न करने की इच्छा ही

रखते हो, इसीलिये हमारी यह दशा हुई है जब तक तुम सन्तान पैदा न करोगे, इस दशा से हमारा उद्धार नहीं होने का।" इसपर अगस्त्य मुनि अपने योग्य स्त्री की तलाश करने लगे। जब उन्हों ने लोपमुद्रा के रूप-गुण का हाल सुना, तो वह विदर्भ-राजा के के पास पहुँचे और बोले—"राजन्! आपकी कन्या बड़ी सुशील सदाचारिणी, विदुषी और गृहस्थाश्रम के सब धर्मों की पूर्ण ज्ञाता है। अतएव, पुत्रोत्पत्ति के लिए, मैं उसके साथ विवाह करना चाहता हूँ।" मुनि की यह बात सुनते ही राजा के तो होश ही उड़ गये। उन्होंने जाकर रानी से कहा—"यह महर्षि अगस्त्य बड़े पराक्रमी और ब्रह्मनिष्ठ हैं। अगर इनकी मंगनी स्वीकार न की गई, तो यह बड़े नाराज़ होंगे और शाप-द्वारा हमें जला कर भस्म भी कर सकेंगे। यह सब जानते हुए भी लोपमुद्रा सरीखी सुलक्षणा, सर्गगुण-सम्पन्न कन्या को वनवासी तपस्वी के हाथों सौंप देने को मेरा जी नहीं करता। इसलिये प्रिये! तुम्हीं बताओ अब मैं क्या करूँ?" रानी राजा की इन बातों का कोई जवाब न दे सकीं। इतने में राजा-रानी को चिन्तित देखकर स्वयं लोपमुद्रा ही वहाँ आ पहुँची और उनका मनोभाव जान कर कहने लगी—"पिताजी! मेरे लिए आप ज़रा भी चिन्ता न करें। आप बेधड़क मुझे अगस्त्य ऋषि के साथ ब्याह दीजिये और अपनी रक्षा कीजिये।" कन्या की ऐसी पितृ-भक्ति और उसके हृदय की विशालता को देख कर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई और मुनि के साथ उन्होंने उसका विवाह कर दिया। इस प्रकार विदर्भ-राज की एकाएक सन्तान, बड़े लाड़-चाव में पली हुई राजकन्या लोपमुद्रा आज ऋषिपत्नी बन गई। विवाह होने के बाद तुरन्त ही

मुनि ने लोपमुद्रा से कहा—"कल्याणी ! अब तुम राजकन्या से ऋषिपत्नी बनी हो। यह बहुमूल्य वस्त्रालङ्कार हमारे आश्रम में नहीं शोभते, इन्हें छोड़ दो।" ऋषि की यह बात सुन कर परम-सुन्दरी लोपमुद्रा ने अपने वस्त्राभूषण उतार दिये और उनकी जगह वल्कल वस्त्र धारण करके वह स्वामी की सहधर्मिणी बन गई। अगस्त्य ऋषि वहाँ से विदा हो, गङ्गा के किनारे जाकर पत्नी-सहित कठोर तप करने लगे। इस समय लोपमुद्रा प्रेमपूर्वक स्वामी की सेवा करती और खुद भी तपस्या करती। उसके व्य-वहार से मुनि भी बड़े प्रसन्न रहने लगे। प्रसन्न रहने में आश्चर्य भी क्या ? लोपमुद्रा परछाई की नाई सदैव उनके साथ ही रहती। उनके खा लेने पर खुद खाती, उनके सो जाने पर सोने जाती और उनके उठने से पहले जाग कर काम-धन्धे में लग जाती। रात-दिन स्वामी के ध्यान में ही रहतीं; उनकी आज्ञा बगैर कोई भी काम न करतीं। देवता, अतिथि और गायों की सेवा करने में भी वह कभी किसी से पीछे न रहती।

पति-पत्नी को इस प्रकार तप करते हुए बहुत दिन बीत गये। यहाँ तक कि मुनि को यह भी स्मरण न रहा कि पुत्र-प्राप्ति के लिए ही उन्होंने अपना विवाह किया था। इतने में एक दिन मुनि ने तप से प्रदीप्त लोपमुद्रा को ऋतुधर्म की समाप्ति पर स्नान की हुई दशा में देखा। उसका परिचय, पवित्रता, जितेन्द्रियता एवं श्री और रूपलावण्य को देखकर वह उसपर आसक्त हो गये और पुत्रोत्पत्ति के लिए रतिक्रीड़ा करने को उन्होंने उसे बुलाया। लोपमुद्रा लज्जा से सकुचा गई। और हाथ जोड़ कर प्रेम के साथ स्वामी से कहने लगी—"हे ब्रह्मन् ! इसमें ज़रा भी शक नहीं कि

सन्तानोत्पत्ति के लिए ही स्वामी स्त्री को ब्याहता है। संसार में साररूप जितनी चीजें हैं, उन सब में का एक मात्र सार पति ही है। रमणियों को बन्धुओं में अपने पति से बढ़ कर अच्छा बन्धु कोई नहीं दीखता। वह रमणियों का पालन-पोषण करता है, इसलिये पति होता है; शरीर का ईश्वर होने के कारण स्वामी है; सब विषयों की अभिलाषा प्रेमपूर्वक पूर्ण करने के कारण कान्त है; सुख में वृद्धि करने के कारण बन्धु है; प्राण का मालिक होने से प्राणेश्वर है; रतिदान करने के कारण रमण है; और प्रेम करने के कारण प्रिय कहलाता है। पति से बढ़कर प्रिय और कोई नहीं। उस प्यारे के वीर्य से ही पुत्र पैदा होता है; इसीलिये स्त्रियों को पुत्र भी प्यारे होते हैं। पर स्वामिन्! आप के प्रति मेरा जैसा प्रेम है आपको भी मुझपर वैसा ही प्रेम रखकर मेरी इच्छा को पूर्ण करना चाहिये। आज मुझे मायके (पीहर) का सुख याद आ गया है और मैं चाहती हूँ कि पिताजी के महल में जैसी सुन्दर शय्या थी वैसी ही शय्या आप तैयार करावें और खुद आप भी सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण व मालाएं धारण करें। मैं भी अपने मायके से दिव्य वस्त्राभूषणों से सजकर आप के पास आऊँगी। रोज़ के वल्कल वस्त्र पहन कर मैं आप के पास नहीं आना चाहती। हे विप्रश्रेष्ठ! इसमें अपवित्रता का भी भय नहीं क्योंकि रति के समय अलंकार धारण करने से किसी प्रकार अपवित्रता नहीं होती, यह तो शास्त्र का ही कथन है।" काम-शास्त्र के सिद्धान्तानुसार लोपमुद्रा की इच्छा असङ्गत थी भी नहीं। क्योंकि ऐसे समय तो पति-पत्नी जितने शुद्ध, स्वच्छ, सुन्दर और अन्योन्य आकर्षक (एक-दूसरे को आकर्षित करने

वाले) तथा अनन्य स्नेही हो उतना ही अधिक सुन्दर और सुयोग्य बालक होता है। फिर भी वनवासी मुनि इस इच्छा को किस प्रकार पूर्ण करे, यह बात विचारने की थी। अतः अगस्त्य मुनि कहने लगे—"हे लोपमुद्रे ! कल्याणी ! तुम्हारे पिता के घर तो राजपाट है, जिससे सुख-वैभव की कोई कमी नहीं; परन्तु अपने यहां ऐसे विषय-भोग कैसे हो सकते हैं ?" लोपमुद्रा ने जवाब दिया—"हे तपोधन ! इस संसार में जितने प्रकार के धन हैं उन सब में तपोधन मुख्य है। तपोधन के ज़रिये तमाम धन क्षण-मात्र में खींच कर लाया जा सकता है।" अगस्त्य ने कहा—"तुम जो कहती हो, वह ठीक है; पर उससे मेरा तपोबल समाप्त हो जायगा। अतएव कोई ऐसा उपाय बताओ कि जिससे मेरे तप का भी क्षय न हो !"

लोपमुद्रा ने कहा—"प्राणनाथ ! मेरे ऋतुकाल को सोलह दिन पूरे होने में अब थोड़े ही दिन बाक़ी हैं; पर बग़ैर अलङ्कारादि के आप के पास आने को मेरा मन नहीं करता, साथ ही ऐसा भी मैं नहीं करना चाहती कि जिससे आपको कोई अड़चन पड़े या आप के धर्म का लोप हो। इसलिये अगर धर्म के सुरक्षित रहते हुए मेरी अभिलाषा पूर्ण होती हो, तभी ऐसा कीजिए।" अगस्त्य ने कहा—"सुभगे ! तुम भी परम विदुषी हो। शास्त्र के मर्म को जानती हो। जब तुम्हारी बुद्धि में यह बात आ गई है तो मैं भी धन लेने जाता हूँ। मैं आऊँ, तब तक तुम स्वतंत्रता से यहीं रहना।"

तब धन लेने के लिए मुनि श्रुतपूर्व राजा के पास गये; पर जब राजा ने बताया कि उनका आमदख़र्च दोनों बराबर

हैं; तो ऋषि ने उनसे कुछ भी न लिया। इसके बाद मुब्रध्व, पुरुकुत्स, सूत आदि कई राजाओं के पास गये; पर उनकी दशा भी श्रुतपूर्व सरीखी ही थी; अतः यह सोचकर कि इनके पास से धन लेने से रियाया दुःखी होगी, मुनि ने उनसे भी कुछ न लिया। इसके बाद इल्वल राक्षस के पास गये, जो बड़ा धनवान् था, और उसे अपने तपोबल का चमत्कार बताया। इल्वल ने ऋषि की और भी परीक्षा करने के लिए उनसे कहा, कि अगर आप ठीक-ठीक यह बतादें कि मैंने आपको कितना धन देने का विचार किया है तभी मैं आप को यह धन दूँगा। इसपर ऋषि ने बता दिया कि आपने मुझे इतना धन इतनी गायें, घोड़े आदि देने का इरादा किया है। मुनि का अन्दाज़ सोलहों आने सच निकला, तब प्रसन्न होकर राजा ने उन्हें उतना दान भेंट कर दिया। महात्मा अगस्त्य ने वह धन और मणि-मुक्तादि के गहने लेजाकर अपनी पत्नी को दिये और अपनी अभिलाषा पूर्ण करने के लिए कहकर पूछा—"हे कल्याणी! तुम्हारे सदाचार से मैं सन्तुष्ट हूँ; पर मैं यह जानना चाहता हूँ कि सन्तानोत्पत्ति के बारे में तुम्हारे क्या विचार हैं। तुम्हें एक हज़ार पुत्र पैदा करना पसन्द है, या सौ-सौ पुत्रों के समान सामर्थ्यवान् दस पुत्र चाहिएं अथवा जो अकेला ही अपने गुणों से हज़ारों को भी मात कर सके ऐसा एक ही पुत्र चाहती तो?" लोपमुद्रा ने जवाब दिया हे तपोधन! मैं तो हजार मनुष्यों के समान सामर्थ्यवान् एक सुपुत्र को ही चाहती हूँ; क्योंकि अनेक निकम्मी सन्तानों के बजाय एक ही साधु और विद्वान सन्तान का होना कहीं अच्छा है।" अगस्त्य ने "तथास्तु" कहा। तदुपरान्त अगस्त्य

मुनि के औरस से यथासमय लोपमुद्रा के 'दृढ़स्यु' नाम का एक बालक पैदा हुआ। यह बड़ा विद्वान् कवि और तत्त्वज्ञ था। माता-पिता से इसने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया था। लोपमुद्रा और अगस्त्यमुनि ने ऐसे शास्त्रज्ञ और विवेकी पुत्र की उत्पत्ति से, समझा कि अब हमारा गृहस्थाश्रम-धर्म सफल हो गया। और इसके बाद स्वामी के साथ लोपमुद्रा भी फिर से तपस्या करने में लग गई।

लोपमुद्रा ने ऋग्वेद के पहले मण्डल के १७९वें सूक्त की दो ऋचाएं रची हैं।

लोपमुद्रा और अगस्त्यमुनि का सांसारिक जीवन आदर्श-रूप था! पति-पत्नी साथ रहते हुए ईश्वराराधन और गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन कैसे करें, कामवासनाएं कैसे दूर रक्खी जायँ, चित्त की दुर्बलता किस प्रकार हटाई जाय, तथा विद्वान पुरुष और विदुषी स्त्री सदा ही संसारत्यागी न रहते हुए जगत की उन्नति के लिए सुयोग्य, धार्मिक, बलवान् और देशभक्त सन्तान पैदा करके अपनी ज्ञानज्योति को सदैव किस प्रकार प्रज्वलित रखते हैं, इन सब बातों की शिक्षा लोपमुद्रा के जीवन से मिलती है।

विश्ववारा

इस ऋषितुल्य रमणी का जन्म अत्रि मुनि के वंश में हुआ था। प्राचीन कालीन ऋषियों ने विश्वरूप, विश्वप्राण वि-श्वनियन्ता और विश्वदेव प्रभु के ध्यान में अपने आपको विसार कर जो स्तोत्र रचे हैं, वे वैदिक मंत्र कहलाते हैं। इन वैदिक

मंत्रों को हिन्दू लोग साक्षात विश्वदेवता की वाणी ही मानते हैं। इसीलिये इन वैदिक ऋषियों का नाम 'मंत्रद्रष्टा' (अर्थात् जिन्होंने मंत्रों की रचना केवल अपनी शक्ति से नहीं किन्तु भगवत्कृपा से उन्हें सुनके या देख कर की हो) रक्खा गया। जिन स्त्रियों को इस प्रकार मंत्रों के दर्शन हुए, उनमें विश्ववारा का नाम मुख्य है। ऋग्वेद संहिता के पाँचवें मण्डल के दूसरे अनुवाक् का २८ वां सूत्र इनका ही रचा हुआ है। इस सूत्र की छः ऋचाएँ हैं जो प्रत्येक एक-एक माणिक के समान हैं।

जो स्त्री स्वयं पाप से निवृत्त होकर सब जगह स्त्रियों में वैदिक धर्म का प्रचार करती फिरे, और पापों को दूर करती रहे, उसे विश्ववारा कहा जाता है। यह ब्रह्मवादिनी वैदिक अग्निहोत्र (हवन) आदि शुभ कर्मों का प्रचार करती थी, और इन्होंने स्वयं भी यज्ञ किया था। पहले के हिन्दू मानते थे कि अग्निहोत्र और यज्ञादि से दुराचारों का निवारण होता है तथा बाहर-भीतर का वातावरण शुद्ध होता है। विश्ववारा ने जिस मंत्र का उपदेश किया, उसका भावार्थ नीचे लिखा जाता है:—

(१) प्रज्वलित अग्नि तेज का विस्तार करके [illegible] आकाश तक अपनी ज्वाला फैलाती है। प्रातःकाल और रात के समय आग खूब फैल कर बड़ी सुन्दर दीखती है। देवार्चन में निमग्न वृद्ध और विदुषी स्त्री विश्ववारा नमस्कार-द्वारा, अथवा तरह-तरह के अन्न से, विद्वानों का सत्कार और हविष्य-द्वारा होम करती हुई जा रही है। मतलब यह कि प्रातःकाल हर एक स्त्री को हवन करना चाहिये। क्योंकि प्राचीनकाल में वृद्ध और विदुषी स्त्रियाँ हवन करती थीं। जिस प्रकार अग्नि दूर तक अपनी ज्वाला

फैलाती है वैसे ही कर्म करनेवाली स्त्री की कीर्त्ति-ज्वाला भी दूर-दूर तक फैलती है। फिर जैसे प्रातःकाल और रात के वक्त अग्नि अधिक देदीप्यमान हो जाती है और अन्धकार का नाश करती है वैसेही यज्ञानुष्टान करनेवाली स्त्री भी जाज्वल्यमान बनकर समस्त पापों का नाश करती है।

(२) हे अग्नि! आप समिध्यमान होने से जल की स्वामिनी हैं। कल्याण की इच्छा से हविष्यकर्त्ता यजमान आपकी सेवा करते हैं। जिस यजमान के पास आप जाती हैं वह पशु आदि समस्त धन पा जाता है। हे अग्नि! आपके उपयुक्त आतिथ्य-सूचक हवि हम आपके समक्ष प्रस्तुत करते हैं। जो स्त्री अग्नि में हवन करती है, यानी वैदिक कर्मों को विश्वास और श्रद्धा के साथ पूरा करती है, निश्चय ही वह सब प्रकार के ऐश्वर्य को प्राप्त करती है। क्योंकि ऐसी स्त्री का अन्तःकरण पवित्र, मन स्थिर, इन्द्रियाँ अनुकूल और उनके अधीन रहती हुई सदैव जन-समाज के कल्याण में ही प्रवृत्त रहती है।

(३) हे अग्नि! अखण्ड सौभाग्य के लिए आप बलवती हों। आपका दिया हुआ धन उत्तम अर्थात् दूसरों का उपकार करनेवाला हो। हम स्त्रियों के दाम्पत्य-भाव को और दृढ़ कीजिए। हम स्त्रियों के साथ दुश्मनी करने की इच्छा रखनेवाले कुकर्म, कुचेष्टा, लोभ आदि जो दोष हैं उन्हें दूर कीजिए।

यह प्रार्थना सुकर्म और दाम्पत्य सुख के लिए है। और यह निस्सन्देह है कि सुकर्मों से ही सौभाग्य और सम्पत्ति प्राप्त होती है। फिर जो स्त्री अपने पति के साथ सदा धर्म-कर्म करती रहती है और सदाचार का पालन करती है उसके साथ उसके पति का

मनमुटाव कभी भी नहीं होता। इसी प्रकार कुचेष्टाएँ भी उसके पास कभी नहीं फटकतीं।

(४) हे दीप्तिशाली ! आपके प्रकाश को मैं नमस्कार करती हूँ। आप यज्ञ को प्रज्वलित कीजिए।

(५) हे उज्ज्वलराशी ! भक्त लोग आपका आह्वान करते हैं; यज्ञ क्षेत्र में आकर आप सब देवताओं की आराधना कीजिए।

(६) यज्ञ में हव्यवाहक अग्नि में होम कीजिए; यज्ञ की सेवा करो, और देवताओं के पास हव्य पहुँचाने के लिए उसका वरण करो।

शश्वती

ब्रह्मवादिनी रोमशा की तरह शश्वती भी वेद की एक ऋचा की ऋषिका हैं। कहते हैं कि यह अङ्गिरा ऋषि की कन्या और आसङ्ग राजा की पत्नी थीं। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के पहले सूक्त की ३४ वीं ऋचा इनकी रची हुई है। रोमशा की भाँति शश्वती भी बुद्धि का ही नाम है। जो जीवात्मा के साथ चिरकाल तक क़ायम रहे उस बुद्धि को शश्वती कहते हैं। शश्वती स्त्री पति से कहती है:—"स्वामिन् ! आप सुशोभित भोजन अपने पास रखते हैं। भोजन का टुकड़ा आपके आगे पड़ा दीखता है। हे स्वामी। फिर यह भोजन स्थिर है, इसका क्षय कभी नहीं होता। यह बड़ा विस्तीर्ण और ईश्वर की ओर झुका हुआ है, इससे आपके पास बहुत-सा भोजन दिखाई दे रहा है।" इस ऋचा की टीका करते हुए एक विद्वान ने लिखा है कि आत्मा को सम्बोधन

करके यह ऋचा लिखी गई है। आत्मा के सामने अनेक भोजन हैं। आत्मा के पास विविध प्रकार के अक्षय भोजन न होते, तो भला पुरुष आत्म-रत, आत्म-क्रीड कैसे बनता और आत्मा से विविध पदार्थ लेकर ही तो बुद्धि ज्ञान का प्रसार करती है। ऋषिका शश्वती इस दृष्टान्त के द्वारा ज्ञान-प्रचार करती थीं। बुद्धि से ही आत्मा की शोभा है, बुद्धि में विकार होने से आत्मा मलिन हो जाती है; बुद्धि जितनी पवित्र होगी, आत्मा भी उतनी ही शुद्ध और पवित्र रहेगी।' जिस प्रकार आत्मा के बग़ैर बुद्धि नहीं और बुद्धि के बिना आत्मा नहीं, उसी प्रकार पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध भी होना चाहिये। स्त्री की शोभा पति और पति की शोभा स्त्री है। बुद्धि और आत्मा में जैसे कोई भेद नहीं, दोनों वास्तव में एक ही हैं, वैसे ही पति-पत्नी को भी अभेदमार्गी होकर संसार में रहना चाहिये। अपना पति चाहे जैसा निर्धन हो, तो भी पत्नी को तो यही भाव रखना चाहिये कि उसके पास अटूट धन है, तरह-तरह के स्वादिष्ट खाद्यपदार्थ उसके सामने पड़े हुए हैं। ऐसा ही गूढ़ उपदेश इस ऋचा में भरा हुआ है; और ब्रह्मवादिनी शश्वती का स्त्रियों को यही उपदेश है।

अपाला

विश्ववारा की नाईं अपाला भी अत्रि मुनि के ही वंश में पैदा हुई थी। सायणाचार्य ने शाट्यायण ब्राह्मण के अनुसार इनका जो वर्णन दिया है उससे मालूम होता है कि अपाला को कोढ़ की बीमारी हुई थी जिससे यह बड़ी दुखी थीं। पति

ने भी बदक़िस्मत कह कर इन्हें अपने यहां से निकाल दिया था। पति द्वारा निकाल दिये जाने पर यह अपने मायके में रहने लगी थीं और कोढ़ से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रदेव की आराधना करती थीं। फिर यह सोच कर कि, इन्द्र को सोम से बड़ा प्रेम है इसलिये सोमद्वारा ही उन्हें प्रसन्न करना चाहिये, एक नदी के किनारे-किनारे वह सौम की तलाश में चल दीं। वहां स्नान करके वह वापिस आ ही रही थीं कि सोम का भी पता लग गया। यह सोम के पत्ते चबाने लगीं; जिनकी आवाज़ सुनकर इन्द्र वहाँ आ पहुँचे। अपाला इन्द्रदेव को अपने घर ले गईं और सोमरस पिला कर उन्हें प्रसन्न किया। इसके बाद तीस वर माँगे। उन्होंने कहा कि मेरे पिता का सिर केशहीन, सफ़ाचट है, उनके खेत ऊजड़ हैं और मेरे शरीर पर भी बाल नहीं हैं; अतः तीनों को बालवाले और हरे-भरे कर दीजिये। इन्द्र ने 'तथास्तु' कहा और उनके आशीर्वाद से अपाला के पिता के सिर में बाल आये, उनके खेत हरे-भरे हो गये और अपाला का कोढ़ भी मिट गया।

एक दूसरे विद्वान का कहना यह है कि जो कन्या अपने शरीर-रूपी महादान से किसी पुरुष का पालन न करे वह अपाला कहलाती है। इसलिये अपाला ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी थी। चाहे जो हो, पर यह बात निर्विवाद है कि ऋग्वेद के आठवें मण्डल के इक्यानवें (९१वें) सूक्त की १ से ७ तक ऋचाएं इन्हीं की रची हुई हैं। उनकी दो-एक प्रार्थनाओं का सार निम्न प्रकार है:—

हे सर्वान्तर्यामी देव! हम कन्याएं आप को निश्चयपूर्वक साक्षात् जानना चाहती हैं, पर आपको पहचानने में असमर्थ हैं;

क्योंकि आप अज्ञेय हैं। फिर भी अपने यौवन से उद्भवित सौन्दर्य हमें आप के ही अर्पण करना उचित है। हे सोम ! मेरे शरीर से निकले हुए सौन्दर्य ! तू धीरे धीरे परमदेवता ही के लिए स्रवित हो, यानी क्षीण हो जा। मतलब यह कि साक्षात् पति को पहचान कर कन्या उसे जैसे आत्म-समर्पण करती है उसी प्रकार परमेश्वर का साक्षात् नहीं होता; इसलिए कन्या कहती है कि, हे भगवान् ! मैं तुम्हें पहचानना चाहती हूँ किन्तु खास तौर पर पहचान नहीं सकती। और यज्ञ में जैसे धीरे धीरे सोमरस टपकाया जाता है वैसे ही कन्या कहती है कि, हे मेरे यौवनरूपी सोम ! आज से तू भी ईश्वर के काम में लगकर धीरे-धीरे टपकता जा। परमेश्वर हमें वारम्वार समर्थ वनावें, इस व्रत के पालन में वारम्वार हमें शक्ति प्रदान करें; और हमें अतिशय सुचरित्र-रूपी धन से युक्त करें। पति को न चाहनेवाली अर्थात् वैरागिनी वनी हुई हम ब्रह्मचारिणी कन्याओं का आज परमदेवता परमेश्वर के साथ मिलाप हुआ है।

घोषा

आजकल वहुत से लोग कहा करते हैं कि स्त्रिया को वेदों के पढ़ने एवं उच्चारण करने का अधिकार नहीं है, परन्तु उनका यह कहना सर्वथा मिथ्या है। पहिले समय में पुरुषों की तरह ही स्त्रियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार था। वे वेदों का अध्ययन कर उनके वहुमूल्य उपदेशों का संसार में प्रचार किया करती थीं। यहाँ तक कि स्त्रियाँ वेद की मन्त्र-द्रष्टा-ऋषिकाएँ भी

हो गयी हैं। वे लगभग सभी प्रकार के मन्त्रों के अर्थ समझती थीं। श्रद्धा, विवाह-पद्धति आदि उत्तमोत्तम अर्थवाले मन्त्रों का उन्होंने प्रचार किया है।

सायनाचार्य के कथनानुसार ब्रह्मवादिनी घोषा ममता की प्रपौत्री, सुप्रसिद्ध उशिज की पौत्री तथा कक्षिवान मुनि की कन्या थीं। उसके चाचा का नाम दीर्घश्रवा था। कोढ़ की बीमारी होने के कारण इसका किसी के साथ विवाह नहीं हुआ था। जबतक बालक अथवा बालिका को संक्रामक अर्थात् छूत का रोग हो तब-तक उन्हें विवाह करने का अधिकार नहीं रहता। चिकित्सा-शास्त्र के इस लोक-कल्याण-कारी सिद्धान्त से हमारे पूर्वज भी परिचित थे, इस बात का यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। पीछे देवताओं के वैद्यराज अश्विनीकुमार की कृपा से घोषा का यह रोग दूर हो गया, शरीर निर्मल हो गया; तब उसका विवाह कर दिया गया। यह पिता के समान ही विद्वान और सुप्रसिद्ध थीं। इतना ही नहीं, इसने अपनी विद्वत्ता से अपने पिता का मुख उज्ज्वल किया था, ऋग्वेद के दशम मण्डल के ३९ और ४० वें सूक्तों की दृष्टा यही घोषा थी।

'घोषा' नाम भी स्वयं अर्थ-सूचक है। ब्रह्मचारिणी कन्या घोषा कहलाती है। जो वेदों का अध्ययन कर ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान की सर्वत्र घोषणा करे—इस ज्ञान का सर्वत्र ढिंढोरा पीटे—उसे घोषा कहा जाता है। जिन दो सूक्तों का ज्ञान घोषा को हुआ था, उनमें ब्रह्मचारिणी कन्या के वेदाध्ययन के समय से लेकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय तक के उनके समस्त कर्त्तव्यों का उल्लेख है। विदुषी ब्रह्मचारिणी ही ये उपदेश अपनी बहनों को अच्छी तरह

दे सकती है, इसीलिये ईश्वर ने एक ब्रह्मचारिणी विदुषी द्वारा ही इन सूक्तों का प्रचार करवाया है। इन सूक्तों का संक्षिप्त सार नीचे दिया जाता है।

"हे अश्विनीकुमार! आपका जो रथ विचारशील और सुगठित है, जो हविष्मान् अर्थात् कर्म-परिणत ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न उद्यमी लोगों द्वारा आदर करने योग्य है, आपका वह रथ रातदिन हमारे घर में रहे इसके लिये हम उपासिकाएँ आपको आदरपूर्वक प्रार्थना करती हैं। जिस प्रकार हम पिता का नाम आदरपूर्वक लेती हैं, उसी प्रकार आपके रथ को भी पुकारती हैं। जो नरनारी पितृ नाम की तरह समयदेव का आदर करते हैं, वे सदा सुखी होते हैं।"

"हे अश्विनीकुमार! आप हम में मधुर अर्थात् मीठे वचन बोलने की प्ररणा करें। हमारे कार्यों को पूरा करें। हममें विविध प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करें। हम उपासिकाएँ सच्चे और मीठे वचन, कर्म की पूर्णता तथा विविध प्रकार की बुद्धि इन तीन बातों की कामना करती हैं; आप वह पूर्ण कीजिये। हमें अति प्रशंसित धन का सौभाग्य दीजिये। प्रिय सोम की तरह हमें ज्ञान, विज्ञान तथा धन-सम्पन्न पुरुषों में प्रिय बनाइये।"

"आप सब प्रकार के कपट-रहित, असहाय और असमर्थ पुरुषों के ऐश्वर्य हैं। भूखे, दीन, अन्धे और दुबले-पतले पुरुषों के आप रक्षक हैं। हे असत्य रहित देव! आप ही नाना प्रकार के क्लेश एवं दुःखों से पीडित रोगियों के वैद्य हैं।"

"हे अश्विनीकुमार! आपने अपने आश्चर्यजनक कामों से वृद्ध च्यवन को पुनः युवा (जवान) बना दिया था। आपने तुग्र-

पुत्र भुज्य को समुद्र के अथाह जल में से बचा लिया था। हे देव! आपके ये सब कृत्य यज्ञों में बखान किये जाने योग्य हैं।"

"हे अश्विनीकुमार! मैं आपकी इन पुरानी वीरताओं की गाथा जन-समाज को सुनाती हूँ। आप सबके चिकित्सक हो, और सब जगह सुख पहुँचानेवाले हो, यह बात भी मैं सबको बतलाती हूँ। रक्षा के लिये आप दोनों की स्तुति करती हूँ। हे असत्य रहित! हमें ऐसा उपाय सुझाइये कि हमारे शत्रु भी हमारे प्रति श्रद्धा रक्खें।"

"हे अश्विनीकुमार! मैं आपको पुकार कर कहती हूँ, मेरी बात सुनिये। जिस प्रकार माता-पिता अपनी सन्तान को शिक्षा देते हैं, उसी तरह आप मुझे शिक्षा दीजिये। मैं असहाय—बन्धु-रहित हूँ, मुझमें बुद्धि भी नहीं, अतः मुझ में किसी भी तरह की निकृष्ट मति उत्पन्न हो तो उसके उत्पन्न होने के पहिले ही आप ऐसी मति का नाश कर दें।"

"आपने वृद्धावस्था को प्राप्त, ब्राह्मण-वेषधारी कलि को फिर युवा (जवान) बना दिया था। समय की गति पहचाननेवाले आदमी नीच अवस्था से उच्च अवस्था में पहुँच सकते हैं।"

"हे दैदीप्यमान! अदित! हे अदीन! हे स्वाहावान्! हे स्तोत्रयुक्त मार्गद्वय! आप जिस पुरुष को पत्नीसहित अग्रगामी रथवाला बनाते हैं अर्थात् आपकी कृपा से जो रथ पर बैठ कर पत्नी सहित आगे आगे जाता है, उसे कहीं कोई पाप नहीं लगता; न उसे कोई भय या डर सताता है।"

"हे अश्विनीकुमार! आपके जिस रथ को ऋभु देवता बनाते हैं, जिसके योग से चन्द्रलोक की कन्या उषा और सूर्य के सुन्दर पुत्र रात

दिवस उत्पन्न होते हैं, मन के वेगवाले इस रथ पर बैठकर आप मेरे पास आइये।"

"हे अश्विनीकुमार! आप ऐसे विजयी रथ के साथ पहाड़ी रास्ते की ओर जाते हैं। बालक के लिये मातृ-रूप गाय को दूध से परिपूर्ण करते हैं।"

"जिस प्रकार कुशल कारीगर रथ बनाता है, उसी प्रकार आपके लिये मैं यह प्रार्थना बनाती हूँ और उसे सुन्दर एवं संस्कार-युक्त करती हूँ। जिस प्रकार विवाह-काल में कन्या को अलङ्कार-आभूषण-गहने पहना कर जवाई के पास ले जाते हैं, उसी तरह मैं यह स्तुति अर्थात् प्रार्थना भी आपके पास पहुँचाती हूँ। फिर जिस प्रकार शुभ कर्म का विस्तार करनेवाले पुत्र को माता-पिता अच्छी तरह पालन-पोषण कर बड़ा करते हैं, उसी तरह नित्य मैं इस स्तोत्र को धारण करती हूँ।"

ब्रह्मचारिणी कन्याओं के लिये प्रार्थना

"हे नेता अश्विनीकुमार! आपके रथ को कहाँ और कैसे यजमान यज्ञ-रूप कर्म में अभ्युदय के लिये बुद्धिपूर्वक प्रतिभूषित करते हैं? आपका रथ सर्वत्र विहारी, दीप्तिमान्, प्रातर्गन्ता, सर्वत्र व्यापक और जनता को दिन प्रतिदिन धन सम्पत्ति देनेवाला है।"

"हे अश्विनीकुमार! रात्रि को आप कहाँ रहते हैं और दिन में कहाँ रहते हैं? आप विश्राम कहाँ करते हैं? हे शिशु-रक्षक अश्विनीकुमार! जिस प्रकार विधवा स्त्री अपने देवर की ओर प्रिया पति-परायणा स्त्री स्वामी की सेवा करती है, उसी प्रकार आपको यज्ञ भूमि में बैठाकर आपकी सेवा कौन करता है?"

"जिस प्रकार माता-पिता को सन्तान सुन्दर वाणी से प्रसन्न करते हैं, उसी प्रकार हे अश्विद्वय! आपका भी प्रातःकाल ही सुन्दर स्तोत्र से सत्कार किया जाता है। आप कैसे यजमान के दोषों का नाश करते हैं?"

"हे नायक अश्विनीकुमार! जिस प्रकार शिकारी बड़े बड़े सिंहों को तलाश कर बुलवाते हैं, उसी प्रकार हम ब्रह्मचारिणी कन्याएँ रातदिन भक्ति-प्रेम-रूप हविष्य द्वारा आपका आवाहन करती हैं। हे जगन्नायक! सब कोई आपको ही समय समय पर आहुति देती हैं। आप ही शुभ कर्म के पति हैं। आप मनुष्य जाति के लिये आवश्यक अन्न के उत्पन्न करनेवाले हैं।"

"हे नायक अश्विनीकुमार! मैं राजकन्या हूँ और वेद की घोषणा और वेद का संदेशा सर्वत्र पहुँचानेवाली स्तुति-पाठिका हूँ। मैं चारों तरफ घूम फिर कर आपकी ही कथा गाती हूँ। विद्वानों से आपके विषय में चर्चा करती हूँ। आप रात दिन मेरे पास रहो, अवश्य मेरे ही पास रहो; मेरे इन इन्द्रिय-रूपी घोड़ों से जुते हुए शरीर-रूपी रथ सहित मनोरूप अश्व का आप दमन करो। हे अश्विनीकुमार! आप रथ पर चढ़ते हैं, जिस तरह विद्वान् प्रत्येक के घर आया जाया करते हैं; उसी तरह आप स्तुति का पाठ करने वाले प्रत्येक के घर में सिद्ध होते हैं। जिस तरह स्त्री पुण्य ग्रहण करती है उसी प्रकार मधुमक्षिका (शहद की मक्खी) आपके मधु को मुख द्वारा ग्रहण करती है।"

"हे अश्विनीकुमार! आपकी कृपा से ऐसा हो कि जब कोई ब्रह्मवादिनी ब्रह्मचारिणी स्त्री-लक्षणों से युक्त और सौभाग्यशाली होकर विवाह की इच्छा करे तब उसे कमनीय, सुन्दर, युवक वर

प्राप्त हो। यह वर कैसा हो?—पुरुपार्थ करने से जिसके घर में स्नेह, माधुर्य, सौन्दर्य आदि का वास हो और गेहूँ, जौ आदि विविध प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हों, जहाँ दया, परोपकार आदि गुण नीचे वहनेवाली नदी की तरह वहते हों और रोगादि से रहित हो। स्त्री को पूर्ण यौवनवाला सर्वगुण-सम्पन्न वर प्राप्त हो।"

उसके वाद के सूक्त में वर के गुणों का इस प्रकार वर्णन है—"जो मनुष्य स्त्री की प्राण रक्षा के लिये शक्ति भर प्रयत्न करे, स्त्रियों को यज्ञ-कार्य में नियुक्त करे, अपनी लम्बी भुजाओं से प्रिया का आलिंगन करे, सुन्दर सन्तान उत्पन्न कर पितृयज्ञ में संलग्न करे, ऐसे पति का आलिंगन करने से स्त्रियें सुख पाती हैं। इसलिये हे सोमदेव! ऐसे गुणवाला वर ब्रह्मचारिणी को प्राप्त हो।"

"हे अश्विनीकुमार! युवती के घरमें युवा के निवास करने से अर्थात् युवा (जवान) स्वामी और युवती स्त्री के परस्पर सहवास से जो सुख मिलता है, उस सुख के विपय में ब्रह्मचारिणी कन्याएँ कुछ नहीं जानती, आप हमें वह विपय समझाइये, क्योंकि अव हम स्त्री पर प्रेम रखनेवाले, वलवान और वीर्यवान पति के ही घर जाने की इच्छा करती हैं।"

"हे अन्न-सम्पन्न धन-सम्पन्न अश्विनीकुमार! आपको सुवुद्धि प्राप्त हो अर्थात् आप हमारे प्रति उत्तम वुद्धि रखनेवाले वनें। आप हमारे मनोरथ पूर्ण करें, और आप दोनों हमारे रक्षक हों। आप स्नेहाधिपति हैं इसलिये ऐसा कीजिये कि हम ब्रह्मचारिणी प्रिया वनकर पति के घर जावें।"

"स्तुति-पाठ और नियम व्रत का पालन करनेवाली ब्रह्मचारिणी के ऊपर आप प्रसन्न हों, हमें पति के घरमें धन-वल और

जन-बल स्थापित करें; स्त्रियें जिस घाट पर पानी पीती हैं, उसे सुविधाजनक करें और पति के घर जाने के रास्ते में कोई दुष्ट विचारवाली हो तो उसका नाश करें।

"हे दर्शनीय ! हे शुभस्पते ! हे अश्विनीकुमार ! आप आज कहाँ हैं और किस जनता में आमोद कर रहे हैं। कैसा पुरुष आपको नियत करता है और कैसे ब्राह्मण एवं यजमान के घर आप जाते हैं ?"

इस प्रकार के सरल पर सुन्दर भावयुक्त स्तोत्रों में घोषा ने 'सुनृत (सत्य) वाणी, शुभ कर्म, प्रचुर बुद्धि और सोम की तरह पति के प्रेम के लिये प्रार्थना की है। जिन वचनों को सुनकर सब नाचने लगें अर्थात् प्रसन्न हों और वाहवाह करने लगें, ऐसे वचनों को सुनृत वाणी कहते हैं। धी अर्थात् शुभ करनेकी स्त्री जाति में बहुत अधिक शक्ति है। धर्मानुष्ठान, दया, आस्तिकता, अक्रूरता तथा निज धर्म-परायणता आदि गुणों से स्त्रियाँ परिपूर्ण होती हैं। पुरुष ही सदा स्त्रियों को अशुभ कामों में घसीटने का प्रयत्न करते हैं। स्त्री को अधिक बुद्धि की आवश्यकता इसलिये होती है कि पुरुष का सम्बन्ध केवल एक ही कुटुम्ब से होता है, पर स्त्री का संबंध दो कुटुंब के साथ होता है। गृह-शासन, पति की गैरहाजिरी में जीवन निर्वाह और दुष्ट पुरुषों से अपनी रक्षा करने के लिये भी इन्हें अधिक बुद्धि की आवश्यकता रहती है। चौथी प्रार्थना यह है कि धनाढ्य पुरुषों में हमें सोम की तरह प्रिय बनाओ। धनवान पुरुप धन वैभव के मद में स्त्रियों का निरादर करते हैं, एक स्त्री के रहते अनेक स्त्री विवाहते हैं, अनेक पर-स्त्रियों के साथ व्यभिचार करते हैं, इसलिये स्त्रियों के लिये यह प्रार्थना भी स्वाभाविक है कि यज्ञ

के सोम रस का कोई निरादर नहीं करता, वरन सब उसकी इच्छा करते हैं, उसी तरह हम भी अपने पति को प्रिय हों और जिस तरह सोम रस पीने के बाद फिर किसी वस्तु की इच्छा नहीं रहती उसी तरह हमें विवाहने के बाद हमारे पति दूसरी किसी स्त्री की इच्छा न करें।

ये सब भाव घोपा के हृदय की उच्चता बतलाते हैं।

सूर्या ब्रह्मवादिनी

विवाह-सम्बन्धी मंत्रों का प्रचार इसी देवी ने किया है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के ८५वें तमाम सूक्त की ऋपिका यही हैं। यह सूक्त विवाह-सम्बन्धी है जिसमें ४७ ऋचाएँ हैं। शुरू की कुछ ऋचाओं में चन्द्रमा के साथ सूर्यपुत्री सूर्या के विवाह का वर्णन है; जिससे इस सूक्त का प्रचार करनेवाली देवी का नाम सावित्री सूर्या है। आकाश में दीखनेवाले चन्द्रमा में अपना खुद का प्रकाश नहीं होता, वह तो सूर्य के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। पृथ्वी की छाया के अनुसार ही पृथ्वीवासी मनुष्यों को चन्द्रमा घटता-बढ़ता दीखा करता है। वास्तव में देखा जाय तो न तो वह घटता है और न बढ़ता है। चन्द्रमा में जो प्रभा पड़ती है वही सूर्य के साथ चन्द्रमा का विवाह है। यह वर्णन अलङ्कारपूर्ण भाषा में है। इसका उद्देश्य यह बताता है कि संसार परस्पर सहायक है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य की प्रभा-रूप कन्या को प्राप्त करके चन्द्रमा सुशोभित होता है और जब सूर्य की प्रभा

उसपर न पड़ रही हो तो महा मलीन दीखता है, वैसे ही स्त्री के विना पुरुष शोभा नहीं पाता, और पत्नी-रहित मनुष्य बड़ा मलीन हो जाता है। जो पुरुष अपनी धर्मपत्नी के साथ जीवन-यापन करता है, वह चन्द्रमा की भाँति शुद्ध और उज्ज्वल रह कर दूसरों के लिए भी उपयोगी होता है। फिर दिन का स्वामी सूर्य है और रात का चन्द्रमा। इन दोनों का दर्जा बराबर है, इसलिये स्त्री पुरुष दोनों का दर्जा समानता का है, इत्यादि उच्च भाव इस सूक्त में प्रकट किये गये हैं। इनके सूक्त में की कुछ ऋचाओं का भावार्थ नीचे दिया जाता है:—

चन्द्रमा को विवाह करने की इच्छा हुई। दोनों अश्विदेव भी वर बने। और जब सूर्य को भी विवाह की इच्छा हुई तो सूर्य देवता ने अपने मन से ही उसे चन्द्रमा को समर्पित कर दिया। यह वर्णन अलङ्कारपूर्ण है। भावार्थ यह है कि मानों सूर्य के विवाह में चन्द्रमा के साथ पृथ्वी पर के सब देवता तो सम्मिलित हुए पर उसका विवाह चन्द्रमा के ही साथ हुआ। इसका मतलब यह भी है कि वर जब सोम की तरह विवाह की इच्छा करने लगे तभी उसका विवाह होना चाहिये। इस ऋचा में बाल-विवाह का निषेध है। इसके अनुसार तो कन्या भी विवाह की इच्छुक अथवा अच्छी उम्र की होनी चाहिये।

सूर्या जब विदा हो कर पती के घर चली तब उसके बैठने का रथ मन के वेग के समान तेज था। रथ पर सुन्दर चंदोवा था। और दो सफ़ेद बैल जुते हुए थे। इसका मतलब यह कि वर-कन्या को उपयुक्त सवारी में बठा कर आदर-सत्कार के साथ ले जाना चाहिये।

सूर्या के साथ गाय, सोना, वस्त्र आदि वे सब पदार्थ भी गये जो विवाह के सयम उसके पिता ने लग्नदान में दिये थे।

हे सूर्या! तू रथ पर चढ़। यह रथ किंशुक और साल की सुन्दर लकड़ियों का बना हुआ है और इसके ऊपर सुन्दर चन्दोवा तना है। वह बिल्कुल साफ़, सोने के साज का, सुगठित और मज़बूत बना हुआ है। हे सूर्या! चन्द्रलोक में जाकर तू उसे सुख रूप बनाना और दान की इन सब चीज़ों को अपनी सुसराल ले जाना।

हे बहू! इस पति-गृह में ऐसी चीज़ों की वृद्धि हो कि जो प्रजा को और साथ ही तुझे भी प्रिय हों। इस घर में गृह स्वामिनी बनने के लिए तू जागृत हो। इस पति के साथ अपने शरीर का संसर्ग कर और जानने व पहचानने के योग्य परमात्मा को ध्यान में रखते हुए दोनों जने वृद्धावस्था तक मिलते और बातचीत करते रहें। हे बहू! तू मैले कपड़ों को फैंक दे; अर्थात् मैले-कुचेले कपड़े हर्गिज़ मत पहन। वेद पढ़नेवाले पुरुषों को दान दे। गन्दी रहने से, गन्दे कपड़े पहनने से, रोज़ स्नान न करने से और आलस्य में रहने से तरह-तरह के रोग हो जाते हैं। इसलिये वेद का कथन है कि स्त्री की मलीनता न केवल स्त्री तक ही परिमित रहती है बल्कि उसके द्वारा पति में भी पहुँच जाती है; और इसलिये पति का कल्याण चाहनेवाली स्त्री को स्वच्छ रहना चाहिये। फिर मैले-कुचेलेपन से होनेवाले रोग से शरीर कुरूप हो जाता है और शरीर की कान्ति भी नष्ट हो जाती है। और जो पति ऐसी पत्नी के वस्त्र पहनता है उसका शरीर भी शोभाहीन और रोगी हो जाता है।

हे वहू ! सौभाग्य के लिए ही मैं तेरा पाणिग्रहण करता हूँ। पति-रूप मेरे साथ ही तू वृद्ध बनना।

हे परमात्मा! आप इस वहू को सुपुत्रवती और सौभाग्यवती बनाना। इसके गर्भ से दस पुत्र पैदा करना और ग्यारहवाँ पति को बनाना। हे वहू! तू अपने अच्छे वर्त्ताव से सुसराल पर अपना प्रभुत्व जमा, सास को सेवा से वश में कर, नन्दों पर राज्य कर और देवरों पर महारानी की तरह शासन कर।

'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवा भव।
नान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥

ऐसे-ऐसे अनेक उत्तमोत्तम उपदेशों का सावित्री सूर्यादेवी ने वैदिक काल में प्रचार किया है।

दक्षिणा ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०७ वें सूक्त की ऋषिका ब्रह्मवादिनी दक्षिणा नामक एक स्त्री थीं। यह दान का प्रचार करती थीं; इससे खुद भी उसी दक्षिणा नाम से मशहूर हो गई हैं। वेदों के आधार पर यह स्त्रियों को उपदेश करती थी कि, हे नारियो! ईश्वर ने तुम्हें कितनी चीजें प्रदान की हैं! प्रकाश और गरमी सूर्य प्रदान कर रहा है। चन्द्रमा तुम्हारी आँखों को कैसा आल्हादित कर रहा है! वायु प्रति क्षण जीवन दान देकर तुम पर असीम उपकार कर रहा है। पक्षी अपने मधुर स्वर से तुम्हारे कानों को तृप्त करने का कितना प्रयत्न कर रहे हैं! तरह-तरह के फूल तुम्हें मीठी २ खुशबू पहुँचा रहे हैं। यह फलवाले वृक्ष तुम्हें

फल देते वक्त क्या तुमसे उनके दाम माँगते हैं ? शीतल जल वाली यह नदियाँ जल देते वक्त क्या तुमसे किसी वदले की आशा रखती हैं ? हे मेरे प्यारे धनवान भाइयो ! परमपिता ने सवको एक दूसरे का सहायक वनाया है। अगर सूर्य की मदद न मिले तो पृथ्वी भला नाना प्रकार के पदार्थ उत्पन्न कर सकती है ? इसी प्रकार सूत्रात्मा परमात्मा की कल्पनातीत शक्ति के वग़ैर सूर्य, चन्द्रमा, वायु, नक्षत्र, पृथ्वी इत्यादि भी अपना-अपना काम नहीं कर सकते। फिर ज़रा सोचो तो, यह जीव कितने दिन का है ? लक्ष्मी सदा किसी के साथ नहीं रही। भला ऐसा कौन है जिसे दूसरे की सहायता की अपेक्षा कभी न हुई हो ? तुम्हारा कोई पड़ोसी भूखों मर जाय, तुम उसकी ओर ध्यान भी न दो और निश्चिन्तता के साथ सोते रहो; यह क्या तुम्हारे योग्य है। अपने पुरुपार्थ से कमाये हुए धन को तुम्हें फ़ालतू वातों में ख़र्च न कर देना चाहिये; परन्तु जो दान के योग्य हो, उसे दान ज़रूर दो। हे मनुष्यो ! तुम्हारा दान निःस्वार्थ होना चाहिए, इत्यादि। अव इनकी रचनाओं का अर्थ देखिये:—

"जीवों के कल्याण के लिए सूर्य का यह महत्तेज उतर कर आ रहा है। अन्धकार से सव जीवों की मुक्ति हो गई। जगत्पालक की किरणों के द्वारा सर्वत्र यह महा ज्योति फैल गई है। इससे दक्षिणा के विस्तारवाला मार्ग सूचित होता है।" (१०-१०७)

भावार्थ:—जिस प्रकार प्राणियों के कल्याण के लिए पृथ्वी पर सूर्य का महातेज फैल रहा है उसी प्रकार उदार पुरुषों के धन-रूपी तेज का सर्वत्र विस्तार हो। जिस प्रकार सूरज की रोशनी से सव जीव अन्धेरे से मुक्त हो जाते हैं उसी प्रकार धनवान लोगों के

धन से क्षुधा-रूपी अन्धकार में पड़े हुए ग़रीब लोगों की मुक्ति हो। जिस प्रकार सूरज की किरणें सूर्य की महाज्योति को सब जगह फैला रही है उसी प्रकार धनवानों के धन को उनके बन्धु-बान्धवों तथा नौकरों को सत्पात्रों में फैलाना चाहिये। ईश्वर ने हमें सूरज का तेज प्रदान किया है, वह सूचित कर रहा है कि हरएक आदमी को कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिये। सूर्य का तेज यहाँ सिर्फ उदाहरण के तौर पर है। वास्तव में देखा जाय तो ईश्वर की रची हुई सब चीज़ें उसकी तरफ़ से हमें मिली हुई दान ही हैं।

दाता को सब जगह हर कोई बुलाता है। सब जगह वह मुख्य रहता है। दक्षिणावान (दाता) गाँव का नायक बनकर सबके आगे-आगे चलता है। मनुष्यो! जो मनुष्य दान का रास्ता खोलता है, मैं तो उसे ही नृपति मानती हूँ।

ऋषि और ब्रह्मा भी इसे ही कहते हैं। इसे ही यज्ञ नेता, सामगायक और विविध स्तोत्रों का शासक कहते हैं। जो आदमी दान से अनाथों की आराधना करता है वह अग्नि के (आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणा) तीनों रूपों को पहचानता है।

जुहू ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १०९ वें सूक्त की ऋषिका जुहू नामक एक स्त्री है। यह देवी किसकी स्त्री थी और कहाँ रहती थी, इसका पता नहीं चलता; परन्तु किसी ब्रह्मज्ञानी की पत्नी होने के कारण यह ब्रह्मजाया कहलाती थी। नर—

नारियों में यह वैदिक कर्मकाण्ड का प्रसार करती थी; इससे इन्हें जुहू पद प्राप्त हुआ था। इन्होंने जिस सूक्त का उपदेश किया है उसका सार यह है कि भूतल पर मनुष्यजाति एक महान कौतुक शाली और ईश्वर की अद्भुत महिमा प्रकट करनेवाली है। जो मनुष्य जाति ईश्वर को मानती है वही किसी दिन ईश्वर को छोड़ बैठती है और धर्म-कर्म को भूल जाती है। जब-जब ऐसा समय आ पहुँचे तो देश-विदेश के बड़े-बड़े विद्वानों और पण्डितों को एकत्र हो कर सब पक्षों की बातें सुनकर सचाई का निर्णय करना चाहिये। अब ज़रा सूक्त के शब्द देखिये:—

"जब-जब ब्रह्मवेत्ता पुरुषों में किल्मिष अर्थात् कर्मत्याग-रूपी पाप पैदा हों तब-तब देश के प्रसिद्ध व ख़ास-ख़ास आदमी और आप्त जन तथा ज्ञान विज्ञान-द्वारा प्रसिद्ध विदुषी स्त्रियाँ एकत्र हों और इस बात का निर्णय करें कि दरहक़ीक़त क्या तो सच है और क्या झूठ। निर्णय करनेवाले कैसे होने चाहिये, इस विषय में कहती हैं कि, विद्या में निपुण; विचारशील, देश काल व पात्र के ज्ञाता, दूरदर्शी, खूब अनुभवी, तटस्थ, धर्म-परायण, ईश्वर से डरनेवाले, फिर जो कूप मण्डूक न हों, जल की नाईं ठण्डे और पीड़ित हृदय को शान्त करनेवाले, वायु की तरह सबका हाल जाननेवाले, खूब तेजस्वी, तपस्या से उग्र बने हुए यानी अन्याय के सख्त दुश्मन, और अपने विचारों से सुख पैदा करें ऐसे गुणवान पुरुष और विदुषी देवियाँ इकट्ठे मिल कर विचार करें।"

इस प्रकार जब वैदिक क्रियायें नष्ट होने लगें तब उनकी पुनः स्थापना के लिए राजा को क्या क्या करना चाहिये, यह सब बातें अलङ्कारपूर्ण भाषा में जुहू ने वर्णन किया है।

रात्रि ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२७ वाँ सूक्त कुशिक ऋषि और रात्रि ऋषि का रचा हुआ माना जाता है। यह (रात्रि) भारद्वाज मुनि की कन्या थीं। रात्रि ही इस सूक्त की देवता भी हैं और इसमें रात्रि का ही वर्णन है। गायत्री छन्द में यह रचा गया है। इसकी एक ऋचा का भाव यहाँ दिया जाता है जो इस प्रकार है:--"हे रात्रि व्यापिनी जगत् माता ! दुष्टावृकी को हमारे पास से शीघ्र दूर करो। दुष्ट वृक और चोर को हटाओ फिर सुख से क्षेमकारिणी बनो !" वृक और वृकी शब्द पाप के अर्थ में इस्तैमाल होते हैं। एतदर्थ सार यह है कि पापी स्त्री-पुरुष और चोर वगैरह दुष्ट लोग रात में प्रबल होते हैं, अतः उनसे बचने के लिए यह प्रार्थना की गई है।

गोधा ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १३४ वें सूक्त की सातवीं ऋचा की ऋषीका गोधा ब्रह्मवादिनी है। इस ऋचा में वह निम्न प्रकार कहती है:—

"हे विद्वान और विवेकी पुरुषो ! हम स्त्रियाँ पुरुषों का कुछ नहीं बिगाड़तीं और अपने दुष्ट आचरणों से तुम्हें कभी मोह में नहीं डालती; परन्तु वेदों में जिस प्रकार सुना है, उसके मुताबिक आचरण करना चाहिये। ज्ञान, कर्म, उपासना इत्यादि जो समयोपयोगी सिद्धान्त हैं उनमें और ज्ञान-विज्ञानात्मक विविध शास्त्रों में पारङ्गत होकर हम स्त्रियों को इस यज्ञ में सब तरह के काम करने चाहिये।"

इस प्रकार इस ऋचा में दुष्ट पुरुषों को निरपराध स्त्रियों का चरित्र भ्रष्ट न करने का उपदेश है। और ब्रह्मवादिनी गोधा ऐसे भावको स्त्रियों में फैलाती थी।

श्रद्धा ब्रह्मवादिनी

यह ब्रह्मवादिनी ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १५१ वें सूक्त की प्रचारिका थी। इसमें पाँच ऋचाएँ हैं। श्रद्धा ने इन ऋचाओं में श्रद्धा की ही महिमा गाई है। जैसे:—हे श्रद्धे! जो कोई दु:खी मनुष्यों को कुछ देता है, उसकी प्रिय हो। हे श्रद्धे! जो देने की इच्छा रखता है, उसका भी भला हो। परम दानी और विद्वानों की प्रिय होओ। जिस प्रकार उग्र दुष्ट राक्षस सदा वध के योग्य हैं और उन्हें पृथ्वी परसे दूर करने में विद्वान और धार्मिक लोग सदा श्रद्धालु रहते हैं, उसी प्रकार हमारे दानी और यजमानों में श्रद्धा स्थापित करके उसका अच्छा फल देना। ईश्वर रक्षित देव और यजमान हृदय के संकल्प द्वारा श्रद्धा की ही उपासना करते हैं; क्योंकि श्रद्धा से चाहा हुआ धन उन्हें प्राप्त होता है।

इन्द्र की माताएँ

ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल के १५३ वें सूक्त की पाँच ऋचाएँ इन्द्र की माताओं द्वारा रची गई हैं। इन्द्र-ऋषि के पिता ने अनेक विवाह किये थे। उनकी इन तमाम पत्नियों ने मिलकर इन ऋचाओं को रचा है। वे इन्द्र-मातृगण अर्थात् इन्द्र की माताओं के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने कश्यप ऋषि के

औरस और अदिति देवी के गर्भ से जन्म लिया था। इनमें से एक का नाम देवजामि था। सब पत्नियाँ पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष को भूल कर, एक चित्त होकर, एक साथ मंत्र रचने के लिए बैठती थीं। सपत्नियों—सौतों में ऐसा मेल बड़ा आनन्ददायक मालूम होता है। इन्द्र की माताएँ, इन्द्रदेवता को सम्बोधन करके, कहती हैं, कि "हे इन्द्र! जिस तेज से शत्रुओं को जीता जाता है वह तेज तुममें है, इसलिये हमें तुम्हारी पूजा करनी चाहिये। क्योंकि तुमने वृत्र का बध किया है, आकाश का विस्तार किया है, अपनी शक्ति से स्वर्ग को समुन्नत कर दिया है और सूर्य तुम्हारा सहचर है—तुमने उसे बाहों में जकड़ रक्खा है।"

वैदिक काल में यह वाक्य बड़े आग्रह और श्रद्धा के साथ घर-घर गाया जाता था। शरीर धारण करने के बाद जीवात्मा को कैसी शिक्षा देनी चाहिये, इसका वे उपदेश करती थीं। उनके मंत्र का सार इस प्रकार है:—

"नाना प्रकार से लाड़-प्यार करती हुई, पोषण रूप कर्म में तत्पर, जिनका हृदय मातृ-स्नेह से पिघल गया है, ऐसी माताएँ सुवीर्य से पैदा हुए जीव अर्थात् शिशु की उपासना करती हैं।"

यमी

यमी ने ऋग्वेद संहिता के दसवें मण्डल के दसवें सूक्त के पहला, तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ और ग्यारहवाँ ऋक् तथा १५४ वें सूक्त के पाँच ऋक रचे हैं। यह हमेशा यम-नियम का पालन करने का उपदेश दिया करती थीं। इनका दूसरा उपदेश

यह था कि धार्मिक पुरुषों के आचरण सदैव अनुकरणीय हैं और विद्वानों का सदैव आदर होना चाहिये।

शची ब्रह्मवादिनी

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १५९ वें सूक्त की ऋषिका श्री शचीदेवी हैं। शची ने अपने उपदेश में कर्म की महत्ता बताई है। यह क्रियादेवी कहती है कि—"मेरा पुत्र शत्रु को हनन करने वाला होता है और मेरी कन्या विशेष प्रकार से शोभित होती है, पर मैं सर्वत्र विजय करनेवाली होती हूँ और मेरे स्वामी जीवात्मा के सामने मेरा यश उत्तम है।"

सर्पराज्ञी ब्रह्मवादिनी

यह देवी ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १८९ वें सूक्त की तीन ऋचिकाओं की प्रचारिका हैं। पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र ये सब चल अर्थात् गतिमान हैं, इनकी गति कैसी है, और ये किसके आधार पर स्थित हैं, इत्यादि विषय यह जानती थीं और इसी विद्या का इन्होंने प्रचार किया था।

स्वाहा

यह साध्वी महिष्मती नगरी के राजा लध्वज की पुत्री थी। पुराणों में इन्हें प्रकृति का अवतार भी माना गया है। यह देवी बड़ी ताकतवर, अतिशय सुन्दरी और सद्गुणी

थीं। कहते हैं कि देवताओं को उनकी आहुति बराबर नहीं पहुँचा करती थी इसलिये वे ब्रह्मा से प्रार्थना करने गये और तब ब्रह्मा ने स्वाहादेवी को बुलाकर उनसे अग्निदेव के साथ विवाह करने को कहा। ब्रह्मा के कहने के अनुसार स्वाहा ने आजीवन कुमारी रहने का अपना विचार छोड़ कर अग्निदेव के साथ विवाह करना स्वीकार कर लिया और सामवेद में वर्णित रीत्यानुसार वेद मंत्रों के साथ उनका पाणिग्रहण हो गया। पति के साथ उन्होंने अपना जीवन पूरी भक्ति और प्रेम के साथ व्यतीत किया। इनके तीन सुन्दर पुत्र हुए थे। इनकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अग्निदेवने इन्हें बरदान दिया था कि अबसे लोग मुझे आहुति देंगे तो तेरे पवित्र नाम का भी उच्चारण करेंगे। तभी से अहुति देते वक्त 'स्वाहा' शब्द बोला जाता है।

स्वाहा परम विदुषी थीं। ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान के कई सूक्त भी इन्होंने रचे हैं। अतः इस परम विदुषी की यादगार क़ायम रखने के लिये भी यज्ञ में आहुति के वक्त स्वाहा शब्द का उच्चारण करने की प्रथा पड़ी हो, तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

तपती

यह विदुषी सूर्यदेव की पुत्री और सावित्री की छोटी बहन थी। तपती एक तपः परायण स्त्री थी, इससे तीनों लोकों में इसकी प्रशंसा फैल रही थी। सूर्यदेव का दूसरा नाम तपनदेव है। तपनदेव जैसे रूपवान थे वैसे ही उनकी कन्या भी अपूर्व रूपवती थी। इस समय में देवकन्या, असुर-

कन्या यक्षकन्या, गन्धर्वकन्या अथवा अन्य कोई भी कन्या तपती जैसी खूबसूरत न थी। तपती की दोनों आँखें विशाल थीं। उसके अङ्ग—प्रत्यङ्ग, शरीर का प्रत्येक अवयव, कोमल और सम्पूर्ण थे। सूर्यदेव इस अतिशय सुन्दरी साध्वी, और सदाचारी कन्या के अनुरूप सुन्दर, गुणी, शीलवान और विद्वान वर की तलाश करने लगे; परन्तु उन्हें कोई उपयुक्त वर दिखाई नहीं दिया। धीरे—धीरे कन्या पूर्ण यौवन को प्राप्त होने लगी। यह देख सूर्यदेव को उसके लिये चिन्ता हुई। उन्होंने अनेक वरों को देखा, पर उनको कोई पसन्द न आया। इन्हीं दिनों ऋक्षपुत्र कुरुक्षेत्र राजा सम्वरण, सूर्य की आराधना कर रहे थे। निरभिमानी पौरवनन्दन सम्वरण स्नान करके स्वच्छ हो एकाग्रचित्त सूर्य की आराधना करते थे; तपस्या, उपवास, व्रत नियम तथा अर्घ्य द्वारा वह रात-दिन सूर्यदेव की भक्ति और आराधना में लीन रहते थे। राजा सम्वरण को इतना कृतज्ञ, धर्मज्ञ और अप्रतिम रूपवान देखकर सूर्यदेव ने सोचा कि तपती के योग्य कोई वर है तो यह राजा सम्वरण ही है। मन ही मन उन्होंने सम्वरण के साथ तपती का विवाह करने का संकल्प भी कर लिया।

दिवाकर सूर्य जैसे अपने प्रकाश से तमाम आसमान को प्रकाशित करता है वैसे ही पृथ्वी पर चारों ओर राजा सम्वरण के गुणों का प्रभाव फैल रहा था। जिस प्रकार सूर्य के निकलते ही ब्राह्मण लोग उसकी उपासना करते हैं वैसे ही ब्राह्मण क्षत्रिय आदि प्रजाजन राजा सम्वरण की उपासना करते थे। अपने पराक्रम और सौजन्य से इस राजा ने दूसरे कई राजाओं को भी अपने अधीन कर लिया था। ऐसे सद्गुणी पुरुष के साथ अपनी

प्यारी और सद्गुणी कन्या का विवाह करने का सूर्यदेव ने निश्चय कर लिया।

एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि महापराक्रमी राजा सम्वरण शिकार के लिए पहाड़ के निकटवर्त्ती एक जंगल में गये थे। वहाँ शिकार के पीछे पीछे दौड़ते हुए भूख-प्यास से घबड़ा कर उनके निरुपम घोड़े ने प्राण त्याग दिये। तब राजा उदास होकर एक वृक्ष के नीचे जा बैठे। इतने में उनकी नजर एक विशाल नैनोंवाली एक सुन्दरी पर गई। सुनसान जंगल में परम-सुन्दरी कन्या को अकेली देख कर राजा एकटक उसकी ओर निहारने लगे। उसकी असाधारण सुन्दरता को देखकर मन-ही-मन वह सोचने लगे कि ऐसी सुन्दर स्त्री तो मैंने आजतक नहीं देखी। यह कौन है? यह हरि की पत्नी लक्ष्मी है या प्रभाकर की प्रभा आकाश से गिर कर कन्या के रूप में पृथ्वी पर पैदा हुई है? इस सुन्दरी का तेज अग्नि की ज्योति के समान था, और लावण्य चन्द्रमा के समान। मुख पर प्रसन्नता छा रही थी। पहाड़ पर खड़ी हुई यह सुनयनी ऐसी मालूम होती थी, मानों कोई दिव्य मूर्ति हो। तरुलता से शोभित यह पहाड़, कन्या के अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत वेशभूषा के कारण, सोने सरीखा जान पड़ता था। राजा इसको देखकर एकदम मुग्ध हो गये। उन्हें विश्वास हो गया कि तीनों लोकों में मैंने जितनी स्त्रियाँ देखी हैं वे सब इस सुन्दरी के मुकाबिले किसी गिनती में नहीं हैं; क्योंकि ऐसी सुन्दर वस्तु अपने जीवन भर में राजा ने और कोई न देखी थी। उनके नेत्र और मन सुन्दरी पर एकाग्र हो गये। उसकी सुन्दरता में वे इतने तल्लीन हो गये कि उनसे एक पग भी आगे न बढ़ा गया। कुछ देर बाद वे सोचने लगे

कि सुर, असुर, मनुष्य और देवता इन सब का मन्थन कर के विधाता ने यह विशालाक्षी रूप बनाया है; क्योंकि इस सुन्दरी के रूप और लावण्य की तुलना तो तीनों लोकों में भी नहीं हो सकती। ऐसी अनेक विचार तरङ्गें राजा के मन में उठने लगीं और सुन्दरी के नयन बाणों से उनका प्रेमी हृदय बिधने लगा। फिर धीरे-धीरे वे आगे बढ़े और सुन्दरी कन्या को सम्बोधन करके कहने लगे—'हे सुन्दरी ! इस निर्जन वन में तू अकेली क्यों घूमती है ? तू सर्वाङ्ग-सुन्दर है, फिर तेरे शरीर पर कीमती गहने-कपड़े भी हैं; पर सच पूछो तो इन वस्त्रालंकारों से तेरी शोभा नहीं, बल्कि तेरे कारण इन वस्त्रालंकारों की शोभा बढ़ रही है। तू देवकन्या है या राक्षसकन्या, यक्षकन्या है या नागकन्या, गन्धर्व-कन्या है या मानवकन्या, अथवा कौन है यह मेरी समझ में नहीं आता। हे सुन्दरी ! मैंने अपने जीवन भर में जितनी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं उनमें से एक भी ऐसी नहीं जो सुन्दरता में तेरी बराबरी कर सके। हे चारु वदने ! पद्मपलाश (कमल पत्र) जैसे सुशोभित और चन्द्रमा से भी बढ़कर तेरा सुन्दर मुख देखकर कामदेव की पीड़ा मुझे सता रही है।' कामातुर राजा सम्बरण के मुँह से बारम्बार ऐसी स्नेह और प्रशंसा की बातें सुनकर, यह सुन्दरी कन्या एकदम ऐसी अन्तर्ध्यान हो गई, जैसे कि बादलों में बिजली गायब हो जाती है। पाठक यह तो समझ ही गये होंगे कि राजा सम्बरण के हृदय को कामबाण से वेधनेवाली यह लावण्यमयी ललना कौन थी। यह सुन्दरी और कोई नहीं सूर्यदेव की कन्या तपती ही थी। उसके एकाएक गायब हो जाने पर राजा पागल की तरह चारों ओर उसे ढूँढ़ने लगा। और बहुत देर तक फिरने

पर भी जब सुन्दरी का पता न लगा तो राजा एक जगह बैठकर खूब विलाप करने लगा। यहाँ तक कि विलाप करते-करते वह बेहोश तक हो गया।

राजा जब बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ा तो कमल नयनी तपती फिरसे अवतीर्ण हो गई। और कामातुर राजा को दर्शन दे, हँसती हुई मीठे शब्दों में कहने लगी—"राजन्! उठो। भगवान् तुम्हारा मङ्गल करें। तुम पृथ्वी के मशहूर भूपति हो; तुम्हें इस प्रकार एकाएक मोह के वश में न हो जाना चाहिये।" तपती की मीठी बातों और स्नेह युक्त शुश्रूषा से राजा की बेहोशी दूर हो गई और वह सुन्दरी की तरफ़ देखने लगा। कुछ देर तक तो चुपचाप वह उसके सौन्दर्यरूपी सुधामृत का पान करता रहा। फिर बोला—"हे कोमलाङ्गी। काम के वश होकर हर घड़ी मैं तेरा ही भजन कर रहा हूँ। कृपा करके तू मेरी इच्छा को सफल कर। क्योंकि तेरे बग़ैर मेरा प्राण ही निकला जाता है। तेरे लिए कामदेव मुझे सता रहा है; और अन्य किसी प्रकार से उसका शान्त होना सम्भव नहीं। हे प्रफुल्ल चित्त सुन्दरी! काम-रूपी सर्प मुझे डङ्क मार रहा है। हे सुमुखी! इस भुजङ्ग के हलाहल—ज़हर—से तू मेरी रक्षा कर। अब मेरा जीवन तेरे ही हाथों में है। तेरे बिना मेरा जीते रहना सम्भव नहीं। कामदेव मुझे बेहद सता रहा है। तू मुझपर कृपा कर। मैं तेरा भक्त हूँ, इसलिये तुझे मेरा परित्याग नहीं करना चाहिये। तुझे तो मेरे साथ नेह-बन्धन जोड़ कर मुझे जीवन-दान देना ही चाहिये; क्योंकि तुझे देखते ही मेरे हृदय में प्रेम उमड़ आया है और वह मेरे अन्तः करण को बड़ा चंचल कर रहा है। हे कल्याणी! तेरा सौन्दर्य देखने के बाद तीनों लोकों

की अन्य किसी स्त्री की तरफ झाँकने की भी अब मुझे इच्छा नहीं रही। मैं तो अब तेरी ही शरण हूँ। तू प्रसन्न होकर शरण आये हुए भक्त को सन्तुष्ट कर। जबसे मैंने तुझे देखा है तभी से अपने तीखे बाणों से कामदेव मेरे हृदय को बींध रहा है। कामाग्नि से मेरा शरीर जल रहा है। अपने प्रेम-रूपी जल से तू इस अग्नि को शान्त कर। कामदेव मुझे जो असह्य वेदना पहुँचा रहा है, अपने आत्मदान द्वारा उस वेदना को तू एकदम मिटा दे। हे सुन्दरी! तू मुझसे गन्धर्व-विवाह कर। क्योंकि तमाम विवाहों में गन्धर्व-विवाह ही सबसे श्रेष्ठ है।" तपती ने जवाब दिया—"राजन्! मेरे पिता मौजूद हैं। अतः अगर मुझपर तुम्हारा प्रेम है, तो उनसे इसके लिए कहिये। हे नरेश्वर! जैसे मैंने तुम्हारा मन हरण किया है वैसे ही तुमने भी दर्शन मात्र से मेरा हृदय आकर्षित कर लिया है। हे नृपोत्तम! स्त्रियाँ खुद मुख्त्यार नहीं। अपने शरीर पर अपना अधिकार न होने के कारण ही मैं तुम्हारे सामने न आई थी; नहीं तो जिनकी कुलीनता तमाम दुनियां में मशहूर है, ऐसे प्रजा-वत्सल राजा से विवाह करने की इच्छा भला कौन स्त्री न करेगी? अतः उपयुक्त समय देख कर, मेरे पिता आदित्य को तपस्या, पूजा तथा यम-नियमादि से प्रसन्न करके, आप उनसे मेरे लिए कहें। हे राजन्! हे अरिसूदन! अगर मेरे पिता तुम्हें मेरा कन्यादान करने को राज़ी हो जायँ, तो मैं सदैव तुम्हारे अधीन रहूँगी। हे क्षत्रियवर! मेरा नाम तपती है। मैं तमाम सृष्टि को प्रकाशित करनेवाले सूर्य की पुत्री और सावित्री की छोटी बहन हूँ।"

इतना कहकर तपती तुरन्त ही वहाँ से चली गई। राजा वरण फिर ज़मीन पर गिर पड़े। शिकार खेलने को आये हुए

राजा को इस प्रकार जब बहुत देर हो गई, तो उनके साथी लोग उन्हें ढूँढ़ते हुए इस सुनसान जंगल में आये। यहाँ उन्होंने ऐरावत हाथी के समान राजा को ज़मीन पर पड़ा देखा। यह देख कर राजा के सब हितैषी चिन्ता में पड़ गये; पर किसी प्रकार हृदय को शान्त कर, अनेक उपचारों द्वारा, उन्होंने कामातुर राजा की बेहोशी दूर की और ज़मीन पर से उन्हें उठाया। राजा का मंत्री (दीवान) बड़ा वृद्ध, विद्वान, तजुर्बेकार और स्वामी-भक्त था। मीठे शब्दों में वह राजा को तसल्ली देते हुए बोला—"हे निष्पाप राजा! हे पुरुषसिंह! तुम्हारा कल्याण हो! तुम किसी बात से मत घबराओ।" रणक्षेत्र में अनेक शत्रुओं का संहार कर डालने वाले राजा को इस प्रकार ज़मीन पर पड़ा देख कर मंत्री ने समझा कि यह भूख-प्यास से पीड़ित होंगे। अतः खुशबूदार ठण्डा पानी उसने राजा के सिर पर डाला। इससे राजा को कुछ चेत हुआ। इसके बाद मंत्री के अलावा और सब को राजा ने वहाँ से हटा दिया। राजा की आज्ञा पाकर तमाम सेना वहाँ से चली गई। तब राजा पुनः उस पहाड़ पर चढ़े और नहा-धोकर, शुद्धता के साथ, हाथ जोड़े हुए खड़े रह कर सूर्यदेव की आराधना करने लगे। साथ ही, इस समय, उन्होंने वशिष्ठ मुनि का भी स्मरण किया। जब राजा को बारह दिन और रात बराबर इसी तरह एक जगह खड़े हुए हो गये, तो वशिष्ठ मुनि ने अपने योगबल से जान लिया कि राजा तपती पर मोहित हो गया है और कामबाण से उसका हृदय विधा जा रहा है। अतः उन्होंने प्रेमपूर्वक बातें करके राजा को धीरज बँधाया और तपती को प्राप्त कराने का वादा किया।

राजा से विदा होकर तपस्वी वसिष्ठ मुनि सूर्य भगवान से मिलने के लिये आकाश में गये और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होकर प्रेमपूर्वक बोले—"मैं वशिष्ठ हूँ।" महातेजस्वी सूर्य ने कहा—"हे महर्षि! आपका आगमन शुभ हो! कहिये आपको क्या चाहिये? हे महात्मा! आप मुझसे जोकुछ मांगेंगे, वह चाहे जितना दुस्तर हो, तो भी मैं आपको ज़रूर दूँगा। मैं आपकी इच्छा की पूर्ति अवश्य करूँगा।" इस पर वशिष्ठजी ने प्रणाम करके कहा—"हे सूर्य! आपके सावित्री से छोटी तपती नामक जो कन्या है, मैं राजा संवरण के साथ उसका विवाह करदेने के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ। यह राजा बड़ा कीर्तिशाली, धर्म को जाननेवाला और उदार-हृदय है। मेरे विचार में तो आपकी कन्या के लिये इनसे बढ़कर योग्य वर और कोई नहीं मिल सकता।" सूर्यदेव ने ऋषि की बात मान ली और राजा संवरण के साथ तपती का विवाह कर देने को राज़ी हो गये। वह आदर के साथ मुनि से बोले—"हे मुनि! राजा संवरण भूपतियों में सर्व-श्रेष्ठ है, तो तपती भी रमणियों में सबसे श्रेष्ठ है; अतः इन दोनों श्रेष्ठ पात्र-पात्री का संयोग होने से बढ़कर खुशी की बात और क्या हो सकती है?" इसके बाद सूर्यदेव ने वशिष्ठजी के साथ ही तपती को राजा संवरण के पास भेज दिया।

वशिष्ठजी तपती के साथ विदा हुए, और जहाँ पुरुवंशी राजा संवरण तपस्या कर रहा था वहाँ आ पहुँचे। कामदग्ध राजा संवरण तो तपती के ध्यान में ही डूबा हुआ था; अतः दूरसे ही मुनि के साथ तपती को आते हुए देखकर, वह बड़ा प्रसन्न हुआ। आसमान से गिरनेवाली बिजली जैसे चारों दिशाओं

को चमका देती है, कमलाक्षी तपती ने भी आकाश से उतर कर अपनी दिव्य कान्ति के तेज से चारों ओर वैसी ही शोभा फैला दी। फिर राजा की बारह रात की तपस्या जब तक पूरी न हो गई, तब तक वशिष्ठजी भी वहीं रहे। इस प्रकार तपस्या द्वारा सूर्यदेव की आराधना करके और वशिष्ठजी द्वारा सिफ़ारिश कराकर राजा संवरण ने तपती को अपनी स्त्री के रूप में प्राप्त किया। वशिष्ठ जी के कहने के मुताबिक इस सुन्दर पहाड़ पर उन्होंने विधि पूर्वक तपती का पाणिग्रहण किया और नगर, राज्य, वाहन और सोनादि का सब काम-काज मंत्री के सुपुर्द करके आप खुद तपती के साथ विहार करने के लिए इस सुन्दर पहाड़ पर रहने लगे। इसके बाद राजा से विदा होकर वशिष्ठजी अपने आश्रम में चले गये। राजा संवरण और तपती बड़े प्रेम से जगह-जगह विहार करने लगे। बारह वर्ष तक इस सुन्दर पहाड़ पर उन्होंने नाना प्रकार की क्रीड़ा की। इसपर इन्द्रदेव अप्रसन्न हो गये और राजा की राजधानी तथा राज्य-भर में वर्षा बन्द कर दी। वर्षा के बन्द हो जाने के कारण मनुष्य तथा पशु-पक्षी मरने लगे और प्रजा बड़े सङ्कट में पड़ गई। प्रजाजन भूख-प्यास से दुःखी होकर इधर-उधर भागने लगे। भुखमर और हड्डी के खोखले सरीखे लोगों से तमाम देश भर गया; जिससे वह प्रेतों का प्रेतस्थान सा ही मालूम होने लगा। धर्मात्मा वशिष्ठ मुनी ने जब राजा संवरण के राज्य की ऐसी दुर्दशा देखी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ और राज्य में सुधार करने की ओर उनका ध्यान गया। वे अनेक दिनों से तपती के साथ भोग-विलास में लगे हुए राजा को वापिस राजधानी में लाये। जब राजा संवरण अपने नगर में वापिस आ गये, तो इन्द्र ने भी

प्रसन्न होकर पहले की तरह वर्षा शुरू कर दी। प्रजा को भी इससे बड़ी खुशी हुई। तत्पश्चात् जैसे इन्द्र ने इन्द्राणी के साथ यज्ञ किया था उसी प्रकार राजा संवरण ने भी तपती के साथ बारह वर्ष तक यज्ञ किया। तपती सदैव सब धार्मिक कृत्यों में पति की सहायक रहीं और अनेक बार अपनी विद्या-बुद्धि से उन्होंने राजा को उपयोगी सलाहें भी दी। तपती के गर्भ से राजा कुरु पैदा हुए थे जिनकी सन्तान कौरव-पाण्डव थे। तपती के सद्गुणों के लिए तमाम कौरव-वंश को अभिमान था। इसीलिए महाभारत में भी व्यासजी ने महापराक्रमी वीर अर्जुन को 'तपत्य' यानी तपती की सन्तान शब्द से सम्बोधन किया है।

सावित्री

हिन्दुस्थान में प्रत्येक व्यक्ति सावित्री का नाम जानता है। सब को यह मालूम है कि इसने सतीत्त्व के बल पर अपने मरे हुए पति को फिर जीवित कर लिया था। आदर्श सती की तरह यह संसार में प्रसिद्ध है। कोमलता, लज्जाशीलता, विनय, सतीत्त्व, पातिव्रत्य, माता-पिता की आज्ञा का पालन, सास-श्वसुर की सेवा-चाकरी, संगी-साथी तथा प्रेम मित्रों का आदर सत्कार, गृहस्थी का कार्य, कुशलतापूर्वक चलाने के लिये सिर तोड़ प्रयत्न, सुख दु:ख में पति का हिस्सेदार बनना, पति के साथ एक प्राण होने के लिये अहमत्व का नाश करना तथा धर्म और कर्त्तव्य का पालन करने में निर्भयता और दृढ़ता रखना आदि गुण आदर्श नारियों का विशेषता समझी जाती है। इनमें का एक भी गुण मनुष्य को

साधारण व्यक्तियों की अपेक्षा ऊँची श्रेणी में पहुँचा देता है; तब फिर जिस स्त्री में इन सब गुणों का एक साथ समावेश हो अर्थात् जिसमें ये सब गुण हों वह यदि श्रेष्ठ सती समझी जाय और उस का नाम अमर हो जाय इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जिस दिन सावित्री ने अपने धर्म-बल से अपने मृत पति सत्यवान को फिर से जीवित किया था, उस पुण्य तिथि ज्येष्ठ मास के अन्धेरे पक्ष की चतुर्दशी को अपनी गृह लक्ष्मिएँ पति की दीर्घायुष्य की इच्छा से बड़ा कठिन व्रत करती हैं और वह व्रत सावित्री-व्रत कहा जाता है।

प्राचीन काल—सतयुग—में भारतवर्ष के पंजाब प्रान्त में मद्र देश नाम का एक राज्य था। अश्वपति नाम का राजा इस राज्य का स्वामी था। यह राजा बड़ा पराक्रमी तथा सत्गुणी था। वह पृथ्वी की तरह सहनशील और क्षमावान था, कर्ण के समान महादानी था और उसकी बुद्धि देवताओं के गुरु बृहस्पति के समान थी। इसके सिवाय वह बड़ा सुन्दर, धैर्य्यवान और भक्त था।

इस राजा के राज्य में न तो किसी प्रकार की अशान्ति थी, न कुछ बुराई ही थी। राजा बड़े सुख से राज्य करता था; पर जगदीश्वर की इस सृष्टि में सम्पूर्ण सुख किसी के भाग्य में बदा ही नहीं। राजा अश्वपति के भी दुःख का एक कारण था। वह वृद्ध होने आया; किन्तु सन्तान का मुख देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। इससे राजा और रानी, दोनों, दुःखी रहते थे। प्रजा को भी चिन्ता थी कि अभी तक अपने राज्य का कोई योग्य उत्तराधिकारी (वारिश) पैदा नहीं हुआ।

सन्तान होने के लिये रानी ने कितने ही व्रत-उपवास किये, यज्ञ-याग किये, परन्तु कुछ परिणाम नहीं निकला। बिचारी रानी और क्या करती ? सारे दिन रात वह गहरी साँस भरती, और आँखों से बराबर आँसू बहाती रहती थी।

राजा ने इस विषय में सलाह करने के लिये ऋषि-मुनि तथा विद्वान ब्राह्मणों की सभा एकत्रित की। अन्त में सभा में यह निश्चय हुआ कि पुत्र की प्राप्ति के लिये राजा जंगल में जाकर तपस्या तथा सावित्री देवी की उपासना करें। सावित्री देवी विधाता ब्रह्मा की प्रिय पत्नी है। इन्हें प्रसन्न करने से ब्रह्मा भी प्रसन्न होंगे और तब वे अपना विधान बदल देंगे। इसलिये सावित्री देवी की आराधना करना ही ठीक है। विद्वानों की सलाह मान कर राजा वन में तपस्या तथा सावित्रीदेवी की उपासना करने के लिये तैयार हुआ।

राजा अपनी रानी तथा प्रजा से विदा माँग कर तीर्थराज पुष्कर को गये और वहाँ एकाग्र चित्त हो सावित्री देवी का ध्यान और पूजा करने लगे। वहाँ पूरे अठारह वर्ष तक बड़ा कठोर तप किया। प्रति दिन यज्ञ में सावित्री मन्त्र की एक लाख आहुति देता, और दिन छिपने के बाद कन्द मूल जो कुछ मिलता उसका आहार कर जीवन व्यतीत करता। इस प्रकार अठारह वर्ष तक तपस्या करने पर सवित्री देवी उस पर प्रसन्न हुई।

अश्वपति हवन कर रहा था, इतने में हवन की अग्नि में से सावित्रीदेवी प्रत्यक्ष हुई, और बरदान माँगने को कहा। राजा ने हाथ जोड़ कर कहा—"मैं अपने हृदय में कुछ अभिलाषा रख-कर तप कर रहा हूँ, यह बात आपसे छिपी नहीं"। आप मुझपर

प्रसन्न हुई है तों मुझे वर दीजिये कि मेरे कुल के दीपक सौ पुत्र उत्पन्न हों।" सावित्री देवी ने कहा—"मुझे पहिले ही से तुम्हारा विचार मालूम हो गया था, और इसलिये मैंने ब्रह्माजी से तुम्हें पुत्र प्रदान करने के लिये कहा था। उत्तर में उन्होंने कहा कि कुछ ही दिनों में तुम्हारे यहां कन्या का जन्म होगा और यह कन्या ही सौ पुत्रों की आवश्यकता की पूर्ति करेगी। इस कन्या का तुम अच्छी तरह आदर सत्कार करना। इतना कहकर सावित्री देवी अन्तर्धान हो गई। अश्वपति भी देवी का आशीर्वाद पाकर प्रसन्नतापूर्वक राजधानी को वापिस लौटा।

कुछ दिनों वाद रानी के गर्भ रहा और पूरे दिनों एक अपूर्व सुलक्षणा कन्या का जन्म हुआ। देवताओं के शरीर में जिस तरह के शुभ चिह्न दिखाई देते हैं, वैसे ही चिह्न इस कन्या के शरीर पर भी थे। इस अपूर्व ज्योतिर्मयी वालिका को देखकर अश्वपति तथा रानी मालवीदेवी कुछ देर के लिये स्वर्गीय आनन्द में निमग्न हो गयी। सम्पूर्ण देश में आनन्दोत्सव फैल गया। गरीवों को बहुत सा धन दिया गया।

यथा विधि जातकर्म और नामकरण संस्कार हुआ। सावित्री देवी के वरदान से बालिका का जन्म हुआ था, इंसलिये इसका भी नाम सावित्री रक्खा गया।

शुक्लपक्ष के चन्द्रमा की तरह सावित्री दिन प्रतिदिन वढ़ने लगी। ज्यों ज्यों वर्ष वीतते गये, त्यों त्यों कन्या का रूप लावण्य भी बढ़ता गया। सावित्री ने जव यौवन (जवानी) में पैर रक्खा, तव इसका अपूर्व रूप देखकर सब को यह धारणा होने लगी कि यह कोई मानवी नहीं, वरन देवी है। वास्तव में जव

सावित्री स्नान करने के बाद अपने लम्बे और भोरें के समान काले बाल पीठ पर फैलाकर खड़ी रहती उस समय ऐसा प्रतीत होता था, कि मानो किसी कुशल कारीगर ने नवीन मेघ (बादलों) पर बिजली का रंग चढ़ाकर एक तस्वीर बनाई है।

परन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' के अनुसार किसी भी वस्तु का हद्से अधिक होना अच्छा नहीं। रूप अथवा सुन्दरता के सम्बन्ध में भी कदाचित यही बात ठीक है। सौन्दर्य की भी एक सीमा है। एक सौन्दर्य ऐसा होता है कि वह मनुष्य के हृदय में भक्ति रस पैदा करता है; किन्तु प्रणयका भाव उत्पन्न ही नहीं होने पाता। सावित्री का रूप भी इसी तरह का होने से कोई इसके साथ विवाह करने को तैयार नहीं हुआ। कई युवक सगाई करने आये; परन्तु सावित्री की देवी सी कान्ति देखकर वापिस फ़िर गये। राजा अब कन्या के विवाह के सम्बन्ध में बड़े असमंजस में पड़ गये।

सावित्री अब बड़ी हो गयी थी। अब वह संसार की अनेक बातें समझने लगी थी। अपने विवाह की चिन्ता में पिता रातदिन शोकग्रस्त रहते हैं, यह देखकर सावित्री भी गम्भीर विचार में पड़ गयी। सूर्योदय से लेकर सोने के समय तक वह व्रत, पूजा, शास्त्र-पाठ तथा माता-पिता की सेवा आदि कितने ही काम करती थी, जिन्हें देखकर मन में आश्चर्य पैदा हुए बिना नहीं रहता था। फिर ये काम होते भी थे बड़ी कुशलता अर्थात् चतुराई के साथ। इन सब कार्यों के करते समय इसे यही ध्यान रहता था; कि मैं किस तरह पिता को अपने विवाह की चिन्ता से मुक्त करूँ?

इस तरह कई वर्ष बीत गयें, पर सावित्री का पाणि-ग्रहण (विवाह) करने के लिये कोई आगे नहीं आता, यह देख कर राजा एकदम निराश हो गया। पिता का दुःख देख कर सावित्री को भी बड़ा दुःख हुआ। इसी बीच एक दिन राजा अश्वपति ने कन्या को बुला कर कहा—"बेटी सावित्री ! अब तेरे विवाह का समय आ गया है; किन्तु मेरे सामने कोई पुरुष तुझे ग्रहण करने की इच्छा से नहीं आया इसलिये मैं तुझे छुट्टी देता हूँ कि तू स्वयं ही अपने योग्य पति को ढूंढ ला। तू जिस वर को पसन्द करे, उसके हालचाल से मुझे सूचित कर देना, मैं उस पर विचार करने के बाद तेरा कन्या-दान करदूंगा।"

सावित्री ने नीचा सिर कर मौन द्वारा (चुप रह कर) पिता के विचारों के साथ अपनी सम्मति प्रकट कर दी और अपने वृद्ध मन्त्री तथा अन्य सेवक और सखियों को साथ लेकर वर की खोज में देशाटन करने के लिये रवाना हुई।

शुभ मुहूर्त में सावित्री ने यात्रा प्रारम्भ की। कितनी ही नदी, गांव, नगर, वन और पर्वतों को पार करते हुए उस का रथ जाने लगा। अपनी राजधानी के बाहर के प्रदेश की शोभा देख कर सावित्री को बड़ा आनन्द हुआ। प्रकृति को निरंकुश अवस्था में स्वच्छन्द विहार करती हुई देख कर जो आनन्द होता है, कृत्रिम सौन्दर्य के बीच में रहनेवाले नगर निवासियों को उसकी कल्पना तक नहीं हो सकती। इस यात्रा में सावित्री ने कई राजपुत्र तथा ऋषि कुमार देखे, किन्तु कोई भी उसके मन में न भाया अन्त में वह एक रमणीक अर्थात् सुन्दर तपोवन में जा पहुँची। तपोवन की शोभा देख कर उसके मन में अपूर्व आनन्द का

संचार हुआ। इस तपोवन में अनेक ऋषियों के आश्रम थे। दूर से ही उनकी स्वच्छ पर्णकुटी (पत्तों की झोपड़ियाँ) दिखाई देती थीं। प्रत्येक आश्रम में हवन, तप और वेद गान हो रहा था। यज्ञ-हवन के कारण सारे तपोवन का वायु सुगन्धित हो रहा था। किसी जगह मोर नाच रहे थे, तो कहीं हिरन के बच्चे कूद रहे थे, और कहीं अपने बछड़ों के साथ गायें शान्त भाव से चर रहीं थीं। यह सब देख कर सावित्री को बड़ा सुख हुआ। चित्त कुछ स्वस्थ हुआ। अन्य सब सखियों को पीछे छोड़, केवल एक सखी को साथ ले वह पैदल ही तपोवन में घूम रही थी। इतने में एक आश्रम की ओर नजर जाते ही सावित्री का पैर एक दम रुक गया। वह एकटक इस आश्रम की तरफ देखने लगी, उसके नेत्र वहाँ स्थिर हो गये, शरीर चेतना रहित हो गया, और मुँह से शब्द निकलना बन्द हो गया। उसकी यह हालत देख कर साथवाली सखी भी अवाक् रह गयी। सखी के, सावित्री के इस प्रकार हो जाने का कारण पूछने पर उसने इस तपोवन के एक आश्रम में बैठे हुए तरुण उम्र के एक तपस्वी की तरफ इशारा कर के कहा—सखी ! इस ऋषिकुमार को तो देख, कैसा सुन्दर है।

कुछ देर में सावित्री के अन्य साथी भी आ पहुँचे, और सब इस आश्रम के सामने आ गये। वहाँ एक सुन्दर युवक घोड़ी के एक बछेरे के साथ खेल रहा था। किशोरावस्था छोड़ कर वह युवावस्था में पैर रख चुका था। जवानी की छटा से इसके अंगों की स्वाभाविक सुन्दरता विशेष तेजस्वी हो गयी थी। परन्तु युवावस्था के अनेक लक्षणों के होते हुए भी, इसमें बालकों की सी सरलता और नम्रता थी। आश्रम के पास रथ के पहुँचते

ही यह भी कुतूहलवश उसके सामने आ गया। इतने में सावित्री अपनी सखियों सहित रथ में से उतर पड़ी*। सावित्री का अपूर्व दैवी रूप, उसकी सखियों के बहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा उसकी रजवाड़ी पोषाक देख कर बालक समझ गया कि अवश्य ही ये कोई असाधारण अतिथि आये हैं। प्राचीन समय के आर्य, अतिथि को देवता के समान मान कर उनका वैसा ही आदर सत्कार करते थे। इस बालक के माता पिता अन्धे थे और एक वृक्ष के नीचे बैठ कर तप कर रहे थे, इसलिये इन राज-अतिथियों का सत्कार करने का उत्तरदायित्व इस युवक पर ही आ पड़ा। ऋषिकुमार को पास आये देखकर सावित्री के साथी मंत्री ने पूछा—'ऋषिकुमार! हम लोग देश भ्रमण के लिये निकले हैं, इसलिये हम यह जानना चाहते हैं कि यह सुन्दर आश्रम किसका है? और क्या हम यहाँ रात्रि को ठहर सकेंगे?"

युवक ने उत्तर दिया—"श्रीमन्! यह आश्रम राजर्षि द्युमत्सेन का है। मैं उनका पुत्र हूँ। मेरे पिता शाल्व देश के राजा थे, परन्तु अठारह वर्ष से उनके शत्रुओं ने उन्हें अपने राज्य से हटा दिया है। वे अन्धे हैं और अभी आश्रम में तपस्या कर रहे हैं। चलिये मैं आप को उनके पास ले चलता हूँ।"

युवक की विनय पूर्वक मीठी बातें सुन कर तथा शाल्व देश

---

* अभी ऊपर कहा जा चुका है कि सावित्री अकेली और पैदल ही आश्रम में घूम रही थी; अब यहाँ सब के साथ आना और रथ में से उतरना लिखा है, यह परस्पर विरोधी बात है। लेखक से भूल हो गयी मालूम होती है। वास्तव में अन्य पुस्तकों में, सावित्री का अकेले और पैदल घूमना ही लिखा मिलता है।—अनुवादक।

के एकमात्र पुत्र को इस प्रकार मुनिवेष में देख कर सब आश्चर्य चकित हो गये। सावित्री ने तो ऐसा देवता के समान कोई युवक पहले कभी देखा ही न था। इसका मुनि-वेश और चहरे पर झलकता हुआ ब्रह्मचर्य का तेज देख कर सावित्री को विश्वास हो गया कि यह युवक अत्यन्त पवित्र होना चाहिये।

राजमन्त्री ने उससे पूछा—"राजकुमार, आप का क्या नाम है?"

युवक ने उत्तर दिया—"श्रीमन्! मुझे अब राजकुमार न कहिये; मैं अब केवल ऋषिकुमार हूँ। मेरा नाम सत्यवान अथवा चित्राश्व * है।"

सत्यवान का इतना नम्र उत्तर सुन कर सब प्रसन्न हुए। प्रथम दर्शन से ही जिस युवक के प्रति अनुराग अथवा प्रेम उत्पन्न हो गया था, वह ऋषि-सन्तान नहीं, वरन् राजकुमार है, और वह इतना विनम्र तथा मधुरभाषी है, यह जान कर सावित्री के हर्ष की कोई सीमा न रही।

इसके बाद मंत्री सावित्री सहित सत्यवान के माता पिता के पास गये। महाराज अश्वपति की कन्या अपने आश्रम में आयी है, यह जान कर वे बड़े प्रसन्न हुए और हार्दिक प्रेम से सावित्री को आशीर्वाद तथा सत्यवान को यथा विधि अतिथियों की सेवा का आदेश दिया। सत्यवान ने इन्हें भोजन के लिये मीठे कन्द मूल भेंट किये; तपोवन का सुन्दर निर्मल जल पान कराया

---

* राजकुमार को घोड़ों से बड़ा प्रेम था। वह एकान्त में बैठा बैठा घोड़े के चित्र खींचा करता था। इसलिये इसका दूसरा नाम चित्राश्व पड़ गया था।

और अनेक ऋषियों तथा ऋषि–कन्याओं से परिचय कराया। इस प्रकार कुछ दिन तपोवन में रहने के बाद सावित्री, सत्यवान तथा उसके माता पिता की आज्ञा लेकर वहाँ से विदा हुई और मन्त्री से कहा कि अब आगे न जाकर वापिस अपने भद्र देश को ही जायँगे।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सावित्री ने इसी क्षण अपना हृदय इस बनबासी राजकुमार को समर्पित कर दिया था। सत्यवान भी सावित्री के गुणों तथा उसके असाधारण सौन्दर्य से मुग्ध हो गया था। किन्तु अपनी दरिद्रावस्था को देखते हुए उसे यह अभिलाषा करने का साहस न हुआ कि यह गुणवती राजकुमारी उसकी पत्नी बने।

सावित्री अपने लिये वर पसन्द कर पिता की राजधानी आ पहुँची। सब से पहिले पिता के चरणों में दण्डवत–प्रणाम करने गई। इस समय देवर्षि नारदजी भी वहाँ उपस्थित थे। सावित्री ने पहिले इनको नमस्कार कर फिर पिता के चरणों में शिर नवाया। नारद ने पूछा "तुम्हारी यह कन्या कहाँ गयी थी और अब कहाँ से आ रही है?" अश्वपति ने देवर्षि के प्रश्न का उत्तर देने के बाद सावित्री की ओर देख कर पूछा—"तू जो संकल्प कर के तीर्थ और तपोवन में भ्रमण करने गयी थी, उस विषय में तुझे कितनी सफलता मिली, वह मुझे निःसंकोच होकर बता। मैं वह सब वृत्तान्त जानने के लिये बड़ा उत्सुक हूँ।"

उस समय पिता का इस प्रकार पुत्री से खुल्लमखुल्ला पूछना अविवेक युक्त अथवा मर्यादा रहित नहीं समझा जाता था। वह वास्तव में सत्य और सरलता का युग था। फिर भी सावित्री

स्त्रियों की स्वाभाविक लज्जा-शीलता के वश हो सकुचा गई और नीचा सिर कर कहने लगी:—

"शाल्व देश का द्युमत्सेन नाम का राजा है। दैवयोग से वे अन्धे हो गये और संगी स्नेही उनका राज्य दवा वैठे। इसलिये वे अपनी स्त्री और एक मात्र पुत्र को साथ लेकर तपस्या कर रहे हैं। उनके इस पुत्र का नाम"......"—सत्यवान का नाम स्मरण आते ही सावित्री का हृदय प्रेम से उछलने लगा, और इसलिये उस के मुँह से सहसा नाम निकल ही न सका। काँपते हुए स्वर से उसने अन्त में कहा—मैं उसी से विवाह करना चाहती हूँ।"

इतना सुनते ही नारद ने भौंएं टेढ़ीकर कहा—"सावित्री ने यह काम ठीक नहीं किया। अवश्य ही सत्यवान तेजस्वी, बुद्धिमान और सच्चरित्र है, और माता-पिताओं के प्रति उसकी भक्ति भी अतुलनीय है। साथ ही उसका शरीर भी सबल, स्वस्थ और गठीला है; तपाये हुए स्वर्ण के समान उसकी कान्ति है; थोड़े में वह अद्वितीय, रूपवान् और गुणवान है; किन्तु इतना होते हुए भी यह कहना ही पड़ता है, इसे पसन्द कर सावित्री ने बड़ी भूल की है।"

राजा अश्वपति देवर्षि का तात्पर्य न समझ सके, इसलिये उन्होंने नम्रता पूर्वक पूछा—"देवर्षि! आपने सत्यवान के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसमें तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सावित्री ने योग्य वर ही पसन्द किया है। फिर भी आप यह किस तरह कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया? आपके शब्द सुनकर मेरे हृदय में अनेक प्रकार की शङ्का होती है, इसलिये कृपाकर मेरे हृदय के सब संशय और उत्कण्ठा दूर कीजिये।"

अप्रिय सत्य बात का कहना भी बड़ा कठिन काम है। 'अप्रियस्य वक्ता श्रोताय दुर्लभः' के अनुसार ऐसा कहने और सुननेवाला, दोनों ही दुर्लभ होते हैं। परन्तु देवर्षि नारद तो जनता के सच्चे हितैषी थे, इसलिये सच्ची एवं खरी बात कहने में कभी संकोच नहीं करते थे। उन्होंने कहा—"सत्यवान में सब गुणों के होते हुए भी एक ऐसा बड़ा दोष है कि वह सब गुणों पर पर्दा डाल देता है। अर्थात् वह बहुत ही अल्पायुषी—कम उम्रवाला—है। आज से ठीक एक वर्ष बाद वह मृत्यु के मुंह में चला जायगा। इसीलिये मैं कहता हूँ कि सावित्री ने यह पसन्द अच्छी नहीं की।"

पाठिका बहनो! इस समय सावित्री के मन की क्या दशा होगी, ज़रा इसकी आप अपने मन में कल्पना करें। एकबार सावित्री के मुँह की ओर तो देखें। देखिये तो सही कि नारद के मुंह से ऐसे दारुण शब्द निकलते ही उसका खिला हुआ कमल का सा सुन्दर मुख किस तरह कुम्हला गया! आह देखो! उसके नेत्रों में से किस तरह मोतियों की तरह टपाटप आंसू गिरते हैं। सावित्री को अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा।

तब क्या देवर्षि नारद के बचन सुनकर सत्यवान पर से सावित्री का मन हट गया? नहीं, कदापि नहीं। सावित्री ऐसी कन्या नहीं थी। अवश्य ही उसे विश्वास था कि देवर्षि नारद का वचन मिथ्या नहीं होता, इसलिये उसे यह भी निश्चय था कि सत्यवान की आयु अब केवल एक वर्ष तक की है। ऐसी दशा में किसका हृदय काँप नहीं उठता? किस के मुँह पर शोक की छाया नहीं

छा जाती ? सावित्री में भी शोक, दुःख एवं खेद के ये सब चिन्ह दिखायी दिये; किन्तु उसका मन एक क्षण के लिए भी विचलित नहीं हुआ ! उसने मन ही मन विचार किया—"जो होना होगा, सो होगा, किन्तु सावित्री का पति सत्यवान के सिवाय और कोई हो नहीं सकता !"

नारदजी की बात पर राजा अश्वपति का मुँह सूख गया। उन्होंने सावित्री की ओर देखकर कहा—"सावित्री ! देवर्षि के मुँह से तुमने सब सुन लिया है; इसलिये अब मेरा तुमसे अत्यन्त आग्रह है कि तुम अपने मन से सत्यवान का विचार एकदम निकाल दो और अपने लिये कोई दूसरा वर पसन्द कर लाओ।" सावित्री ने पिता की इस सम्मति पर कुछ उत्तर नहीं दिया। वह सिर उठाकर पिता की ओर देख भी न सकी और नीचे की ओर मुँह किये अश्रुजल बहाने लगी। ऐसी स्थिति में मनुष्यों के मन के भाव को व्यक्त करने, और हृदय का भार घटाने की शक्ति यदि किसी में होती है तो वह केवल आँसुओं में ही।

अश्वपति ने समझा कि कन्या को यौवन का प्रथम मद चढ़ा है। मोह में फँसकर यह अपने सामने आई हुई विपत्ति को देखते समझते हुए भी वह उसपर ध्यान नहीं देती। यह खयाल कर उन्होंने फिर सावित्री को अनेक उपदेश देकर दूसरा पति तलाश करने का आग्रह किया।

अब सावित्री से चुपचाप बैठे न रहा जा सका। आर्य बालाओं को धर्म सबसे अधिक प्रिय होता है। धर्म नाश होने का प्रसंग आता दिखाई देनेपर वे संसार की सब लोकलाज और मर्यादा को तिलाञ्जलि देकर पावन-प्रकोप धारण करलेती हैं।

इसी प्रकार सावित्री ने अब सिर ऊपर उठाया। राजसभा में बैठे पुरुषों ने देखा कि इस समय उसके मुखपर एक प्रकार की दिव्य ज्योति प्रकाशित हो रही है। सावित्री समझ गयी थी, कि पिता स्नेहवश होकर आज उसे धर्म विरुद्ध उपदेश कर रहे हैं। उसने सोचा यदि आज मैं ऐसा करूँगी तो भविष्य में अन्य आर्य बालाएं भी इसी प्रकार करेंगी। दो हृदयों का परस्पर दान प्रदान होने में जो महत्त्व है, वह जाता रहेगा। आर्यों का विवाह-संस्कार आत्म-संस्कार से बदलकर केवल व्यावहारिक देह-संस्कार मात्र रह जायगा। नहीं, नहीं, मैं ऐसा कदापि न होने दूंगी।

प्रिय पाठिकाओ! सावित्री ने इस समय पिता को जो उत्तर दिया वह आज भी तुम्हारे कानों में गूंजता रहना चाहिये। इस विषयी संसार में तुम्हारे मन में भी कभी दुर्बलता आजाय तो तुम इस उत्तर का स्मरण कर लेना, एक वार दृढ़ता से, नीचे लिखे श्लोक का पाठ करना, तुम्हारी दुर्बलता जाती रहेगी, कर्त्तव्य का मार्ग तुम्हें स्पष्ट दिखाई देने लगेगा। सावित्री के उत्तर के एक एक शब्द को यहाँ देने के लोभ को हम किसी तरह रोक नहीं सकते। उसने कहा—

सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते।
सकृदात् ददातीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्॥
दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा।
सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम्॥
मनसा निश्चयं कृत्वा ततो वाचाभिधीयते।
क्रियते कर्मणा पश्चात् प्रमाणं मे मनस्ततः॥

अर्थात् जायदाद को बिक्री के लिये चिट्ठी एकही वार आती

जाती है। कन्या का दान केवल एकही वार किया जाता है और कोई वस्तु दूसरे को केवल एकही वार दी जाती है। संसार में तीनों काम एकही वार होते हैं। इसलिये जब मैं सत्यवान को आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ, तब फिर वह चाहे अल्पायुषी हो या दीर्घायु, गुणवान हो या अवगुणी हो, जब तक इस देह से प्राण है तब तक मैं किसी दूसरे का पाणिगृहण नहीं करूँगी। अब उसके सिवाय और कोई दूसरा मेरा पति नहीं हो सकता। देखिये, पहिले मनुष्य किसी काम को करने का विचार करता है, फिर भाषा द्वारा शब्दों में उसे प्रकट करता है और अन्त में उसे कार्यरूप में परिणत करता है इसीलिये इस विषय में मेरा मनही मेरा प्रमाण है।

पाठिकाओ! सुना आपने सावित्री का उत्तर? आज से हजारों वर्ष पहिले इस आर्यबाला ने स्नेह-बन्धन का कैसा उच्च आदर्श उपस्थित किया था इस पर ज़रा विचार कर देखें, और आर्यों की पवित्र विवाह-भावना की स्तुति करें।

सावित्री का यह शास्त्रानुकूल उत्तर सुनकर और उसका अपूर्व तेजस्वी मुख देखकर अश्वपति कुछ भी बोल न सके। देवर्षि नारद प्रफुल्लित हो सावित्री की ओर देखकर कहने लगे—"सावित्री! तू स्त्रियों में धन्य है। तेरी अटल बुद्धि और सती-धर्म में अपूर्व निष्ठा देखकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुझे आशीष देता हूँ कि तेरे द्वारा संसार में सतीत्व की महिमा उज्ज्वल रूप से फैले और तू सत्यवान से विवाह कर दीर्घकाल तक उस के साथ सुख में जीवन व्यतीत करे।"

इस प्रकार आशीर्वाद देकर तथा राजा को विवाह की तैयारी

करने की सूचना देकर नारदजी वीणा बजाते हुए वहाँ से विदा हुए।

राजा अश्वपति ने विवाह की तैयारी करना आरम्भ की। तपोवन-निवासी राजर्षि के पुत्र के साथ विवाह करना था, इसलिये बहुत अधिक ठाटबाट की आवश्यकता न थी। इस समय विपत्ति के मारे, बनवासी समधी को बरात लेकर अपने यहाँ आनेका कष्ट देना भी राजा अश्वपति को उचित प्रतीत नहीं हुआ। इसलिये वह स्वयं ही अच्छा दिन देखकर थोड़े से सगे-सम्बन्धी, राजपुरोहित तथा नौकरों को लेकर बन में गये। तपोवन में पहुँचने के बाद राजा रथ से नीचे उतर पड़े और दूसरे साथियों को वहीं खड़े रहने की सूचना देकर स्वयं एक वृद्ध मन्त्री को साथ लेकर पैदल ही राजा द्युमत्सेन के आश्रम में जा पहुँचे। और अपना परिचय देने तथा साधारण शिष्टाचार के बाद उन्होंने अन्ध-राजर्षि को अपने आने का कारण बतलाया। उत्तर में द्युमत्सेन ने कहा—"मद्रराज! आपकी बात सुनकर मुझे आश्चर्य प्रतीत होता है। आपकी कन्या राजमहल के सुख, वैभव एवं लाड़-प्यार में पली हुई है और मेरे यहाँ का वैभव तो आप देखते ही हैं! पत्तों की कुटिया में निवास और दिन बीतने पर कन्द मूल का आहार। राजकुमारी से आश्रम का यह दुःखदायी जीवन किस तरह सहा जायगा? इसलिये मेरा तो यही कहना है कि मेरे सत्यवान को अपनी कन्या देने का आपका जो विचार है, वह अयोग्य है।"

अश्वपति ने कहा—"राजर्षि, आपने जो कुछ कहा है, एक तरह से वह ठीक है; किन्तु सावित्री यह सब देख और समझ

चूझकर अपनी इच्छासे मन ही मन सत्यवान को वर चुकी है, इसलिये मेरी आपसे प्रार्थना है कि अब आप इसमें किसी प्रकार की आपत्ति न करें। राजधानी के ठाटवाट की अपेक्षा तपोवन का सादा और शान्तजीवन मेरी सावित्री को अधिक पसन्द है, इसलिये वह इसमें कुछ कष्ट न मानेगी।" इस प्रकार कितनी ही वातचीत होने के वाद विवाह का दिन निश्चित हुआ। सत्यवान को स्वयं अपनी आँखों से देखने के वाद राजा को भी यह विश्वास होगया कि सावित्री ने योग्य वर को ही पसन्द किया है।

उसके वाद शुभ मुहूर्त में ऋषियों और ऋषि-पत्नियों के सामने, पवित्र अग्नि की साक्षी में वेद के उच्चार सहित सावित्री का सत्यवान के साथ पाणिग्रहण अर्थात् विवाह होगया। पुत्री को तपोवन—ससुराल—में ही छोड़कर राजा अश्वपति दूसरे दिन शोकपूर्ण हृदय से राजधानी में वापिस लौट आये।

पिता के विदा होने के वाद सावित्री ने राजकीय वेश तथा हीरा मोती आदि के आभूषणों का परित्याग कर दिया और सत्यवान के से भगवाँ वस्त्र धारण कर लिये। इस प्रकार सावित्री राजकुमारी से तपस्विनी वन गयी। किन्तु वास्तविक सौन्दर्य तो सादगी में और भी हजार गुणा अधिक झलक उठता है, इसलिये इस तपस्वी वेश में सावित्री और सत्यवान परस्पर एक दूसरे को पाकर स्वर्गीय सुखमें मग्न होगये। मणि के साथ काँचन (सोना) का संयोग हुआ। दो पवित्रात्माओं के संयोग के लिये तो यह उपमा भी कम है। वास्तव में दो शुद्ध प्रेमी आत्माओं के योग से उत्पन्न आनन्द तो अवर्णनीय ही है। सावित्री के आगमन से तपोवन की शोभा में वड़ी वृद्धि होगयी।

तपोवन के पवित्र जल-वायु के प्रभाव से विशेष स्फूर्तियुक्त बनकर सावित्री सच्चे हृदय से आश्रम-धर्म का पालन करने लगी। स्वामी तथा सास-ससुर की सेवा, अतिथि-सत्कार, पूजा-पाठ तथा यज्ञ हवन आदि की सामग्री तैयार करना यह उसका नित्य प्रति का काम हो गया, और अपने इस कर्त्तव्य का उसने बड़ी सुगमता तथा सुन्दरता से पालन किया। पशु पक्षियों को दाना तथा पानी देना, पौधों तथा लताओं को पानी सींचना यह सब काम स्वयं अकेले करने में सावित्री किसी प्रकार का दुःख या थकान अनुभव नहीं करती थी। सत्यवान जंगल में से लकड़ी की भारी लेकर आता तब सावित्री तुरन्त ही आगे बढ़ कर उसके कन्धों पर से बोझ नीचे उतरवा लेती। इस प्रकार पति के सब कामों में वह सहायता करती। सावित्री के सब गुणों से तपोवनवासी मुग्ध हो गये और ऋषि-पत्नियों के मुँह से रात-दिन केवल उसकी प्रशंसा ही निकलती थी। इस प्रकार सावित्री के दिन कटने लगे। सब देखते थे कि सावित्री गृहस्थी के सुख भोग रही है, और आश्रम धर्म का पालन कर रही है, परन्तु उसके मन में रात दिन जो एक मर्मभेदी पीड़ा रहा करती थी, उसका पता या तो स्वयं उसे रहता था या फिर सर्वान्तरयामी भगवान को। नारदजी ने जो दारुण भविष्यवाणी कही थी, सावित्री एक पल के लिये भी उसे कैसे भूल सकती थी? सोते-जागते, बैठते-उठते ही नहीं, स्वप्न तक में उसे यही विचार रहता और पति की आयु में अब कितने दिन शेष हैं, इसकी वह बराबर गिन्ती करती रहती। इस प्रकार करते करते अन्त में वर्ष पूरा होने में केवल चार दिन शेष रह गये। अभी तक सावित्री ने अपने मन का सारा उद्वेग

एवं अस्थिरता मन की मन में ही रोक रखी थी, सास-ससुर अथवा स्वामी किसी को कुछ भी नहीं बताया था। उसका मुख शान्त था, किन्तु उसके हृदय में कैसी होली जल रही थी, उसका वर्णन किया जा सकना असम्भव है। केवल पतिप्राणा रमणियें ही सावित्री के मन की इस समय की स्थिति की कल्पना कर सकती हैं।

सत्यवान की मृत्यु-काल के चौघड़िये के केवल चार दिन ही शेष रहने पर सावित्री ने त्रिरात्र-व्रत का आरम्भ किया। भगवान के चरणों में सम्पूर्ण आत्म-समर्पण कर उसने यह व्रत ग्रहण किया। उसने इन तीन दिनों के लिये अन्न जल, आदि सब छोड़ दिया। आज सावित्री के मुख पर गम्भीर भाव था। उसका मुँह देखते ही मालूम हो जाता था कि आज सावित्री किसी गहरे विचार में है और उसने किसी बात का दृढ़ संकल्प किया है।

शाम को द्युमत्सेन को खबर हुई कि वहू ने त्रिरात्र व्रत किया है और दिन भर का उपवास है। उन्होंने सावित्री को समझाया कि "इतना कठिन व्रत तेरे जैसे सुकुमार शरीर से साध्य न हो सकेगा। तीन दिन तक निराहार और निर्जल रहने की तेरी शक्ति नहीं है।" सावित्री ने कहा, "पिताजी, आप के आशीर्वाद से मैं इस व्रत का अवश्य उद्यापन कर सकूँगी, इसमें आप किसी तरह का सन्देह न करें। मैं केवल आप का आशीर्वाद चाहती हूँ" वहू की इतनी अधिक दृढ़ता देख कर द्युमत्सेन ने फिर कोई आपत्ति नहीं की। सत्यवान् की माता ने भी विवश हो उसे स्वीकृति देदी॥

तीन दिन बीत गये। इन तीन दिनों के उपवास तथा जागरण

के कारण सावित्री का शरीर सूख कर आधा रह गया। पूर्णिमा का सोलह कला युक्त चन्द्रमा कृष्ण पक्ष की एकादशी के दिन जिस दशा को पहुँच जाता है, लगभग ऐसी ही अवस्था द्युमत्त्सेन के आश्रम में निवास करनेवाली प्रभामयी कनक-प्रतिमा (स्वर्ण-मूर्ति) सावित्री की हो गयी थी। आज नारद का कहा हुआ मृत्यु-दिन आ पहुँचा है। आज सत्यवान् इस देवी समान पत्नी को चिरकाल के वैधव्य दुःख में डाल कर इस संसार को छोड़ जाने वाला था। जिस दिन साध्वी सावित्री का पत्नि-जीवन समाप्त होने वाला था, सत्यवान के प्रेम के लिये ही गरीब की कुटियाँ में भी पृथ्वी के साम्राज्य-सुख का अनुभव करनेवाली कन्या जिस दिन इस सुख से सदा के लिये वंचित होनेवाली थी, अन्त में वह दिन आ पहुँचा। हृदय की सम्पूर्ण शक्ति तथा समस्त तेज को एक ही स्थान पर एकत्रकर, धर्म के तेज से तेजस्वी बनी हुई सावित्री, विधाता के नियम को भी पराजित करने के लिये दृढ़ संकल्प कर तैयार हो गयी।

प्रातःकाल देव-यज्ञ के लिये प्रज्वलित अग्नि में हवन कर सावित्री ने उसमें आहुति दी। फिर सब बनवासी ब्राह्मणों और सास-ससुर को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद माँगा। सब ने उसे एक स्वर से "अखण्ड सौभाग्यवती हो" यह आशीष दी। नीचे मुँह किये हुए, हृदय की एक मात्र इच्छा को परिपूर्ण करनेवाली यह आशीष प्राप्त कर सावित्री दृढ़ एवं स्थिर चित्त से काल-मुहूर्त की बाट जोहने लगी।

व्रत समाप्त हुआ, इसलिये सास ने उससे भोजन करने के लिये कहा। किन्तु सावित्री ने अस्वीकार कर कहा—"माताजी,

अभी नहीं। अभी खाने की रुचि नहीं है। सूर्यास्त के बाद भोजन करूँगी" ।

सायंकाल को सत्यवान यज्ञ-समिधा के लिये काष्ठ (लकड़ी) तथा माता-पिता के आहार के लिये कन्द मूल लाने के लिये कुल्हाड़ा लेकर पास के घने जंगल में जाने को तैयार हुआ। सावित्री का जी उड़ गया। वह समझ गयी कि काल चौघड़िया आ पहुँचा। विधाता का लेख पूरा होने का समय आगया। क्या आज सावित्री को घने जंगल में अकेली छोड़ कर सत्यवान इस संसार से विदा हो जायगा ? सावित्री निश्चिन्त न रह सकी। वह सत्यवान के साथ जाने को तैयार हुई। सत्यवान ने कहा— "तूंने तीन दिन से कुछ खाया नहीं है अतः अब तू किस तरह मेरे साथ जंगल में चल कर घूम फिर सकेगी?" सावित्री ने कहा— "न खाने से मुझे किसी तरह का कष्ट नहीं होता। मैं सब सहन कर सकती हूँ। मैं आज आप के साथ वन-लीला देखने के लिये अवश्य चलूंगी। कृपा कर मुझे मत रोकिये।" सत्यवान ने कहा- "तब माता-पिता के पास जाकर आज्ञा ले आओ।" भूखीप्यासी सावित्री को इस समय वन में जाने के लिये तैयार देख सास-ससुर भी विचार में पड़ गये। उन्होंने उससे आग्रह किया कि वह कुटि में रह कर ही भोजन कर ले, किन्तु ऐसे समय में खाने की रुचि किसे होती है ? सावित्री को न तो भूख का कष्ट था, न ऐसी और कोई दूसरा चिन्ता ही थी। वह अति व्याकुल थी एकमात्र अपने स्वामी के निकट आ पहुँचनेवाले मृत्यु-समय की चिन्ता से। बड़ी विनय अनुनय से सास-ससुर की आज्ञा लेकर अन्त में वह स्वामी के साथ जंगल को रवाना हुई। कहीं

असंगल की आशङ्का कर वह खिन्न न हो जाय, इस भय से अपने मन का शोक मन ही मन में दबा कर सावित्री हँसते मुँह से स्वामी को जंगल की शोभा बताती हुई उनके साथ चलने लगी।

वन में कुछ दूर निकल जाने पर सत्यवान एक विशाल (बड़े) वृक्ष के नीचे खड़ा होगया। सावित्री के मुँह की ओर देखा तो उसका चेहरा सूखकर कुम्हला गया दिखाई दिया। उसके मुँह पर रास्ते की थकान, और चिन्ता के चिन्ह नज़र आये। इसलिये सत्यवान उसे इस वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वयं पास के जंगल में लकड़ी काटने के लिये गया। सावित्री इस वृक्ष के नीचे बैठकर अपने अदृष्ट भविष्य की बाट जोहने लगी। उसने सोचा देवर्षि का वचन मिथ्या तो हो ही नहीं सकता। आज उसकी चूड़ी, बिछुए जन्म भर के लिये उतर जायँगे, यह अच्छी तरह जानते हुए भी सावित्री ने धैर्य्य नहीं छोड़ा। अन्त में उसमें अब अधिक विचार करने की शक्ति नहीं रही।

इतने में सत्यवान् कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते काटते एक दम सिर में अत्यन्त पीड़ा हो जाने से विह्वल होकर आह करता हुआ सावित्री के पास आ पहुँचा। लकड़ी और कुल्हाड़ी उसी जंगल में जहाँ की तहाँ पड़ी रही। पास आकर उसने कहा—"सावित्री सिरमें असह्य पीड़ा होती है। ओह! मुझे पकड़, मेरे प्राण निकलते हैं।"

सावित्री ने पति को पकड़कर अपनी गोदी में सिर रखकर पृथ्वी पर सुला दिया। उसकी वेदना धीरे धीरे बढ़ने लगी। सावित्री के मुँह की ओर सप्रेम दृष्टि से देखकर अस्पष्ट शब्दों में कुछ कहने का प्रयत्न करते हुए उसने आँख बन्द करली, उसके सारे

शरीर से पसीना बहने लगा। सारा शरीर ठंढा पड़ गया। सावित्री समझ गयी कि देवर्षि नारद का भविष्य-कथन सच निकला। वन में सर्वत्र घोर अन्धकार फैल गया। सूर्यदेव इस समय अस्ताचल में जा पहुँचे थे। आह! सावित्री का सौभाग्य-सूर्य भी इसी क्षण अस्त होगया!

सावित्री मृत पति की देह को गोदी में रखकर उसके मुँह की ओर एकटक देखती हुई मूर्ति की तरह अचल बैठी रही। उसका होश बिलकुल उड़ गया। विलाप तक करने की उस में शक्ति न रही।

यमदूत आये, पर वे सती का तेज देखकर सत्यवान के पास जा न सके। वे दूर से ही वापिस लौट गये, और स्वयं यमराज को ही इस कार्य के लिये भेजा।

अब यमराज स्वयं सत्यवान को लाने के लिये मृत्युपाश हाथ में लेकर चले। उनका तेज देखते ही सावित्री खड़ी होगयी और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम कर बोली—"अवश्य ही आप कोई देवता हैं। कृपाकर कहिये आप कौन हैं, और किस लिये आये हैं?"

यमराज ने कहा—"सावित्री, तू पतिव्रता सती है, इसलिये मैं तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ अन्यथा साधारण मनुष्यों के साथ मैं कभी बातचीत भी नहीं करता। मैं यमराज हूँ और तेरे स्वामी सत्यवान की आयु समाप्त हो गयी, इसलिये इसे लेने आया हूँ।"

सावित्री बोली—"यमराज' मैंने तो सुना है कि मनुष्यों की

जीवात्मा को लेने के लिये आप के दूत आते हैं, तब आज स्वयं आपने कष्ट क्यों किया ?"

यमराज—"सत्यवान सत्यपरायण, साधु, और संयमी था। मेरे दूत ऐसे पुण्यात्मा को स्पर्श करने (छूने) योग्य न थे, इसलिये मैं स्वयं आया हूँ। तेरे स्वामी का समय पूरा हो गया इसलिये इसे लेजाने के लिये मैं आया हूँ।"

सावित्री—"मैं अपने पति को गोद में से नीचे उतार दूँ, उसके बाद आप इनके जीवन को लेजाना चाहें तो लेजा सकते हैं। मैं इन के देह की पृथ्वी पर रक्षा करूँगी; परन्तु स्मरण रखिये जहाँ मेरे पति रहेंगे वहीं मैं भी जाऊँगी।"

सावित्री ने सत्यवान को गोद में से नीचे उतारा, और इतने में तो तुरन्त यमराज उसके शरीर में से सूक्ष्म प्राण निकाल कर चलते बने। सावित्री भी उनके पीछे पीछे जाने लगी। यम ने पीछे फिरकर देखा तो सावित्री को साथही आते पाया। उन्होंने उससे कहा—"सावित्री, यह क्या है ? मेरे साथ क्यों आती हो ? मरा हुआ मनुष्य फिर वापिस हाथ नहीं आता। तू बुद्धिमान है, घर जा और पति की उत्तर-क्रिया अर्थात् अन्त्येष्ठि एवं दाह-संस्कार कर।"

सावित्री के नेत्रों में से टपाटप आँसू गिरने लगे। सिसकी मारते मारते वह बोली—"आह ! स्वामी रहित खाली कुटी में मैं कैसे रहूँगी ? यमराज ! आप विचार करके देखिये कि स्वामी बिना कोई सती स्त्री अपना जीवन किस तरह व्यतीत कर सकती है। अबला का सर्वस्व पति ही है। पति ही उस की परम गति है। आप मेरे स्वामी को जहाँ ले जायँगे वहीं मैं भी चलूंगी।"

सावित्री की बात सुनकर यमराज हँसे और कहने लगे-"तू यमपुरी तक किस तरह मेरे साथ जा सकती है ? क्या कभी ऐसा हो सकता है ? कोई शरीर सहित वहां जा नहीं सकता। तू किस तरह यह समझती है कि इस प्रकार करने से तेरा पति तुझे वापिस मिल जायगा ? पूर्व जन्म के कर्मानुसार सत्यवान की आयु पूरी होगयी, इसीलिये मैं उसे ले जाता हूँ। कर्म फल के अनुसार मनुष्य दीर्घायुषी अथवा अल्पायुषी बनता है, शुभाशुभ कर्मानुसार कोई ब्रह्मलोक में तो कोई वैकुण्ठ में जाता है और किसी को नरक यातना सहनी पड़ती है। इसलिये तू समझदार होते हुए भी मरे हुए मनुष्य के लिये क्यों विलाप करती है ? मेरा कहा मानकर तू वापिस लौट जा।"

यम की यह बात सुनकर तेजस्वी सती सावित्री ने जो जो उत्तर दिये, वह सुनकर यमराज आश्चर्य चकित रह गये। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, शुभ कर्म किसे कहते हैं और अशुभ किसे कहते हैं इन सब विषयों पर सावित्री ने अत्यन्त गम्भीर प्रश्न करना शुरू किया। इन प्रश्नों को सुनकर ही यमराज हैरान हो गये। सच कहिये तो सावित्री की असाधारण प्रतिभा, असाधारण शास्त्र-ज्ञान, असाधारण विचार-शक्ति तथा एकनिष्ठ पति-भक्ति देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

उन्होंने कहा—"देवि ! प्यासे आदमी को पानी मिलने पर जिस तरह तृप्ति होती है, उसी तरह मैं आज तेरे उत्तरों से तृप्त हुआ हूँ। तेरे मुँह में से निकले हुए प्रत्येक शब्द ने मेरे कानों में अमृत वर्षा की है। इससे मैं तुझसे बड़ा प्रसन्न हुआ हूँ।

सत्यवान के जीवन के सिवाय दूसरी तू जो वस्तु चाहे माँग मैं वही तुझे दूँगा ।"

सावित्री ने कहा—"यमराज ! यदि आप मुझपर प्रसन्न हुए हैं तो मुझे ऐसा वरदान दीजिये कि मेरे वृद्ध सास-ससुर का अन्धापन दूर हो; उन्हें फिर दीखने लगे और वे सूर्य के समान तेजस्वी बनें ।"

यम ने कहा—"तथास्तु अर्थात् ऐसा ही होगा । तू बहुत थक गयी है, अब घर को वापिस लोट जा ।"

सावित्री ने कहा—"पति के पास रहने से मुझे थकान किस तरह आसकती है । पति की जो गति होगी, वही मेरी भी होगी । वह जहाँ जावेंगे, वहीं मैं भी जाऊँगी । इस विषय में मैं आपकी रोकी रुक नहीं सकती । कृपाकर मेरी दो एक बातें और सुनते जाइये ।"

इसके बाद सावित्री ने हृदय-स्पर्शी कई ऐसी धार्मिक बातें कहीं, जिन्हें सुनकर यमराज बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने उस से फिर एक वरदान माँगने को कहा । इसपर सावित्री ने कहा "मेरे ससुर का राज्य शत्रुओं ने छीन लिया है, जिससे उन्हें बन में रहना पड़ता है; इसलिये मुझे वर दीजिये कि ससुरजी का फिर से अपना राज्य प्राप्त हो और वे धर्म-मार्ग पर चलते हुए सुखसे राज्य करें ।" यम ने कहा—"तथास्तु !"

सावित्री ने फिर यमराज के साथ धर्म की बातचीत छेड़ी, और उन्होंने सब बातें एकाग्र चित से सुनी । सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए और अब अपनी खुशी से एक साथ दो और वरदान देने को कहा । सावित्री ने अपने सतीत्व के बल पर आज असाध्य को

साध्य अथवा असम्भव को सम्भव कर दिया । उसने तीसरा वरदान यह माँगा कि 'मेरे पिता अश्वपति के सौ पुत्र हों !" यम ने सन्तुष्ट हो कहा—"तथास्तु ।"

अब चौथा वरदान माँगने की बारी आयी । इस समय सावित्री ने अपने हृदय की सच्ची बात प्रकट की । उसने कहा—"सत्यवान के शरीर से मेरे सौ पुत्र उत्पन्न हों और वे मेरे कुल-को उज्ज्वल करें, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है ।" यमराज ने इस पर भी कह दिया—'तथास्तु'

सावित्री का मनोरथ अब सिद्ध होगया । उसने जिस मन-वाँछित वरदान की प्राप्ति के लिये इतने सारे व्रत और उपवास किये थे, उन व्रत उपवास तथा तपस्या का फल आज उसे मिल गया । उसने नम्रतापूर्वक यमराज से कहा—"देव ! आपने कृपाकर सत्यवान के शरीर से मेरे सौ पुत्र होने का वरदान मुझे दिया है, तब आप अब मेरे पति को किस लिये ले जाते हैं ? अब तो कृपा कर मेरे पति के प्राण वापिस दीजिये, इसी से आप का वचन सत्य होगा ।"

वचन से बन्धे हुए यमराज अब क्या करते ? उन्होंने कहा-"सावित्री ! तू धन्य है ! तेरे जन्म से स्त्री जाति धन्यवाद की पात्र हुई है । ले, यह तेरे स्वामी का प्राण वापिस देता हूँ । तू तुरन्त जंगल को वापिस लौट जा, तेरा पति सत्यवान फिर जीवित हो गया है । अब विलम्ब न कर !

परमात्मा की इच्छा स्वतन्त्र है, उसकी लीला अद्भुत है । यह चराचर—जड़ चेतन—संसार उसके नियमों से बन्धा हुआ है । जन्म-मृत्यु उन्नति-अवनति तथा उत्पत्ति और विनाश यह सब

उसके नियमानुसार होते हैं, परन्तु आज इस सनातन—सदैव के नियम में भी अन्तर पड़ गया। सृष्टि के आरम्भ से आज तक जो सम्भव न हुआ था, वही आज प्रत्यक्ष हो गया। सती के ज्वलन्त सतीत्त्व का प्रभाव दिखाने एवं संसार में सती की मर्यादा स्थापित करने के लिये विधाता ने आज अपने नियम को भी अपवाद बना कर सावित्री की प्रार्थना पूरी की। उसी की कृपा से आज सत्यवान फिर जीवित हुआ। अस्तु।

सावित्री तुरन्त उस जंगल में वापिस लौट कर देखती है, तो उसने सत्यवान को अंगड़ाई लेकर उठते और यह कहते पाया—"सावित्री! रात बहुत गयी मालूम होती है। मुझे बहुत नींद आ गयी, अब तक तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं? नींद में मुझे ऐसा स्वप्न दिखाई दिया कि मानो एक प्रकाशमान् काले रंग का पुरुष मुझे खींच कर कहीं ले जा रहा है। इसके बाद मुझे कुछ स्मरण नहीं रहा। यह सब क्या था सावित्री?" सावित्री ने पति की इस बात को योंही उड़ा दिया और कहा रात बहुत बीत गयी है, चलिये अपने आश्रम में चलें। और यह कह कर वह पति को लेकर आश्रम में पहुँची।

सत्यवान के माता-पिता अपने पुत्र और पुत्र-वधू (बहू) के वापिस आने में बहुत देर हो जाने से अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। सारी रात उन्होंने वन में दोनों को तलाश करवाया—ढुंढ़वाया। इतने में उषा में—नवीन प्रकाश में—दिन निकलते निकलते—सावित्री और सत्यवान ने पहुँच कर माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने बड़े प्रेम से पुत्र और पुत्र-वधू को छाती से लगा लिया और बार बार कुशल समाचार पूछने

लगे। यमराज के वरदान के कारण आज इन लोगों का अन्धा-पन दूर हो गया, अतः आज अपनी आँखों से पुत्र और पुत्र-वधू को देख कर उनके नेत्र सफल हो गये।

दूसरे दिन शाल्व देश से खवर मिली कि सेनापति ने शत्रुओं को हरा कर राजा द्युमत्सेन (सत्यवान के पिता) का राज्य वापिस ले लिया है, अतः महाराज को अब अपनी राजधानी को वापिस लौट कर पहिले की तरह फिर राज्य-भार ग्रहण कर प्रजा का पालन करना चाहिये। वनवासी तपस्वियों ने आकर इस समाचार पर राजा को बधाई और शुभाशीर्वाद दिये, और मंगला चरण कर उन्हें विधि पूर्वक राजवेश पहनाया।

राजा-रानी पुत्र और पुत्र-वधू सहित राजधानी को वापिस आये और बहुत बर्षों तक सुखपूर्वक राज्य करते रहे।

सावित्री के पिता भी यह समाचार सुन कर पुत्री और जँवाई से मिलने आये और बिधाता का लेख किस तरह बदला गया यह सब समाचार सावित्री से पूछने लगे। उसके मुंह से सारा हाल सुन कर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और अनेक धन्यवाद देने लगे। अभी तक सावित्री ने यह बात किसी पर प्रकट न की थी, किन्तु अब धीरे धीरे सर्वत्र उसका प्रचार होने लगा और सब कोई धन्य ! धन्य !! कहने लगे।

सचमुच सावित्री, तू धन्य है ! तेरे चरण-स्पर्श से भारत-भूमि धन्य हो गयी है। तेरी दृढ़ता और तेरी पति-भक्ति धन्य है। तैनें अपने उज्ज्वल दृष्टान्त से सतीत्व का उत्तम आदर्श स्थापित किया है। तेरी जैसी देवियाँ ही जाति और देश का मुख उज्ज्वल कर सकती हैं। जिस जाति का आदर्श उच्च है, उस जाति

की कभी भी अधोगति नहीं हो सकती। वट सावित्री-व्रत द्वारा भारत ललनाओं ने सावित्री का वह उच्च आदर्श अभी तक जीवित कर रक्खा है। भारत भगिनियो! तुम भी सावित्री के समान दृढ़ और पतिव्रता बनो। प्रेम-बन्धन एवं-प्रेम-विवाह की महिमा का फिर से भारतवर्ष में प्रचार करो। मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति और उनका संकल्प-बल बड़ा प्रबल होता है। अनन्य पातिव्रत-धर्म के बल से स्त्री के लिये कुछ भी असाध्य नहीं है।

शाण्डिली

यह तपस्विनी विदुषी शाण्डिल्य ऋषि की पुत्री थी। पिता से इन्होंने धर्म-शास्त्र और योगविद्या आदि का ज्ञान प्राप्त किया था। विवाह होकर ससुराल जाने के बाद, विद्वान पति के सहवास में, इनके सद्गुण और भी खिले थे। घर-गृहस्थी के कामों में इन्होंने बड़ी होशियारी दिखाई थी, और पति-भक्ति की वजह से ही किसी भी तरह की तपस्या किये बगैरह ही इन्होंने स्वर्ग-लोक को प्राप्त किया था। सुमना नामक एक देवबाला को जब यह मालूम पड़ा कि शाण्डिली ने किसी तरह के खास व्रत अनुष्ठान या तप को किये बगैर ही दुर्लभ स्वर्गलोक को प्राप्त कर लिया है, तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। तब वह शाण्डिली के पास गई और पूछने लगी—"देवी! किन सकर्मों के फल से आपने इस देवलोक को प्राप्त किया है?" करती थी। यह स्त्री "देवी! सिर मुण्डाकर जटा बढ़ा कर न आहार करती और

या किसी प्रकार की तपस्या करके मैंने इस लोक को प्राप्त नहीं किया है। मैं तो केवल पति-सेवा के प्रताप से ही यहाँ आ पहुँची हूँ। जो स्त्री मन वचन कर्म से अपने पति की सेवा करती है, वह दूसरी कोई भी तपस्या किये वगैर भी स्वर्ग में स्थान पाती है। भूलोक में मैंने अपने पति की किस प्रकार सेवा की, यह जानना हो, तो सुनिये—

"मैंने आजतक अपने मुंह से एक भी ऐसी बात नहीं निकाली कि जिससे मेरे पति को बुरा लगे या उनकी बदनामी हो"।

"एक बार मेरे पति परदेश गये थे। उस समय मैंने तमाम सुख, वैभव, खेल-कूद आदि को छोड़ कर अपना सारा समय एकाग्र चित्त और पवित्र हृदय से, उनकी कुशलता के लिए परमात्मा की प्रार्थना करने में ही बिताया था। जबतक वह परदेश में रहे तबतक मैंने न तो कभी चोटी गुँथाई, न कभी तेल फुलेल इत्र आदि खुशबूदार चीजों का इस्तैमाल किया, और न दूसरे किसी उपाय से ही शरीर की शोभा और शृंगार बढ़ाने की कोशिश की"।

"घर के बाहरी दर्वाजे पर मैं कभी खड़ी न होती थी और न किसी बाहरी आदमी के साथ बातचीत ही करती थी।"

"खुले या छिपे तौर पर मैंने कभी भी कोई बुरा या निन्दनीय काम करने की इच्छा नहीं की"।

"देवता, ब्राह्मण और गुरुजनों के प्रति मैंने सदैव श्रद्धा रक्खी है [illegible] वासों का पालन किया है, और सास-
स्थापित किया है। तेरी जैस
उज्ज्वल कर सकती हैं। जि[illegible]श से वापिस आये, तो मैं एकान्त भक्ति

और एकाग्र चित्त से उनकी सेवा शुश्रूषा में लग गई"।

"ऐसी कोई चीज मैंने कभी नहीं खाई कि जो मेरे पति को नापसन्द हो"।

"जब तक वह सो न जाते तवतक कैसाही जरूरी काम होने पर भी, मैं उन्हें छोड़ कर न जाती"।

"पति अगर अपनी कोई वात पूरी न कर पाते तो कोई कड़वी बात कह कर उन्हें कभी नाखुश न करती"।

"गुप्त बातों को मैं किसी के सामने न कहती। यहाँ तक कि जो स्त्रियाँ जगह-जगह अपने पति और घर की गुप्त बातों को कहती फिरती हैं, उनसे मैं मिलती तक नहीं थी"।

"पुत्र, कन्या तथा दूसरे सम्बन्धियों के लिए हर रोज जिन जिन कामों की जरूरत होती उन्हें मैं सवेरे ही उठ कर नियमित रूप से अपने ही हाथों करती थी"।

"घर और घर की तमाम चीजों को साफ-सुथरा रखती थी"।

शाण्डिली की उक्त बातों को सुन कर सुमना को बड़ी खुशी हुई और पातिव्रत-धर्म का प्रताप सुन कर बड़ा सुख मिला।

स्वयंप्रभा

स्वयंप्रभा महामुनि मेरुसावर्णि की पुत्री थी। मयदानव नामक राक्षस की प्यारी अप्सरा हेमा इसकी सखी थी, और इसके आग्रह से वह इसके राजमहल की रक्षा करती थी। यह स्त्री बड़ी तपस्विनी थी। थोड़ा सा नियमित आहार करती और

अपना सारा समय परमेश्वर की भक्ति में विताती थी । वैभव-शाली स्त्री की सखी होनेपर भी खुद तो यह वड़ी सादगी से रहती थी। शरीर पर काला मृगचर्म और वल्कल वस्त्र धारण करती थी। हनुमान जव अपने वन्दरों के साथ सीताजी की खोज में निकले थे, तव वे अपनी प्यास बुझाने एवं सीताजी का पता लगाने के लिए मयदानव के ऋक्षविल नामक गुफा में भी गये थे। स्वयंप्रभा ने जव उन्हें देखा, तो पूछा—"इस भयानक जङ्गल में तुम किसलिए अथवा किस काम के लिए आये हो ? तुम सव भूख और प्यास से पीड़ित हो; इसलिए पहले तो इन कन्द, मूल, फलों को खाकर निर्मल जल पिओ। इसके वाद मुझ से अपना हाल कहो।" वृद्ध तपस्विनी के आग्रह पर हनुमान तथा दूसरे वन्दरों ने पेट भरकर भोजन किया और कुछ देर तक विश्राम करने के वाद उन्होंने अपना वृत्तान्त कहना शुरू किया—"हम सीताजी की खोज करते हुए आए हैं। रास्ते में भूख-प्यास खूब लगने लगी, इससे हम एकाएक यहाँ चढ़ आये हैं। हे देवी! तुमने हमें जो निर्मल जल तथा स्वादिष्ट फल खाने को दिये हैं उनसे हमारी थकावट दूर हो गई है। भूख-प्यास से हम मुर्दे से हो गये थे; पर तुम्हारी मेहमानी से हमारे शरीर में जान आगई है। सचमुच तुमने हमें वचा लिया है; अतः वताइये कि इसका वदला चुकाने के लिए हम आपकी क्या सेवा करें?" हनुमानजी की ऐसी वातें सुनकर सव-कुछ जाननेवाली स्वयंप्रभा कहने लगी-"हे हनुमान! तुम सरीखे वलवान वन्दर मेरे इस मामूली उपकार का वदला चुकाने की इच्छा प्रकट करते हो, इससे मुझे वड़ी खुशी हुई है। पर मैं तो रात दिन धर्मानुष्ठान में ही

रत रहती हूँ, इसलिए मुझे तो किसी भी प्यारी चीज़ की ज़रूरत नहीं है ।"

तपस्विनी की ऐसी निःस्वार्थ बात सुनकर हनुमानजी बोले— "हे देवी ! तुम जो धर्म के अनुसार चलनेवाली हो, आज हम सब कपि (बन्दर) तुम्हारी शरण में आ पहुँचे हैं। महात्मा सुग्रीव ने सीताजी की खोज करके वापिस पहुँचने के लिए हमें जितना समय दिया था वह तो यहीं पूरा हो गया । अब हमारी आयु समाप्त हो चुकी; क्योंकि एक मास के अन्दर वापिस पहुँचने की सुग्रीव की आज्ञाका हम से उल्लङ्घन हो गया, और इसलिए हमें प्राणदण्ड दिया जायगा। इसलिये हे धर्मचारिणी ! तुम हम सबको इस गुफ़ा में से बाहर निकालकर सुग्रीव के भयसे हमें बचाओ । हे देवी । सीताजी की खोज सरीखा ज़बर्दस्त काम हमें करना है, इसलिये हमें जल्दी से रास्ता बताओ ।"

वृद्ध तपस्विनी स्वयंप्रभा ने कहा—"हे वीर हनुमान् ! इस गुफ़ा में प्रवेश करने के बाद कोई भी प्राणी ज़िन्दा बाहर नहीं निकल सकता। फिर भी कठोर नियमों का पालन करके मैंने तप का जो प्रभाव प्राप्त किया है, उससे मैं तुम सबको इस भयङ्कर गुफ़ा से ज़रूर बाहर निकालूँगी !" इतना कहने के बाद उन्होंने सब से कहा—"अगर तुम्हें इस गुफ़ा से बाहर निकलना हो, तो सब अपनी-अपनी आँखें मींच लो; ऐसा न करोगे, तो बाहर नहीं निकल सकोगे ।"

बन्दरों ने ऐसा ही किया। तब स्वयंप्रभा ने अपने योगबल के प्रभाव से क्षण मात्र में उन्हें उस गुफ़ा से बाहर निकाल दिया और आँख खोलने पर उन सबोंने अपने को गुफ़ा के दर्वाजे के

बाहर बैठे पाया। वहाँ स्वयंप्रभा ने उनसे कहा—"हे वन्दरो! देखो यह तरह-तरह की बेलों और दरख्तोंवाला विन्ध्याचल पर्वत है, उसपार दूरको जो दीखता है वह प्रस्रवण पर्वत है, और उसके पासही अगाध जलवाला दक्षिण समुद्र है। जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। मैं अब वापिस अपने स्थान पर जाऊँगी।"

आधुनिक काल के हवाई जहाजों की तरह देखते-देखते ही एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जानेकी अद्भुत यौगिक शक्ति की कल्पना कराने के लिए ही हमने इस तपस्विनी का उल्लेख किया है। राक्षस के घर रहते हुए भी योग्य पुरुषों का सन्मान और अतिथियों का आदर-सत्कार करने के आर्यों के धर्म को उन्होंने न छोड़ा था, यह बात भी ध्यान देने योग्य है।

कुशनाम की कन्याएं

प्राचीन समय में भारतवर्ष में सत् पुरुषों का आदर-सत्कार करनेवाला, धर्म के अनेक अनुष्ठान करनेवाला तथा महा तपस्वी कुश नाम का एक धार्मिक राजा हो गया है। उसकी पत्नी का नाम वैदर्भी था। इन धार्मिक पति-पत्नी के चार पुत्र थे। इनमें एक का नाम कुश नाम था। पिता ने इसे सत्य, ब्रह्मचर्य तथा धर्म की अच्छी शिक्षा दी थी। बड़ी उम्र के होने पर इन चारों भाइयों ने चार नगर बसाये। कुशनाम ने महोदय नाम का नगर बसाया। उसने घृताची नाम की एक अप्सरा पर आसक्त अर्थात् मोहित होकर उससे अपना विवाह कर लिया। इस अप्सरा से उसके

परम सुन्दर सौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। यौवन (जवानी) के साथ ही साथ इन कन्याओं का रूप लावण्य खिल उठा। एक बार ये कन्याएँ सुन्दर वस्त्राभूषणों से सज कर बगीचे में क्रीड़ा करने के लिये गयीं। वहाँ जाकर ये उत्तम स्वर से बाजे गाजे सहित नाच तथा गाना गाकर निर्दोष आनन्द मना रही थीं। जिस समय ये कन्याएँ बगीचे के वृक्षों तथा लताओं की कुञ्जों में घूमती फिरतीं, उस समय आकाश मण्डल के बादलों में चमकते हुए नक्षत्रों (तारों) के समान ये मालूम पड़ती थीं। उस समय पृथ्वी पर उनके समान सुन्दर रूपवाली दूसरी कन्याएँ थोड़ी ही होंगी।

वायुदेव इन कन्याओं के रूप पर मुग्ध होकर कामासक्त हो गया और कहने लगा—"हे सुन्दरियो ! मैं तुम्हारे रूप गुण से मोहित हो गया हूँ और तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हूँ। यदि तुम मेरी पत्नी बन जाओगी, तो तुम्हारी आयु (उमर) बढ़ जायगी और इस मनुष्य देह को छोड़ कर देव रूप बन जाओगी। फिर मनुष्यों का यौवन (जवानी) चंचल है। आज तुम युवावस्था में हो परन्तु समय बीतते बीतते, उसके साथ ही तुम्हारे शरीर की यह सुकुमारता चली जायगी, पर यदि तुम मेरी पत्नी बन जाओगी, तो तुम्हारी यह युवावस्था (जवानी) कभी नाश न होगी और तुम अमर हो जाओगी।"

पराक्रमी वायुदेव के ऐसे वचन सुनकर ये कन्याएं खिल खिला कर हँस पड़ीं और उनका तिरस्कार करती हुई कहने लगीं—"हे देवताओं में श्रेष्ठ वायुदेव ! हम सब तुम्हारे प्रभाव को जानती हैं। तुम सब प्राणियों में विचरण करते हो और इसलिए सबकी इच्छाओं को जाननेवाले हो। इसलिये कन्याओं का प्रेम

मुझपर है या नहीं और ये मेरे वचनों का पालन करेंगी या नहीं इन बातों को जानते हुए भी तुम ऐसी अयोग्य बात कहकर हमारा अपमान क्यों करते हो ? हे देव ! हम सब कुशनाम की कन्याएँ हैं। यदि हम कोप करें तो अपने प्रभाव से हम तुम्हें अपने वायु पद से हटा देने में भी समर्थ हैं, पर ऐसा करने से हमारा तप नष्ट हो जायगा इसलिए हम तुम्हें शाप नहीं देतीं; केवल अपने तप की रक्षा करती हैं। हे दुष्ट बुद्धिवाले वायुदेव ! हम अपने सत्यवादी पिता की सम्मति के बिना केवल अपनी विषय वासना के कारण स्वतन्त्र होकर हम अपनी इच्छा से अपना विवाह नहीं करना चाहतीं। हमारे पिता कुशनाम ही हमारे प्रभु और परम देवता हैं, वे जिसे पसन्द करेंगे, वही हमारा पति होगा।"

कन्याओं के ऐसे वचन सुनकर अत्यन्त क्रोध में भरे हुए वायुदेव ने उन सब के अङ्ग भङ्ग कर डाले। इससे वे अत्यन्त दुःखी होकर रोती रोती पिता के पास पहुँची और उनके चरणों में मस्तक झुकाकर कहने लगी—"पिताजी ! सब प्राणियों में विचरनेवाले वायुदेव ने हमारी यह दशा की है; वह दुष्ट उलटे मार्ग पर चलकर जबरदस्ती हमारा पराभव करना चाहता है—हमें नीचा दिखाना चाहता है; परन्तु अधर्म का कुछ विचार नहीं करता। उसने जब हमारे सामने अपना दुष्ट-भाव प्रकट किया, तब हमने उससे कहा कि "तुम्हारा कल्याण हो; हम कुछ स्वतन्त्र नहीं है कि जिससे तुम्हारी इच्छा के आधीन हो सकें, हमारे पिता कुशनाम मौजूद हैं, इसलिये तुम उन के पास जाकर अपनी इच्छा प्रकट करो; यदि वे हमें तुम्हें सौंप देंगे तो हम तुम्हारी स्त्री बन जायँगी। हमारे इतना कहने पर भी वह पापी न माना और

क्रोध में आकर उसने हड्डी पसली तोड़ डाली।"

धार्मिक और तेजस्वी पिता अपनी पुत्रियों के इस कार्य से प्रसन्न हुए और कहने लगे—"प्रिय पुत्रियो, तुम्हें धन्य है। वायु के तुम्हारा इतना बड़ा अपराध करने पर भी तुमने उसके प्रति क्षमा दिखायी अर्थात् उसे क्षमा कर दिया यह अच्छा किया और तुम सबने एकमत होकर काम के वेग को सहकर मेरे कुल की लाज रक्खी है, यह भी बड़ा ही भारी काम किया है। अपराध करनेवाले को क्षमा करने का गुण जिस प्रकार पुरुष के लिये भूषणरूप है, उसी तरह स्त्रियों के लिये भी है; परन्तु देवता के वचन का अनादर कर तुमने कामदेव का वेग सहन किया यह तो और भी अत्यन्त प्रशंसनीय काम किया है। मैं तुम्हारे कार्य से प्रसन्न हुआ हूँ और चाहता हूँ कि तुम्हारी सी क्षमा मेरे सारे कुटुम्ब और सम्पूर्ण देश में फैले, क्योंकि क्षमा—दान ही सच्चा दान है; क्षमा ही सत्य है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही यश है, क्षमा ही धर्म है, सारा संसार क्षमा के ही आधार पर टिका हुआ है।" इस प्रकार समझाकर राजा ने पुत्रियों को तो महल में भेज दिया और स्वयं उनके लिये योग्य वर की तलाश करने लगा। बहुत खोज करने के बाद 'काँपिली' नगरी के राजा ब्रह्मदत्त के साथ उनका विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त भी बड़ा तेजस्वी, धार्मिक और सर्वविद्या सम्पन्न था। पाणिग्रहण (विवाह अथवा हथलेवा) के समय उसके हाथ का स्पर्श होते ही सब कन्याओं का कुरूप जाता रहा, वे सब पहिले की तरह सुन्दरी बन गयीं और उनकी कान्ति अत्यन्त तेजस्वी होगयी।

ब्रह्मदत्त उनके साथ विधिपूर्वक विवाह कर, उन्हें अपने

साथ ले विदा हुआ और सुखपूर्वक धर्म-कार्य तथा प्रजापालन में अपना जीवन विताने लगा।

चूड़ाला

यह सौराष्ट्र (काठियावाड़) देश के राजा की लड़की थी। द्वापर युग में इसका जन्म हुआ था। यह बड़ी सुशिक्षित और संगीत-नृत्यादि कलाओं में विशेष निपुण थी। साथ ही इसका सौन्दर्य भी मामूली न था। शिखिध्वज नामक एक प्रतापी राजा उस समय उज्जैन में राज्य करता था। वह बड़ा सद्गुणी,प्रतापी, धर्मपरायण और परम निरभिमानी एवं विनयी था। धर्म से उसे खास प्रेम था, इससे उसने अनेक यज्ञ किये थे और अनेक देशों को उसने विजय किया था। दुर्व्यसन और स्त्रियों से वह सदा दूर ही रहता था। सोलह वर्ष की युवावस्था में वह राजगद्दी पर वैठा था; पर राजप्रवन्ध की अपनी कुशलता के कारण चारों तरफ उसने अपना सुयश फैला दिया। प्रजा को खुश रखने में ही उसका जीवन व्यतीत हो रहा था। एक वार वसन्त ऋतु आई। वृक्षों पर फूल खिल उठे और वनों में चारों ओर सुगन्धित वायु वहने लगी। यह देखकर राजा शिखिध्वज के मन में भी धीरे-धीरे यौवन का मद उत्पन्न हुआ और किसी सुन्दर स्त्री के साथ विवाह करने की उत्कण्ठा पैदा हो गई। अब राजकाज में उसका मन न लगता, और रात-दिन अपनी भावी पत्नी के ही विचारों में वह डूबा रहने लगा।

राजा की चेष्टाएँ देखकर उसके अनुभवी मंत्री इस वात को

समझ गये और राजा की तरफ़ से सौराष्ट्र के राजा की लड़की चूड़ाला के लिए उन्होंने कोशिश की। सौराष्ट्र के राजा ने बड़ी खुशी के साथ इस बात को मंजूर कर लिया और अनेक दासियों वाली नवयौवना और परम सुन्दरी इस चूड़ाला का विवाह भी यथा समय राजा शिखिध्वज के साथ कर दिया। योग्य पति के मिलने से राजकन्या भी बड़ी खुश हुई। सूरज जैसे कमलिनी को प्रफुल्लित करता है वैसे ही राजा शिखिध्वज अपने स्नेह से कमल नयनी चूड़ाला को प्रसन्न और प्रफुल्लित रखने लगा। दोनों के मन एक–दूसरे से मिलगये और दिन ब–दिन उनका प्रेम बढ़ने लगा। दोनों के विचार और इच्छाएँ एकसां होने लगे और दोनों जने ऐसे मालूम पड़ने लगे मानों दो शरीरों में बसा हुआ एक ही अखण्ड जीव हो। चूड़ाला शिखिध्वज से धर्मशास्त्र, राजनीति आदि सीखकर अनेक विद्याओं में पारङ्गत होगई। राजा ने भी उससे संगीत, नृत्य, वाद्य आदि कलाएँ सीखीं। परस्पर प्रिय, खुशबू और फूल की नाईं, एक–दूसरे से अभिन्न, पृथक्–पृथक शरीर होते हुए भी एकात्म हुए स्नेह के कारण स्वच्छ और मधुर यह दम्पत्ति आनन्द के साथ ऐसा अपना जीवन व्यतीत कर रहे थे मानों साक्षात् शिव और पार्वती के अवतार ही हों। इसी प्रकार अनेक वर्षों तक इस प्रेमी जोड़ी ने सुख और विलास का उपभोग किया। पर सुज्ञ पुरुषों को भी मस्त बना देनेवाली दीवानी जवानी की अवधि भी कितनी ज़रा–सी होती है! एक प्रसिद्ध उर्दू कवि ने कैसा ठीक कहा है:—

"रहती है कब बहारे जवानी तमाम उम्र,
मानिन्द बूये गुल इधर आई उधर गई।

जो जाकर न आये वह जवानी देखी,
जो आकर न जाये वह बुढ़ापा देखा।"

अस्तु। अन्त में इस सुशील दम्पत्ति को भी यह भान हुआ कि भोग-विलास में हमने जीवन के अनेक अमूल्य वर्ष नष्ट कर दिये। यह देह बुढ़ापे और मृत्यु के अधीन है। पका हुआ फल गिरकर ही रहता है, वैसे ही इस देह के लिए भी बुढ़ापा और मौत अनिवार्य हैं। जिस प्रकार हिम कमल पर पड़कर उसे जला डालने को तैयार रहता है वैसेही बुढ़ापा मनुष्य मात्र पर पड़ने को तैयार रहता है। हाथ की अञ्जलि में से जैसे पानी निकलता रहता है वैसे ही आयु भी निरन्तर कम होती रहती है। बरसात में जैसे कड़वे तूंबड़े की बेल बढ़ा करती है, वैसे ही अकेली तृष्णा भी बढ़ा करती है। पार्वत्य नदी में वर्सात होने पर जैसे पूर आता और उसके बन्द होते ही चला जाता है वैसे ही हमारा यौवन भी अस्थायी है। इन्द्रजाल जैसे मिथ्या है वैसेही बुढ़ापे का जीवन भी व्यर्थ है। धनुष से छोड़े हुए बाणों की नाईं सुख भी जल्दी ही नष्ट हो जाते हैं। गोश्त पर झपटनेवाले गिद्ध आदि पक्षियों की तरह ही तृष्णा और दुःख चित्त पर झपटा करते हैं। बरसात के पानी के बुदबुदे जैसे क्षणिक होते हैं, यह देह भी वैसी ही क्षणभंगुर है। संसार के जितने भी व्यवहार हैं वे सब वैसे ही सारहीन हैं जैसा कि केले का गर्भ। प्रेमशून्य पति की स्त्री की भाँति यह जवानी भी झट चली जाती है। बाद में मन में खेद हुआ करता है। इसलिये अब संसार के भोग-विलासों पर से अपना मन हटाकर सत्य, शिव और सुन्दर जो स्थायी पदार्थ हैं, हमें उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। राजा-रानी को यह

विश्वास हो गया कि सिर्फ आत्मज्ञान को प्राप्त करने से ही हमारें मोह बन्धन टूटेंगे, चित्त की अशान्ति कम होगी, और आधि, व्याधि एवं उपाधि से पीछा छूटेगा। और यह सोचकर धर्मशास्त्रों के श्रवण, मनन एवं उनपर आचरण करने तथा ज्ञानी और त्यागी पुरुषों के सत्संग में उन्होंने अपना जीवन बिताना शुरू करदिया।

चूड़ाला बड़ी होशियार (संस्कृत) औरत थी। अतः साधुओं और धर्मशास्त्रों के उपदेशों का उस पर बड़ा असर हुआ। वह रातदिन मन ही मन सोचने लगी कि "शरीर अपना काम भले ही करता रहे, पर मुझे अपनी आत्मा को देखकर सोचना चाहिये, कि मैं हूँ कौन ? यह संसार—रूपी भ्रम कैसे पैदा हुआ है, किस वजह से हुआ है और कहाँ हुआ है ? देह तो जड़ एवं मूढ़ है। यह तो मुझे भरोसा है कि मैं केवल देह ही नहीं हूँ; क्योंकि जब छोटेछोटे नासमझ बालक तक 'मेरा शरीर' 'मेरा शरीर' कहते हैं, तो देह और देह का स्वामी दोनों-एक दूसरे से निश्चय ही भिन्न हैं। हाथ, पैर आदि अवयवों के रूप में कर्मेन्द्रियों का जो समूह इस देह से अभिन्न है वह भी जड़ ही है, और ज्ञानेन्द्रियाँ भी जड़ ही हैं; क्योंकि जैसे मट्टी का ढेला लकड़ी से सरकता है वैसे ही यह ज्ञानेन्द्रियाँ मन के द्वारा सरकती हैं। संकल्प–शक्तिवाले मन को भी मैं जड़ ही समझती हूँ; क्योंकि जैसे गोफनों से पत्थर फैंके जाते हैं वैसे ही मन भी बुद्धि से प्रेरित होता है। बुद्धि भी जड़ है; क्योंकि यह अहङ्कार से प्रेरित है। अहङ्कार भी निःसार है। प्राणरूप उपाधिवाला और हृदय में विराजमान जीव यद्यपि चेतन है फिर भी सुकुमार होने के कारण वह अपने अन्दर बास करनेवाले दूसरे किसी साक्षी से परिपूर्ण होकर

जीता है। मैंने इस बात को जान लिया है कि दृश्यों को देखने से दूषित-सा बना हुआ जीव, अनादि और चैतन्यात्मक इस साक्षी रूप आत्मा से ही जीता है। बुद्धि आदि में प्रतिबिंबित होकर जीव ने अपना रूप छोड़ दिया है। और जगत भी यद्यपि है तो चैतन्यरूप, मगर आवरण के कारण जड़, शून्य और मिथ्या सा होगया है।" इस प्रकार बहुत दिनों तक वह आत्मा के तत्व का विचार करती रही। आख़िर उसे वह महा सत्य मालूम हो गया कि जिसे जान लेने के बाद और कुछ जानने के योग्य शेष ही नहीं रहता; जिसे जान लेने के बाद कुछ ग्रहण करने या छोड़ने को भी नहीं रहता। अब उसे विश्वास हो गया कि 'महासत्ता' शब्द से प्रसिद्ध एक महा चैतन्य है वही निष्कलंक, सम, शुद्ध, निरभिमान, शुद्ध, ज्ञानरूप—आकारवाला, मंगलरूप और सद्मित्र है। वह अपने स्वभाव से कभी भ्रष्ट नहीं होता। कभी किसी के फन्दे में नहीं आता, सदैव, अखण्ड उदयवाला रहता है, और ब्रह्म तथा परमात्मा आदि नामों से जाना जाता है। इस प्रकार बहुत-सोच विचार और निरन्तर ध्यान से विदुषी चूड़ाला ने परमात्मा के असली तत्व को जान लिया और तब राग, भय तथा मोह से मुक्त होकर वह शरद ऋतु के आकाश की भाँति शान्त हो गई। मन की सब शंकाएं दूर हो जाने से चूड़ाला की शोभा भी बढ़ने लगी। अब उसके चित्त में अपूर्व शान्ति थी। अपने स्वरूप के विवेक का भलीभाँति अभ्यास हो जाने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाने के कारण यह विदुषी महिला ऐसी सुन्दर लगती थी जैसे वसन्तऋतु में खिलने वाली फूलों की सुन्दर बेल हो।

उसके अपूर्व सौन्दर्य और नवयौवन से प्रसन्न होकर एक दिन राजा ने हँसते-हँसते उससे कहा—"प्यारी! तुझे तो फिर से जवानी आई मालूम पड़ती है। तू तो ऐसी दीखती है मानों तैंने अमृतरस पिया हो या कोई अलभ्य पद पाया हो। तेरा चित्त भोग—विलास से अलिप्त होकर शम, दम आदि गुणों से युक्त और स्थिर दीख पड़ता है। तू पर्वत की तरह स्थिर और समुद्र की भाँति गम्भीर देख पड़ती है। जगत् रस-रूप परम तत्व को पहचानने से तू पृथ्वी की नाई अचल और शान्त हो गई है। तेरी आकृति और अवयव तो पहले जैसे ही हैं; परन्तु अब तो तू ऐसी खिली हुई दीख पड़ती है,जैसी कि वसन्त ऋतु में लताएं खिल उठती हैं। बता तो कि तैंने कौन सा अमृत पिया है, या कोई रसायन अथवा किसी मंत्र के प्रयोग से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर चिरयौवन सम्पादन करलिया है?"

चूड़ाला ने नम्रता के साथ जवाब दिया—"पति-देव! रसायन या मंत्र-प्रयोग के द्वारा मैंने कोई सिद्धि प्राप्त नहीं की है, मैंने तो आन्तरिक दृष्टि के द्वारा आत्म-बुद्धि का त्याग करके परब्रह्म का सच्चा स्वरूप जाना है, और उसी के कारण विशेष सुन्दर देख पड़ती हूँ। मैंने असत्य से परे, समस्त पदार्थों में न बन्धने वाले सत्य और अपरिमेय परब्रह्म का आश्रय लिया है; इसलिए मैं अधिक सुन्दर दीखती हूँ। भोग भोगे हों चाहे न भोगे हों; पर मन में मैं उतना ही आनन्द मानकर खुश रहती हूँ, मानों मैंने उन्हें भोग लिया हो; इसीसे मैं शोभायमान दीखती हूँ। हर्ष और शोक के मनोविकार मुझे बाधक नहीं होते, राजसी वातावरण में रहते हुए भी मैं अपने मन को आकाश के समान अनन्त

और अपार परब्रह्म में ही लगाये रहती हूँ; इसलिये मैं शोभती हूँ। आसन और उपवन आदि में देह रहने पर भी मैं पूर्णतया आत्मस्वरूप में ही निमग्न रहती हूँ, भोगों में मैं निमग्न नहीं रहती, और भोग न मिलने पर मुझे खेद भी नहीं होता है; इसीसे मैं शोभती हूँ। मैं अपने को इस जगत् की स्वामिनी और स्थूल, सूक्ष्म आदि देह से बिल्कुल भिन्न शुद्ध चैतन्यरूप समझ कर आत्मा में ही संतुष्ट रहती हूँ; यही कारण है कि मैं प्रसन्न दीखती हूँ।" इस प्रकार ज्ञान की अनेक बातें कहकर चूड़ाला ने पति को समझाया कि आत्मा के सौन्दर्य से ही शरीर की बाहरी शोभा और लावण्य में भी वृद्धि होती है।

परन्तु चूड़ाला का आत्मज्ञान का यह सब उपदेश उसके पति को पसन्द न आया। वह इस बात को न मान सका कि संसार में रहते हुए भी मनुष्य को इस प्रकार आत्म-साक्षात्कार हो सकता है। और उसने अपनी पत्नी से कहा—"हे सुन्दरी! तेरी बातों में कुछ सार नहीं। अभी तेरी बुद्धि कच्ची ही है। तेरी यह उम्र तो सुख भोगने की है, इसलिए मजे से सुख भोग। तूंने जो बातें कही हैं वे सब अप्रत्यक्ष हैं। तूंने जो यह कहा कि सुख और भोगविलासों का भोग न करने पर भी तू उन्हें भोगने जितना ही सन्तोष मानती है, यह सब मिथ्या प्रलाप है। ऐसा हो ही नहीं सकता। सो हे विलासिनी! तू अभी जवान, मूढ़ और चंचल है; इसलिये मेरे साथ नाना प्रकार के भोग-विलास करती हुई जीवन व्यतीत कर।" इस प्रकार रानी का मजाक करके राजा स्नान करने चला गया। चूड़ाला को उसके इस व्यवहार से बड़ा दुःख हुआ। वह मन ही मन सोचने लगी, कि

"ओह ! कितने अफ़सोस की बात है कि आत्मज्ञान न होने से राजा मेरी बात को नहीं समझ सके !" कुछ समय तक पति-पत्नी दोनों इस प्रकार विचारों की भिन्न-भिन्न दिशा में चलते रहे। पश्चात् एक दिन चूड़ाला को आकाश में आने-जाने की सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा हुई। इसके लिए वह राजमहल छोड़कर एकान्त बन में चली गई। वहाँ पद्मासन लगाकर बहुत दिनों तक उसने तपस्या की। अन्त में सिद्धि प्राप्त हो गई और वह राजमहल में वापिस आकर पहले की नाईं घर-गृहस्थी के काम-काज तथा आत्मतत्व के चिन्तन में लग गई।

मनुष्य संसार के राग-रंग में कितना ही मशगूल क्यों न रहे; परन्तु जब तक उसके हृदय को धर्म का सच्चा रहस्य जानने से प्राप्त होनेवाली शान्ति नहीं मिलती, तब तक उसे सच्ची तृप्ति नहीं होती। यही हालत राजा शिखिध्वज की भी थी। वह मन ही मन उदास रहता। उसके हृदय में हलचल मचा करती कि जो परम शान्ति उसकी स्त्री चूड़ाला को प्राप्त है वह उसके हृदय में क्यों नहीं है; यह सोचकर उसने ब्राह्मणों और ऋषियों का सत्संग करना शुरू किया, तरह-तरह के व्रत और दान करने लगा; परन्तु जैसी चाहिये वैसी शान्ति उसे इससे भी नहीं मिली। चिन्ता-रूपी अग्नि से उसका शरीर सूखने लगा, और वह इस संसार-रूपी महाव्याधि की औषधि की खोज करने लगा। यहाँ तक कि अब उसे राज्य का सुख भी कड़वे जहर के समान लगने लगा। अन्त में एक दिन वह रानी चूड़ाला के पास पहुँचा और कहने लगा—"मैंने बहुत समय तक राजवैभव का भोग किया। अब मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ है; इसलिए मैं जंगल में जाकर रहूँगा। वन-

वास में राज्य से भी ज्यादा सुख है। वहाँ न तो किसी तरह की खटपट ही है और न कोई चिन्ता। वहाँ रहने से चित्त बड़ा शुद्ध और प्रसन्न रहता है। इसलिये आशा है कि तू मुझे वन में जाने से न रोकेगी और जाने की अनुमति देगी। क्योंकि अच्छी स्त्रियाँ स्वप्न में भी अपने पति की इच्छा को भंग नहीं करतीं।"

चूड़ाला ने जवाब दिया—"प्राणनाथ! प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कार्य उचित समय पर ही शोभा देता है। वसन्त ऋतु में फूल और शरद ऋतु में फल शोभा देते हैं, ऐसे ही बुढ़ापे के कारण जिनका शरीर कृश (कमजोर) हो गया हो उन्हें ही बन-वास करना चाहिए। आप सरीखे युवा पुरुष के बनवास करने की बात मुझे तो पसन्द नहीं। हाँ, बुढ़ापे में हम दोनों साथ-साथ ही घरबार छोड़कर बनवास करेंगे। उससे पहले ही प्रजा की रक्षा का भार छोड़कर वन में चले जाने से तो उल्टे कर्त्तव्य-द्रोह का पाप लगेगा।" पर राजा को उसकी यह सलाह न रुची। इससे वह स्नान करने के लिए महल में गया, और रात को रोज की तरह रानी के साथ सोया; पर पिछली रात को उसे भरनींद में सोते हुए छोड़कर राजमहल से चला गया। जाते वक्त उसके मुँह से निकला—"राजलक्ष्मी! तुझे अब अन्तिम नमस्कार है!" इसके बाद वह भयानक जंगलों को पार करता हुआ मन्दराचल पर्वत के पास पहुँचा और वहाँ एक पर्णकुटी बनाकर प्रसन्नतापूर्वक रहने लगा। राजविलास का उसने ध्यान भी न किया।

रात बीतने पर जब रानी चूड़ाला जागी तो उसने राजा को अपने पास न पाया। वह भयभीत होकर एक दम उठ बैठी और सोचने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिये? उसने सोचा

कि मैं भी अपने पति के पास ही जाऊँगी; क्योंकि आर्य स्त्रियों के लिए पति ही परम देवता है। यह विचार होते ही वह तुरन्त पति की खोज में निकल पड़ी, और थोड़े ही समय में पति का पता लगा लिया। उसने अपने पति को अकेले बन में देखा, पर उसने सोचा कि एकदम उसके पास न जाना चाहिये; क्योंकि उसे भय था कि ऐसा करने से कहीं वह उसे छोड़कर फिर न भाग जाय। अतः बहुत दिनों के बाद ही पति से मिलने का उसने निश्चय किया। तब वह वापिस अंतःपुर में चली गई और यह कहकर कि राजा किसी आवश्यक कार्य से बाहर गये हैं, राज्य और अंतःपुर का प्रबन्ध वह खुद करने लगी। इस प्रकार राज्य की रक्षा या शासन में अठारह वर्ष बीत गये, पर पति-पत्नी का मिलना नहीं हुआ। इसके बाद एक दिन पति के दर्शन करने की इच्छा से अकेली ही राजमहल से निकल पड़ी और हवा की तरह उस अरण्य को चल दी जहाँ कि राजा शिखिध्वज तपस्या करता था। यद्यपि यह स्वयं बड़ी ज्ञानवान और सारासार (अच्छे-बुरे) को समझनेवाली थी; फिर भी ज्यों-ज्यों जंगल में पहुँचती गई त्यों-त्यों इसके मन में पति से मिलने की उत्कण्ठा बढ़ती ही गई और वह सोचने लगी कि मनुष्यों का स्वभाव जीवन पर्यन्त नहीं बदलता। मैं अपने मन को विवेक से बहुत कुछ रोकती हूँ; फिर भी रह-रह कर यही बात उठती है कि सिंह के समान मज़बूत कन्धेवाले अपने पति से मैं कब मिलूंगी! मञ्जरों के गुच्छों से आच्छादित बेलें वृक्षों-रूपी अपने पतियों को क्षण-भर के लिए भी नहीं छोड़ती; यह देख-देखकर मेरे मन में पति से मिलने की उत्कण्ठा बढ़ती ही जाती है। यह मन्दी-मन्दी

हवा, यह शीतल चन्द्र किरणें, यह रमणीक वृक्ष मेरी उत्कंठा को और भी बढ़ा रहे हैं।" फिर अपने मन को सम्बोधन करके कहने लगी—"हे मूढ़ चित्त ! तुझे इतनी उतावल क्यों हो रही है ? तेरा शुद्ध विवेकपन कहाँ चला गया ? हे शरीर ! तू जिसके आलिंगन की इच्छा कर रहा है वह पति तो वृद्ध, तपस्वी, शरीर से कमज़ोर और वासना से रहित हो गये होंगे। राज्यादि के भोग भोगने की अभिलाषा तो अब उनमें ज़रा भी न रही होगी।" फिर यह विचार उठा—"मैं अपने योगबल से समझा कर शेष प्रारब्ध को भोगने के लिए उन्हें उत्साहित करूँगी और उनके चित्त को जंगल और महल दोनों के प्रति एकसां वृत्ति का बना कर उन्हें वापिस राज्य में ले आऊँगी; और फिर हम दोनों आनन्द के साथ रहेंगे। क्योंकि अब मेरे पति को भी सच्चा ज्ञान प्राप्त हो गया होगा और एक से विचार के दम्पत्ति को परस्पर सहवास से जो आनन्द मिलता है वही सब से श्रेष्ठ है।" इस प्रकार विचार करती हुई, प्राप्त की हुई सिद्धि के प्रताप से, आकाश मार्ग से अनेक पर्वतों, दिशाओं और नदियों को लाँघती हुई चुड़ाला मन्दराचल पर्वत की गुफा के पास गई और अन्दर जाकर एकाग्र चित्त से पति के दर्शन किये। आज उसे राजा दुर्बल, श्याम वर्ण और थका हुआ सा प्रतीत हुआ। आज उसके चेहरे से संसार के समस्त वैभवों के प्रति निस्पृहता झलक रही थी। वह फटे कपड़े पहने हुए था और सिर पर लम्बी जटा थी। वह अकेला शान्त चित्त बैठा हुआ देवता और अतिथि की पूजा के लिए माला गूँथ रहा था। पति को ऐसी स्थिति में देख कर चूड़ाला विचार करने लगी, कि "अहा ! अज्ञान से

पैदा हुई मुर्खता बड़ी विषम है। मेरे पति का ज्ञान अज्ञान के आवरण से ढक गया है, इसी से उनकी ऐसी दशा हुई है। इस लिए आज मुझे इनको सच्चा ज्ञान देकर सच्चा तत्त्वज्ञानी बनाना चाहिये। परन्तु ऐसा करने के लिए मुझे अपनी रानी का भेष बदल कर दूसरे किसी भेष में जाना होगा।" यह सोच कर चूड़ाला ने तरुण ब्राह्मण कुमार का रूप धारण किया और कुछ ही देर में पति के आश्रम में जा पहुँची। राजा शिखिध्वज ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया और कहने लगा—"महाभाग्य-वान देवपुत्र! आप कहाँ से पधारे हैं? आज आप के दर्शनों से मेरा जीवन सफल हुआ है। यहाँ आकर मेरी इज्जत बढ़ाने वाले हे देवपुत्र! यह अर्घ्य, पाद्य, स्वीकार करके मुझे कृतज्ञ कीजिये।

तब राजा की उक्त पूजन-सामग्री स्वीकार करके ब्राह्मण कुमार का वेश धारण किये हुए चूड़ाला बोली—मैं पृथ्वी के अनेक स्थानों में घूमा हूँ, परन्तु तुमने जैसा मेरा सत्कार किया, वैसा और किसी ने नहीं किया। अतः मैं तुम्हें चिरञ्जीवि होने का आशीर्वाद देता हूँ। पर राजर्षि! मैं सोचता हूँ कि आप ने यह महा तप क्या केवल मोक्ष के लिये ही अख्यार किया है? संन्यासियों और वान-प्रस्थाश्रमवालों के योग्य यह तपस्या तुम्हारे लिए तो तलवार की धार पर चलने के समान मुश्किल है। क्योंकि तुमने तो सब सम्पत्तियों से भरपूर राज्य को छोड़ कर इस वनवास को स्वीकार किया है।" इसके बाद राजा और मुनिकुमार का वेशधारी उसकी पत्नी में खूब बहस हुई। चूड़ाला ने अपना नाम कुम्भमुनि बत-लाया और राजा के साथ सच्ची मित्रता कर के बहुत दिनों तक

उसके साथ रही। और उसने अनेक उदाहरण व युक्तियों के साथ राजा को समझाया कि सुख और दुःख मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। अज्ञानरूपी पर्दे की वजह से इन्हें आत्मा के धर्म मान लिया गया है। आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर सुख-दुःख बन्धन-रूपी नहीं हो सकते। फिर ज्ञान के बिना मुक्ति भी नहीं। इसलिए यह ज्ञान प्राप्त करके मिथ्या अज्ञान के आवरण से छूटो। तुम जब राजा थे उस वक्त तुम्हारी नीतिवान और शास्त्रवेत्ता पत्नी चूड़ाला ने तुम्हें जो उपदेश दिया था उसे न मान कर तुमने अच्छा नहीं किया। हे राजा! जब तुम चूड़ाला की बात को न मान कर यहाँ आ रहे तो फिर सब त्याग पूरी तौर पर क्यों नहीं साधा?"

शिखिध्वज ने कहा—"हे प्यारे देवपुत्र! मैंने राजपाट, घर बार और सुन्दर एवं विदुषी स्त्री आदि सब को छोड़ दिया है; फिर भी तुम यह कैसे कहते हो कि मैंने सर्वस्व का त्याग नहीं किया? अब और ऐसा क्या है कि जिसका मैं त्याग करूँ?"

रानी चूड़ाला ने कहा—"तात्विक दृष्टि से देखो तो धन, स्त्री, राज्य, भूमि और बन्धु-बान्धव आदि तो तुम्हारे थे ही नहीं; फिर भला तुमने त्याग किसका किया? अभी भी एक खास भाग ऐसा रह गया है कि जब उसको त्याग दोगे तभी तुम आनन्द की मूर्ति हो सकोगे।"

रानी के इस उपदेश पर राजा ने वृक्ष, पर्वत और गुफाओं सहित इस वन से भी अपना ममत्व छोड़ दिया; परन्तु चूड़ाला को इससे भी सन्तोष नहीं हुआ। तब राजा ने अपने आश्रम को भी छोड़ दिया, पर इस त्याग का भी चूड़ाला पर कुछ असर न हुआ। तब राजा ने मृगचर्म, कमण्डल, आदि का भी त्याग

कर दिया; यही नहीं, किन्तु आग जला कर इन सब को उसमें भस्म भी कर दिया; जिससे उनके प्रति जो मोह हो वह भी चला जाय। और अन्त में जिस पवित्र माला से उसने परब्रह्म परमात्मा के नाम का अखण्ड जप किया था उसे भी व्यर्थ समझ कर आग में फैंक दी। इस प्रकार राजा सब कुछ छोड़ कर राह चलते भिखारी से भी ज्यादह कंगाल बन गया; मगर फिर भी कुम्भ मुनि का वेषधारी चूड़ाला ने उससे यही कहा, कि "अभी तुमने पूरा त्याग नहीं किया। अभी सब से मुख्य एक भाग बाकी ही है। उसका सम्पूर्ण त्याग करने पर ही तुम्हें परमानन्द प्राप्त होगा।" परन्तु राजा शिखिध्वज चूड़ाला की बात का मर्म इस पर भी न समझा और यह सोच कर कि यह अपने शरीर के ममत्व को छोड़ने के लिए कहती होगी, वह पहाड़ की चोटी से नीचे गिर कर अपने शरीर का नाश करने के लिये तत्पर हो गया। तब चूड़ाला ने उसे रोका और समझाने लगी, कि "तुम ऐसा मूर्खता का काम करने को क्यों तत्पर हुए हो? भला इस शरीर ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? यह तो जड़ और बिना चेतना का है, फिर इसने तो तपस्या करने में तुम्हें बड़ी मदद पहुँचाई है। इस जड़ शरीर को हिलाने-चलाने वाला तो कोई और ही है, इसलिए अगर तुम्हें सजा देनी हो, तो उसे दो। हे राजा! शरीर को छोड़ने से तुम्हारा सम्पूर्ण त्याग पूरा न होगा। तुम्हारा सम्पूर्ण त्याग तो तब सिद्ध होगा जब कि तुम इस शरीर को कायम रखनेवाले महापापी चित्त का त्याग कर दोगे। जब तक ऐसा न करोगे तब तक फिर से जन्म लेना पड़ेगा और फिर से शरीर

धारण करना पड़ेगा।" इसके बाद राजा की इच्छा देखकर चुड़ाला ने उसे यह सब बातें समझाईं कि इस शरीर को कौन चलाता है, पुनर्जन्म और कर्मों का मूल क्या है, और किसका त्याग करने से सर्वस्व का त्याग करना माना जाता है। तत्वज्ञान की इन बातों में राजा बड़ी दिलचस्पी लेता रहा और विदुषी चूड़ाला ने राजा की अनेक शंकाएँ दूर करदीं। इसके बाद जब चूड़ाला को यह विश्वास हो गया कि काम, क्रोध आदि विकारों को राजा ने वश में कर लिया है, तब एक दिन वह अपने असली रूप में आगई और आश्चर्य में पड़ जानेवाले राजा से कहने लगी—"हे प्यारे पति! मैं आपकी दासी चूड़ाला ही हूँ, इसमें ज़रा भी संशय नहीं है। इस वन में आपको ज्ञान देने के लिये ही मैंने कुम्भ आदि का शरीर धारण करने आदि का सब प्रपंच रचा था। जब से आपने मोहवश राज्य का त्याग किया है, उसी दिन से मैं आपको ज्ञान देने के प्रयत्न में लगी हुई थी। कुम्भ मुनि के वेश में मैंने ही आपको ज्ञान दिया है। मेरा वह स्वरूप मिथ्या था, उसमें सत्य कुछ भी न था। अब आप बिदित वैद्य (जिसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया हो) हो गये हैं। अब तो आप भी ध्यानयोग से पिछली सब बातों को ज्यों की त्यों जान सकते हैं।" तब राजा ने समाधि लगाकर देखा, तो चूड़ाला की बातों को बिलकुल सच पाया। अब तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। उसने बड़े प्रेम से पत्नी का आलिंगन किया और अपने को सच्चा ज्ञान देने के लिए उसको खूब धन्यवाद दिया। फिर उसके ज्ञान की अनेक प्रकार से प्रशंसा करके कहने लगा कि "दृढ़ निश्चय से तैंने मुझे जो ज्ञान दिया है, उसका बदला मैं कैसे

चुकाऊँ ? कुलीन स्त्रियाँ मोह में ग्रस्त पति को इसी प्रकार तैरकर पार उतारती हैं। अज्ञान और मोह के सागर से पति को कुलीन स्त्रियाँ जैसे पार करती हैं, वैसे शास्त्र या गुरुमन्त्र भी नहीं कर सकते। एक कुलीन और सुशील पत्नी अपने पति के मित्र, सम्बन्धी, नौकर, गुरु, धन, सुख, और शास्त्र सबका अभाव पूर्ण करती है। अतएव कुलीन महिलाएँ सदैव ध्यानपूर्वक पालन-पोषण और पूजा करने के योग्य हैं। तैंने संसार-रूपी सागर का पार पा लिया है, अब तू निष्काम है; तैंने मुझे जो सत्य मार्ग बतलाया है, भला किस प्रकार मैं उसका बदला चुकाऊँ ? जा, मैं आशीर्वाद देता हूँ कि संसार की कुलीन महिलाओं में तू बड़ी ऊँची मानी जायगी और रूप, सौजन्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि गुणों के कारण सतियों में तेरी गणना होगी।"

पति की ऐसी प्रेमपूर्ण बातें सुनकर चूड़ाला ने कहा—"महाराज ! आप व्याकुल चित्त होकर रात-दिन नीरस क्रिया-जाल मे लगे रहते थे, तब मुझे बारम्बार आपके लिये बड़ा दुःख होता था; और इस कारण आपको ज्ञान देकर मैंने अपने स्वार्थ को ही सिद्ध किया है। अतएव जैसी आपने मेरी तारीफ़ की, उतनी के मैं योग्य नहीं हूँ।"

इसके बाद आनन्द के साथ पति-पत्नि में अनेक विषयों पर बातें हुई। शेष जीवन बनवास में बिताया जाय, या स्वर्गलोक में जाकर अपूर्व सुख भोग किया जाय, अथवा वापिस राज्य में जाया जाय, इस सम्बन्ध में दोनों जनों में खूब बहस हुई। अन्त में चूड़ाला ने कहा—"हे राजा ! भोगों की मुझे इच्छा नहीं है। इसी प्रकार ऐश्वर्य की अनेक विभूतियाँ प्राप्त करने की भी मुझे

इच्छा नहीं है । मैंने तो अपनी ऐसी आदत बना ली है कि स्वाभाविक तौर पर जो कुछ मिलजाय उसी से काम चलाया जाय । स्वर्ग, राज्य या कर्म यह कोई मुझे सुख देनेवाले नहीं । मेरे मन में तो यह विचार ही पैदा नहीं होता कि यह दुःख है और यह सुख; अतएव मैं तो दोनों अवस्थाओं में एकसाँ शान्त रहकर अपने जीवन को व्यतीत कर सकती हूँ ।"

तब चूड़ाला की सलाह मानकर राजा शिखिध्वज ने फिर से राज्य में लौटकर राज-शासन सम्हालने का निश्चय किया। और दूसरे ही दिन दोनों जने राज्य में जा पहुँचे । प्रजा ने जब उन के आने की खबर सुनी तो उनके हर्ष का ठिकाना न रहा। बड़ी धूमधाम, बाजे-गाजे और सन्मान के साथ वे राजा-रानी को महल से ले गये ।

तदनन्तर बहुत समय तक चूड़ाला के पति ने राज्य किया । अपने हृदय में ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर भी उन्होंने प्रजा की रक्षा के अपने संसारिक कर्त्तव्य का बड़ी उमंग और कुशलता के साथ पालन किया। और इस प्रकार सुखी एवं कर्त्तव्य-परायण जीवन व्यतीत कर अन्त में चूड़ाला पति-सहित निर्वाण-पद (मुक्ति) को प्राप्त हुई ।

धन्य है ऐसी ब्रह्मज्ञानी और कर्त्तव्यपरायणा विदुषी !

विदुला

माता सदा अपने पुत्र का भला चाहती है। परन्तु देश जाति और समाज की परिस्थिति के अनुसार इस मंगल-कामना का आदर्श अलग अलग हुआ करता है। आज कल हमारे अधःपतित देश में माताएँ यही समझती हैं कि हमारा पुत्र चाहे जैसा निकले पर वह शरीर से निरोग रहे तो यही हमारे लिये सब से बडी बात है। उनकी कामना सदा यही रहती है कि पुत्र चाहे पढ़े लिखे और चाहे बिना पढ़ा ही रह जाय, मूर्ख हो चाहे बुद्धिमान हो, अच्छा हो चाहे बुरा हो, पर यदि वह शरीर से निरोग रहे और जीता रहे तो बस फिर हमें और कुछ नहीं चाहिये। पर प्राचीन काल में, भारतवर्ष के गौरव के दिनों में, माताएँ यही समझती थीं कि यदि पुत्र मनुष्यत्व, महत्व और वीरत्व के बिना अधम जीवन बिताता हो तो उसकी अपेक्षा उसका मरजाना ही कहीं अच्छा है। इसीलिए वे पवित्र माताएँ अपने पुत्र के मंगल के लिए उनकी मृत्यु को भी अशुभ नहीं समझती थीं। जब वे अपने पुत्र को मृत्यु से डर कर कायरता करती हुई देखती थीं तो उन्हें बहुत अधिक दुःख हुआ करता था। यदि कभी पुत्र युद्ध से डर जाता था तो उन्हें उत्साह युक्त शब्दों से उत्तेजित करके रण क्षेत्र में मृत्यु के मुँह में भेजने में भी ये वीर माताएँ आनाकानी नहीं करती थीं। पुत्रों की वीरता के गौरव से गौरवान्वित बनी हुई कायरता को सदा धिक्कारनेवाली क्षात्र तेज से तेजस्वी बनी हुई आदर्श जननी कुन्ती ने अपने पुत्रों को युद्ध में जाने के लिए उत्तेजित करने के उद्देश्य से पांडवों को

संजय की माता विदुला का इतिहास इस प्रकार सुनाया था।

विदुला जैसी तेजस्विनी स्त्री के गर्भ में से जन्म धारण करके भी वीर राजा संजय बड़ा कायर और नाज़ुक मिजाज का था। सिन्धुराज के साथ उसका युद्ध हुआ। उस समय संजय अपने प्राण बचाने के लिए युद्धक्षेत्र से भाग कर घर आ पहुँचा और बालकों की तरह रोने लगा।

विदुला अपने पुत्र के कमरे में गई। अपने पुत्र की दशा देख कर उसका चेहरा लाल हो गया और उसके सारे शरीर में आग सी लग गई। उसने बहुत ही क्रोधपूर्वक कहा 'ओ! कायर तू अपने प्राण बचाने के लिए युद्धक्षेत्र से भाग आया है और विधवाओं की तरह यहाँ कोने में घुस कर रो रहा है। धिक्कार है तुझे। तू ने अपने पिता के वीर्य से मेरे गर्भ में जन्म धारण किया है या किसी नीच कुल में से आकर तू गद्दी पर बैठ गया है। पुरुषत्वहीन पशु! तेरी कीर्ति नष्ट हो गई है। जब राज्य ही शत्रुओं के हाथ में चला गया तब तू क्यों व्यर्थ यह जीवन धारण कर रहा है। जो दूसरों के पराक्रम और दूसरों के आक्रमण का मुकाबला कर सके वही पुरुष है। जो स्त्रियों की तरह कोने में बैठ कर जीवन बिताता हो और शत्रु के भय से भाग आता हो उसका पुरुष नाम सार्थक नहीं है। स्त्रियों में भी महत्व हुआ करता है। स्त्रियाँ भी पृथ्वी पर हीन होकर रहना नहीं चाहतीं। स्त्रियाँ भी अपने महत् चरित्र से पृथ्वी को यशस्वी करती हैं। पर जो लोग तेरी तरह हीन और नीच बन कर रहना चाहते हैं जो लोग तेरी तरह तिरस्कार पूर्ण जीवन बिताते हैं वे न तो पुरुष ही हैं और न स्त्री ही हैं। वे तो अधम नपुंसक हैं। कुल का नाश

करने के लिए अमंगलकारी साक्षात् कलि ने तेरे जैसे पुत्र के रूप में मेरे गर्भ में जन्म धारण किया है। तू ने शत्रुओं को तो हँसाया है और अपने सगे सम्बन्धियों के मुँह में कालिख लगाई है। तेरे जैसा तेजहीन और वीर्यहीन पुत्र माता की कोख को लजानेवाला पुत्र किसी स्त्री के गर्भ में जन्म न ले। संजय, अब भी उठ और सजग हो। शत्रु के हाथ से पराजित होकर इस प्रकार निराश होकर मत बैठ। शत्रु से पराजित राज्यभ्रष्ट और लोक में निन्दनीय होकर तुझे दीन भिक्षुकों का सा कलंकित जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। क्या ऐसे निकृष्ट जीवन की अपेक्षा मृत्यु तुझे अधिक अच्छी नहीं लगती। यदि तू शत्रु को पराजित करके देश की रक्षा न कर सके तो तू वीर पुरुषों की भाँति जब तक तेरे शरीर में बल रहे तबतक तू अन्त तक युद्ध में लड़कर प्राण त्याग कर। लोग कहेंगे कि यह बुद्धिमान मनुष्य मरता मरता भी शत्रु को मारता गया।

माता के इन मर्मभेदी वाक् वाणों से व्यथित होकर संजय ने कहा "माता क्या तुम मेरी मृत्यु से सुखी होगी, मैं तुम्हारा एक ही पुत्र हूँ। यदि मैं मर जाऊँगा तो फिर इस संसार में तुम्हारे लिए और कौन सा सुख रह जायगा"।

विदुला ने कहा "पुत्र क्या तू यह समझता है कि मैं बिना समझे बूझे तेरी मृत्यु चाहती हूँ। तू वीरकुल में उत्पन्न राजपुत्र है। राजा होकर यदि तू पराधीन भिखारी की तरह जीवन बितावे, जिस वंश में आज तक कभी कोई किसी की कृपा का अभिलाषी नहीं हुआ, जिस वंश में आज तक कोई व्यक्ति कायरतापूर्वक किसी के आगे नहीं झुका, उसी वंश में जन्म

लेकर तू दूसरों के अधीन हो दूसरों का मुंह ताका करे; जिस वंश के राजा लोग सदा मुक्त हाथों से धनदान कर गए हैं जिन्होंने आज तक कभी किसी याचक को विमुख नहीं फेरा उसी वंश में जन्म लेकर तू दूसरों की दी हुई थोड़ी सी आजीविका पर निर्वाह करे, जो लोग तेरे पास कुछ माँगने आवें तू उनकी इच्छा पूरी न कर सके, दरिद्रों की दरिद्रता दूर न कर सके, शरणागत की रक्षा न कर सके, दुःखी का दुःख दूर न कर सके, क्या तुझे ऐसी स्थिति में देखने की अपेक्षा तेरी मृत्यु की कामना करना अधिक अच्छा नहीं है। यदि तुझ में कुछ भी मनुष्यता होगी, यदि तू क्षत्रिय की सन्तान होगा तो क्या तू ऐसे हीन जीवन में सुखी रह सकेगा। जैसे मछली नदी के थोड़े से जल में भर जाती है चूहे का पेट थोडे से अन्न में भर जाता है उसी प्रकार तुच्छ मनुष्य थोडे से लाभ के लिये हीन अवस्था में ही सन्तुष्ट रहते हैं। बेटा! मैं इसीलिए कहती हूँ कि तू वीरवंश का कलंक बनकर शत्रुओं से पराजित होकर और दूसरों के अनुग्रह पर निर्भर रहकर हीन जीवन कभी व्यतीत न करना। क्षत्रिय होकर कभी शत्रु के सामने सिर न झुकाना। तेजस्वी दृढ़प्रतिज्ञ क्षत्रिय मर जाते हैं पर कभी किसी के सामने सिर नहीं झुकाते। हे पुत्र! मैं इसीलिए कहती हूँ कि उठ और अपने क्षत्रिय नाम को सार्थक कर। अपना संजय नाम कलंकित मत कर। यदि जिन्दगी जाने को हो तो भले ही चली जाय पर तू फिर से एक बार क्षत्रिय तेज से प्रकाशित हो जा। जो आग एक बार खूब अच्छी तरह तेजी के साथ जल जाय वह आग उस आग की अपेक्षा कहीं अच्छी होती है जो धीरे धीरे बिना तेज के बहुत देर तक जला करती है।

हे संजय ! मैं इसीलिए कहती हूँ कि धीरे धीरे जलनेवाली तेजहीन अग्नि की भाँति तू हीन और कलंकित दीर्घ जीवन की इच्छा मत कर। तू एक बार वीर तेज से प्रज्वलित हो उठ। एक बार फिर अपनी ज्वलन्त प्रभा को प्रकाशित कर। और नहीं तो तू सदा के लिए बुझ जा।

संजय ने कहा "माता ! तू कैसी कठोर है। विधाता ने तेरा हृदय कैसा पत्थर का बनाया है। वीरता के अभिमान में तू अपने आपको बिलकुल भूल गई है और पुत्र का स्नेह बिलकुल खो बैठी है। तू अपने हीन पुत्र पर दया कर और आज ऐसी निष्ठुर बातों से मुझे दुःखी न कर। मैं अपने प्राण नष्ट होने के भय से तेरी शरण में आया हूँ। तू मेरे जीवन की ओर देख। मेरा अमंगल मत कर।"

विदुला ने उत्तर दिया संजय मैं तेरी माता हूँ। पुत्र के साथ स्नेह करना माता का धर्म है। माता को सदा अपने पुत्र के कल्याण की ही बहुत बड़ी चिन्ता रहा करती है। परन्तु यदि मैं अपने पुत्र को श्रीहीन और यशोहीन देखकर चुपचाप बैठी रहूँ तो मेरा पुत्र-स्नेह गधी के पुत्र-स्नेह के समान समझा जायगा। क्षत्रियत्व में ही क्षत्रिय का जीवन है। क्षत्रिय गौरव में ही क्षत्रिय का मंगल है। क्षत्रिया माता अपने पुत्र के क्षत्रिय जीवन की ही आकांक्षा करती है। वह इसी में अपने पुत्र का कल्याण समझती है कि उसका पुत्र क्षत्रिय गौरव से सर्व श्रेष्ठ समझा जाय। तेज और पराक्रम से रहित क्षत्रिय तो चोर की भाँति तिरस्कार का पात्र है। भला कोई माता अपने चोर पुत्र पर स्नेह कर सकती है। जो माता अपने तेजोहीन उद्यमहीन और निकम्मे पुत्र को देखकर ही

सुखी होती है उसका मातृजन्म व्यर्थ है। हाय! जिस प्रकार मरते हुए रोगी को दवा के प्रति अरुचि होती है उसी प्रकार मेरा यह हितकर उपदेश तुझे कडुआ लग रहा है। परन्तु बेटा! तू यह बात समझ ले कि केवल मोह और दुर्बुद्धि के कारण ही मेरी यह बात तेरे गले में नहीं उतरती। तू एक बार इस मोह से मुक्त हो जा, बस फिर तेरी यह दुर्बुद्धि दूर हो जायगी। उस समय तू समझ लेगा कि तेरा क्या कर्तव्य है तूने किसलिये यह महान् क्षत्रिय जीवन धारण किया है और किसलिए मैं तेरी प्राणों की परवाह न करके तुझ से इस प्रकार युद्ध करने के लिए आग्रह कर रही हूँ। उस समय तू समझ लेगा कि युद्ध करने और जीतने के लिए ही क्षत्रियों का जन्म हुआ करता है। शत्रुओं से पराजित होकर उनकी शरण में हीन जीवन विताने के लिए नहीं हुआ करता। यह मोह छूटजाने पर तू समझ लेगा कि शत्रुओं से डरकर परतन्त्र निन्दनीय जीवन बिताने की अपेक्षा शत्रुओं को रणक्षेत्र में मारते हुए रणक्षेत्र में प्राण त्याग करना कहीं अधिक उत्तम है। तब तू समझ जायगा कि कर्महीन उद्यमहीन और आलस्यपूर्ण जीवन की अपेक्षा कर्मवीर की निष्फल चेष्टा भी कितनी अधिक सुखकारी होती है। बेटा! मैं यह कहती हूँ कि तू अपना मन स्थिर कर और प्राणों के नाश का भय मत कर। अपने जीवन के बदले में तू कुल की मर्यादा रक्षित रखने के लिए तैयार हो। क्या तू मुझे स्नेहहीन समझ कर मेरा तिरस्कार करता है। तू एक बार क्षत्रिय माता के योग्य पुत्र बन। क्षत्रियोचित तेज और पराक्रम से शत्रु को थका दे और वीर कुल में अपने जन्म लेने को सार्थक कर और वीरतत्व के गौरव से संसार में नाम पैदा

कर। अपने साहस और वीरता से सैनिकों के हृदय में अपार साहस और वीरता का संचार करके देश के शत्रुओं को देश में से निकाल कर वाहर कर। शत्रुओं से जीते हुए राज्य का उद्धार कर। शत्रुओं से पीडित प्रजा की रक्षा कर और राजधर्म का पालन कर। और तव फिर देख कि माता के हृदय में योग्य पुत्र के लिए अधिक स्नेह और कितनी अधिक श्रद्धा है।

संजय उठ खड़ा हुआ। जननी के उत्साहपूर्ण उपदेश से उसके हृदय में साहस का संचार हुआ। उसने अपनी माता के पैर पकड़ कर शपथ ली कि या तो मैं शत्रु को जीतकर ही आऊँगा और या वहीं अपने प्राण त्याग दूंगा। इसके उपरान्त संजय युद्ध में लड़ने के लिए गया। माता की उत्साहप्रद बातें रणक्षेत्र में संजय के कानों में दुन्दुभी के नाद के समान गूंजने लगी। वहुत अधिक उत्साह से असाधारण पराक्रमपूर्वक युद्ध करके संजय सिन्धुराज को पराजित करके, विजयी होकर घर लौटा और अपनी माताके चरणों में साष्टाँग प्रणाम किया।

हाय! हमारी हीन जाति को वीर वनाने के लिए कव घर घर विदुला जैसी माताओं का आविर्भाव होगा।

कुन्ती

पांडवों की माता कुन्ती के समान उन्नत-हृदया और तेजस्विनी स्त्रियाँ जगत् में दुर्लभ होती हैं। जिस प्रकार वीरता और महत्व के लिये पांडव संसार में श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार उन्नत चरित और महत्व के लिए कुन्ती भी संसार में

अतुलनीय समझी जाती है। वीर पुत्रों की योग्य माता के रूप में यह अनेक गुणों से आर्यभूमि को गौरवान्वित कर गई हैं।

यह यदुवंसी राजा शूरसेन की कन्या और भगवान श्रीकृष्ण के पिता वसुदेवकी वहन थी। इसका वास्तविक नाम पृथा था। परन्तु शूरसेन का भाई राजा कुन्तिभोज निःसन्तान था इसलिए शूरसेन ने इसे वचन दिया था कि मेरी जो पहली सन्तान होगी वह मैं तुम्हें दे दूँगा। इसी वचन के अनुसार शूरसेन ने राजा कुन्तिभोज को अपनी यह कन्या पृथा दे दी थी। कुन्तिभोज ने पृथा को अपनी कन्या के समान पाला था इसीलिए पृथा भी कुन्ती के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उन दिनों कुरुवंश का राजा भारतवर्ष में सब से श्रेष्ठ और पराक्रमी समझा जाता था। आधुनिक दिल्ली के पास हस्तिनापुर में उसका राज्य था। इसी कुरुवंश के राजा पांडु के साथ स्वयंवर में कुन्ती का विवाह हुआ था। पांडु का धृतराष्ट्र नामक एक बड़ा भाई था। परन्तु धृतराष्ट्र जन्म से ही अन्धा था इसलिए उसका छोटा भाई पांडु हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा था। गान्धार देश के राजा सुवल की कन्या गान्धारी के साथ धृतराष्ट्र का विवाह हुआ था। कुन्ती के गर्भ से परम धर्मात्मा युधिष्ठिर महाबलवान भीमसेन तथा तेजस्वी महत्चरित्र और महावीर अर्जुन ने जन्म ग्रहण किया था। मद्र देश के राजा की माद्री नाम की एक कन्या कुन्ती की सपत्नी थी। उसके गर्भ से नकुल और सहदेव नामक युग्म पुत्र उत्पन्न हुए थे। ये पाँचो पुत्र पांडव के नाम से प्रसिद्ध हुए। गान्धारी के गर्भ में से दुर्योधन और दुःशासन आदि एक सौ पुत्र और दुःशला नाम की एक कन्या ने

जन्म ग्रहण किया था। यद्यपि पांडु और धृतराष्ट्र दोनों ही कुरु वंश के थे तथापि धृतराष्ट्र के पुत्र ही कौरव नाम से प्रसिद्ध हुए थे। कुरुक्षेत्र में कौरवों और पांडवों के बीच जो भीषण युद्ध हुआ था उसका वर्णन महाभारत में है।

पुत्रों के जन्म के थोड़े दिनों बाद ही महाराज पांडु की मृत्यु हो गई। माद्री ने अपने सब पुत्र कुन्ती को सौंप दिए और आप पति के साथ सती हो गई। कुन्ती अपने पुत्रों के साथ साथ अपनी सौत माद्री के पुत्रों का भी समान स्नेह से पालन पोषण करने लगी। नकुल और सहदेव को कभी इस बात का पता भी न लगने पाता था कि कुन्ती हमारी सौतेली माता है! ये दोनों भाई सब से छोटे थे इसलिए कुन्ती इन पर अपने पुत्रों से भी बढ़ कर स्नेह रखती थी।

पांडवों और कौरवों में युधिष्ठिर सब से बड़े थे। इसलिए उसके वयस्क होते ही धृतराष्ट्र ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। वीरता में, अस्त्र शस्त्र आदि चलाने में, धर्मनिष्ठा में और उच्च चरित्र में कौरवों की अपेक्षा पांडव सभी प्रकार से कहीं अधिक श्रेष्ठ थे। दुर्योधन बाल्यावस्था से ही पांडवों के साथ ईर्ष्या करता था और उसी ईर्ष्या के वश होकर वह उन्हें अनेक प्रकार का कष्ट देने का भी प्रयत्न किया करता था। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों की अपेक्षा पांडवों को अधिक श्रेष्ठ समझता था। वह संकीर्ण हृदय क्षत्रिय नहीं था। अपने पुत्रों के खराब चाल चलन से वह भलीभाँति परिचित था। वह यह भी जानता था कि यह दुष्ट बिना कारण ही बिचारे पांडवों को बराबर दिक किया करता है। इन सब कारणों से वह मन ही मन बड़ा दुखित

हुआ करता था परन्तु उसका चित्त जितना चाहिये उतना दृढ़ नहीं था। दुर्बल चित्त धृतराष्ट्र कभी तो ईर्ष्या के वश होकर और कभी पुत्र-स्नेह के कारण अपने पुत्र के दुष्ट कर्मों का अनुमोदन भी कर दिया करता था। वह इसी प्रकार समय बिताया करता था।

दुर्योधन के आग्रह से धृतराष्ट्र ने पाँडवों को यह आज्ञा देदी कि तुम कुन्ती के साथ वारणावत नामक स्थान में चले जाओ और वहाँ रहो। वेचारे धृतराष्ट्र को इस बात का कुछ भी पता नहीं था कि इसके अन्दर क्या चाल है। वारणावत में पाँडवों को जला देने के लिए दुर्योधन के साथियों ने तरह तरह के शीघ्र जल उठनेवाले पदार्थों से लाक्षागृह नाम का एक महल बनाया था। उन लोगों ने यह प्रपंच रचा था कि रात के समय लाख के बने हुए महल में आग लगा दी जाय और उसमें कुन्ती के साथ साथ पाँडव भी जीते जी जल मरें। पर पाँडवों को इस जाल का पहले से ही पता चल गया और वे रात होने से पहले लाख के बने हुए उस महलमें से चुपचाप भाग गए। दैव संयोग से नीच वर्ण की एक स्त्री अपने पाँच पुत्रों के साथ घर में आ ठहरी थी। जब दुर्योधन के साथियों ने उस घर में आग लगाई तब वह वेचारी स्त्री अपने पाँचों पुत्रों के साथ वहीं जल मरी। उन लोगों के जले हुए शरीरों का अवशेष देखकर उन लोगों को यह विश्वास हो गया कि कुन्ती ही पाँडवों के साथ जल मरी।

अब पाँडव लोग इस विचार से गुप्त वेश से भिन्न भिन्न देशों में भ्रमण करने लगे कि कहीं फिर हम लोगों पर इसी प्रकार की विपत्ति न आजाय।

इस प्रकार दरिद्र ब्राह्मणों के वेश में पाँडव अपनी माता के साथ कुछ दिनों तक एक ब्राह्मण के घर में रहे। उस नगर के पास ही वक नाम का एक प्रचंड राक्षस रहा करता था। उस नगर पर उसीका अधिकार था। उस राक्षस ने यह नियम कर रखा था कि नगर के निवासियों में से नित्य एक आदमी अनेक प्रकार की भोजन सामग्री लेकर मेरे पास आया करे। भोजन के और और पदार्थों के साथ वह राक्षस उस आदमी को भी खा जाया करता था। जिस ब्राह्मण के घर पाँडव ठहरे हुए थे एक दिन उसी ब्राह्मण की पारी आई। ब्राह्मण के घर रोना पीटना मच गया। उस ब्राह्मण की स्त्री, पुत्र, कन्या और स्वयं वह ब्राह्मण इन चारों में से हर एक अपने प्राण देकर दूसरों के प्राण बचाने को तैयार होने लगा।

कुन्ती और भीमसेन भी उस दिन वहीं थे। बाकी चारों भाई भोजन सामग्री लाने के लिए बाहर गए हुए थे। ब्राह्मण और उसकी स्त्री तथा पुत्र आदि का रोना धोना सुनकर कुन्ती भी उनके पास जा पहुँची और उनके रोने का कारण पूछने लगी। हाल सुनकर उसने कुछ मुस्कराते हुए कहा "वाह! तुम लोग इतना रोते किसलिए हो, तुम लोग जरा भी चिन्ता न करो। आज इस घर की पारी है। हम लोग भी इसी घर में रहते हैं। आज भीम ही तुम लोगों की ओर से भोजन सामग्री लेकर उस राक्षस के पास जायगा।"

ब्राह्मण ने कहा "माता! भला हम ऐसी बात किस प्रकार कर सकते हैं। तुम लोग तो हमारे अतिथि हो। भला हम अतिथि

के प्राण देकर अपने प्राण बचा सकते हैं। हम से कभी ऐसा अधर्म नहीं हो सकता।"

कुन्ती ने कहा "महाराज! आप ऐसा विचार न करें। राक्षस मेरे भीम को मार नहीं सकेगा। उलटे यह भीम ही उस राक्षस को मार आवेगा। अभी आप नहीं जानते कि इसके शरीर में कितना बल है। इसने पहल बड़े बड़े राक्षसों को मारडाला है। और फिर यदि यह उसे न भी मार सका तो भी क्या हो जायगा यह भी तो आपके ही घर में रहता है। आपके ही आश्रय में जीता है। इसलिए यह भी आपके कुटुम्ब का ही आदमी गिना जायगा। आप वृद्ध हैं और यह बलवान युवक है। ऐसी अवस्था में भला क्या यह आप सरीखे कृपालु रक्षक को मुंह में जाने देगा और आप अपना इतना मोटा शरीर लेकर घर के अन्दर बैठा रहेगा। यदि यह विपत्ति में पड़े हुए मनुष्य की विपत्ति से रक्षा न करे तो फिर इसका इतना मोटा शरीर किस दिन काम आवेगा। मैंने माता की भाँति इसके इतने मोटे शरीर की और किसलिए पुष्टि की है; जब तक भीम के शरीर में प्राण हैं तब तक इससे ऐसा अधर्म कभी न हो सकेगा। स्वयं मैं भी माँ होकर उसके ऐसे अधर्म का कभी अनुमोदन न करूँगी। मैं आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करती हूँ कि आप मुझे तथा मेरे पुत्र को इस आवश्यक और उचित धर्म का पालन करने दें। यदि आप नहीं मानेंगे तो भीम जबरदस्ती आपको रोककर चला जायगा और मैं भी उसे भेज दूँगी। इसलिए उचित यही है कि आप पहले से ही इसमें कोई बाधा न दें।"

लाचार होकर ब्राह्मण ने कुन्ती की यह प्रार्थना स्वीकृत करली।

माता की आज्ञा से भीमसेन उस दिन राक्षस के पास जाने को तैयार हुआ। इतने में युधिष्ठिर आदि चारों भाई भी घर आ पहुँचे। युधिष्ठिर यह सुनकर कुछ भयभीत हुए कि माता की आज्ञा से भीम आज बक राक्षस के साथ लड़ने के लिए जा रहा है। इसलिए उन्होंने माता से यह विचार छोड़ देने का आग्रह किया।

कुन्ती ने कहा युधिष्ठिर अपने आश्रयदाता इस ब्राह्मण कुटुम्ब की रक्षा के लिए और इस नगर की प्रजा के हित के लिये मैंने आज भीम को इस काम के लिए भेजना निश्चय किया है। तुम इस में बाधक क्यों होते हो? भीम का बल तो तुम लोग अपनी आँखों से देख ही चुके हो। मुझे पूरा विश्वास है कि यह उस राक्षस का वध कर के ही आवेगा। यदि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र में से किसी पर कोई विपत्ति आवे तो क्षत्रियों का यह परम कर्तव्य है कि वे उनकी रक्षा करें। और फिर अपने आश्रयदाता के उपकार का बदला चुकाना तो मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। अपने आश्रय-दाता के उपकार के लिए क्षत्रियों के धर्म का पालन करने के लिए मैंने यह काम भीम को सौंपा है। अपने धर्म का पालन करने से भीम का क्षत्रिय-जीवन सार्थक होगा। तुम क्यों इस में बाधक होते हो और खेद प्रकट कर रहे हो। युधिष्ठिर ने लज्जित होकर कहा तुमने भीम को बहुत ही उचित कार्य में नियुक्त किया है। तुम्हारे पुण्य और तुम्हारे आशीर्वाद से वह उस बक राक्षस का वध कर के ही आवेगा। अपनी माता और बड़े भाई की आज्ञा लेकर भीम बहुत ही प्रसन्नता से दूसरे दिन उस राक्षस को

मारने के लिए गया और अपने अमानुपिक पराक्रम से उस राक्षस का बध कर के वह अपनी माता के पास लौट आया।

इसके उपरान्त पाँडव पंचाल देश में गये। उस समय पंचाल राज्य में राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर हो रहा था। देश देश के राजा लोग पंचाल नगर में एकत्र हुए थे। राजा ने यह प्रण किया था कि जो व्यक्ति धनुर्विद्या में विशेप पारदर्शिता दिखालावेगा उसी के साथ द्रौपदी का विवाह होगा। और इसके लिए वहाँ मत्स्यवेध का आयोजन किया गया था। एक एक कर के सभी राजाओं ने मछली को वेधने का प्रयत्न किया पर किसी को सफलता नहीं हुई। अन्त में ब्राह्मण वेपधारी अर्जुन ने लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया। अस्त्र विद्या में प्रवीण वड़े वड़े क्षत्रिय जो वेध न कर सके थे एक ब्राह्मण वही वेध करके द्रौपदी जैसी परम सुन्दरी को पागया। यह देखकर राजाओं को वड़ा क्रोध हुआ। इस वैर का वदला चुकानेके लिए वहुत से राजा अर्जुन पर टूट पड़े। परन्तु भीम और अर्जुन ने अपनी अतुलनीय वीरता से वहुतों को परास्त किया और वे द्रौपदी को लेकर अपनी माता कुन्ती के पास गए। कुन्ती उस समय द्वार वन्द करके घर का काम कर रही थी। वाहर से पाँडवों ने कहा, मां! आज हम लोग एक अमूल्य रत्न लाए हैं। कुन्ती ने घर के अन्दर से ही उत्तर दिया पाँचों भाई वाँट लो। मातृभक्त पाँडवों ने माता के आज्ञानुसार द्रौपदी के साथ विवाह कर लिया। इस प्रकार द्रौपदी पाँचों की पत्नी हो गई।

स्वयंवर में अर्जुन और भीम ने जो पराक्रम दिखलाया था उसके कारण पाँडवों का समाचार गुप्त न रह सका। धृतराष्ट्र ने

हस्तिनापुर राज्य का आधा भाग युधिष्ठिर को दे दिया और पाँडवों को खाँडवप्रस्थ में रहने की आज्ञा दी। दुर्योधन हस्तिनापुर का राजा हुआ। खाँडवप्रस्थ की युधिष्ठिरवाली राजधानी इंद्रप्रस्थ कहलाने लगी। यही इंद्रप्रस्थ आजकल की दिल्ली है।

थोड़े दिनों के बाद पराक्रमी पाँडवों ने दिग्विजय करके बहुत धूमधाम से राजसूय यज्ञ किया। पापिष्ठ दुर्योधन पाँडवों का यह गौरव देखकर ईर्ष्या की आग से जलने लगा। उसने कुटिल बुद्धिवाले अपने मामा शकुनी की सलाह से जूआ खेलने के लिए धिष्ठिर को बुलाया। पासा फेंकने में शकुनी सिद्ध-हस्त था। जूए में युधिष्ठिर अपना सब कुछ हार गए और उन्हें बारह वर्ष का बनवास और एक वर्ष का गुप्तवास मंजूर करना पड़ा। कुन्ती के पुत्र जब प्रतिज्ञानुसार वन को जाने लगे तब कुन्ती ने उसमें कोई बाधा नहीं दी। द्रौपदी ने भी अपनी सास से पतियों के साथ वन जाने की आज्ञा माँगी। शान्तचित्त से आज्ञा देते हुए कुन्ती ने कहा, बेटी तू धर्मशील और गुणवती है। तेरी जैसी स्त्रियों से मैके और ससुराल दोनों कुलों की प्रतिष्ठा बढ़ती है। तुझे यह सिखलाने की आवश्यकता नहीं है कि स्वामी के प्रति पतिव्रता स्त्री का क्या धर्म और कर्तव्य हुआ करता है। प्रसन्नता-पूर्वक अपने पतियों के साथ वन में जा। तू दुःख में अधीर न होना। जब बुरे दिन आजाते हैं तब किसी की कुछ भी नहीं चलती। परन्तु बुद्धिमान् स्त्री आपत्ति के समय कभी हिम्मत नहीं हारती। इस बात का ध्यान रखना कि रास्ते में उन लोगों को किसी प्रकार का कष्ट न हो। धर्म और गुरुजनों के आशीर्वाद से सदा तेरी रक्षा होती रहेगी।

जब बारह वर्षों का वनवास और एक वर्ष का गुप्तवास पूरा हो गया तब भी दुर्योधन ने पाँडवों के राज्य में से एक तस्सू जमीन भी देना मंजूर नहीं किया इसीलिए कुरुक्षेत्र में महायुद्ध की तैयारी हुई। यह निश्चय था कि इस युद्धमें कुरुवंश का सर्वनाश हो जायगा। यही सोचकर धर्मात्मा युधिष्ठिर ने इस बात का बहुत अधिक प्रयत्न किया कि किसी प्रकार सन्धि हो जाय। भीम और अर्जुन ने अनेक प्रकार के अपमान सहे पर फिर भी अपने कुल की रक्षा करनेके विचार से उन्होंने युधिष्ठिर के विचार का प्रसन्नतापूर्वक समर्थन किया। युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण को इस-लिए दूत बनाकर हस्तिनापुर भेजा कि वे मीठे वचनों से समझा बुझाकर दुर्योधन को ठीक मार्ग पर ले आवें और वह पांडवों को राज्य का भाग दे दे। पिता धृतराष्ट्र, माता गन्धारी और दूसरे सगे सम्बन्धियों तथा मित्रों ने दुर्योधन को बहुतेरा समझाया परन्तु बलगर्वित दुर्योधन ने साफ कह दिया कि बिना युद्ध किए मैं युधिष्ठिर को सूई की नोक के बराबर भी जमीन न दूंगा। इस पर कुन्ती का अभिप्राय जाननेके लिए श्रीकृष्ण उनके पास गए।

जिन कौरवों ने बाल्यावस्था से ही कुन्ती के पुत्रों को अत्यन्त दुःख दिया था जिन्होंने भरी सभा में द्रौपदी का हद से ज्यादा अपमान किया था जिनके कपटपूर्ण व्यवहार के कारण उसके पुत्रों को द्रौपदी के साथ तेरह वर्षों तक वनवास और अज्ञातवास का महा दुःख भोगना पड़ा था उन्हीं कौरवों के सम्बन्ध में जब कुन्ती ने यह सुना कि मेरे पुत्र युधिष्ठिर ने उनके यहाँ दीनतापूर्वक सन्धि करने के लिए सन्देसा भेजा था तब उस तेजस्वी क्षत्रिय रमणी वीरप्रसविनी कुन्ती को अधिक दुःख हुआ। परन्तु सन्धि

तो कौरवों ने ही नामंजूर कर दी थी। परन्तु फिर भी जब कुन्ती को यह आशंका हुई कि कोमल स्वभाव के युधिष्ठिर असंख्य मनुष्यों के प्राण बचाने के विचार से युद्ध करना नहीं चाहते और कौरवों की शरण में रहने का विचार कर रहे हैं तब कुन्ती ने श्रीकृष्ण के द्वारा बहुत ही तेजोमय शब्दों में इस आशय का संदेसा अपने पुत्रों के पास भेजा।

कुन्ती ने कहा श्रीकृष्ण इस जीवन में मैंने अनेक प्रकार के दुःख सहे हैं। वैधव्य का अपार दुःख भी मैं सह रही हूँ। पुत्रों के राज्यनाश और बनवास का दुःख भी मैं सह चुकी हूँ। तेरह वर्षों तक मैं अपने पुत्रों का मुँह भी न देख सकी यह भी कुछ कम दुःख नहीं है। ये सब बातें मैंने जैसे तैसे सह लीं। परन्तु कौरवों की भरी सभा में मेरी बहू द्रौपदी का चीर खींचा गया यह अपमान मैं कभी सहन नहीं कर सकती। जिस दिन मैंने देखा कि भरी सभा में दुष्ट कौरवों ने द्रौपदी का उनके पतियों और बन्धु बान्धवों के सामने ऐसा अपमान किया उस दिन से मेरे मन में शान्ति नहीं है। उसी दिन से मुझे अपने पुत्र और फिर पुत्रों की बात तो जाने दो यदि सच पूछो तो हे जनार्दन तुम भी मुझे प्रिय नहीं लगते। मैं पुत्रवती हूँ। तुम और बलदेव मेरे सहायक हो। महा वीर भीम और अर्जुन अभी जीते हैं। तो फिर भला, तुम्हीं बतलाओ ऐसे दुःसह अपमान की ज्वाला मैं कैसे सह सकती हूँ। क्या कोई क्षत्रिय सन्तान अपनी कुलवधू का ऐसा अपमान सह सकती है। मेरे पुत्र भीम अर्जुन नकुल सहदेव क्षत्रिय धर्म का पालन करनेवाले हैं। फिर भी मैं नहीं समझती कि वे इतना बड़ा अपमान सहने के लिए किस प्रकार तैयार हो गए। युधिष्ठिर, मैं

अब क्या कहूँ। वह राजपुत्र और राजा होकर भी राजधर्म का पालन करने में आगा पीछा कर रहा है इसीलिए वह इस पाप का संचय भी कर रहा है। जो वेद का अर्थ विना समझे ही खाली वेद पढ़ता है वह कोरा वेदुआ पशु ही रह जाता है। उसी प्रकार यह युधिष्ठिर भी कुलोचित्त धर्म का मर्म तो समझता ही नहीं केवल ऊपरी धर्म का अनुष्ठान करता है और इसीलिए उसकी वुद्धि भी पशु के समान हो रही है। क्षत्रिय वीर राज्य के लिये कभी किसी से प्रार्थना नहीं किया करते। वे दान के रूप में कभी कोई चीज नहीं लेते। वे जो कुछ लेते हैं वह अपने वाहुवल से लेते हैं। प्राचीन काल में भंडारी कुवेर ने प्रसन्न होकर राजर्षि मुचकुन्द को पृथ्वी दान दी थी। परन्तु मुचकुन्द अपने भुजवल से राज्य प्राप्त करना चाहते थे इसलिए उन्होंने वह दान लेना मंजूर नहीं किया। राजधर्म और राजर्षि धर्म यही है। आज उसी राजधर्म को भुला कर युधिष्ठिर भिखारियों के वेष में ब्राह्मणों की भाँति हाथ पसार कर राज्य माँगने के लिए तैयार हुआ है। वह क्षत्रिय है। और भिक्षा वृत्ति क्षत्रियों का धर्म नहीं है। प्रजा का पालन करना और विपत्ति में पड़े हुए लोगों की रक्षा करना ही उनका धर्म है। उन्हें अपने वाहुवल से अपना निर्वाह करना चाहिए। उसे यह देखना चाहिए कि उसके वाप दादा ने किस प्रकार राज-धर्म का पालन किया है। तुम उससे जाकर कह दो कि वह जिस धर्म को आधार वनाना चाहता है वह राजर्षियों का धर्म नहीं है। जो लोग दुर्वल और वहुत अधिक दयालु हुआ करते हैं वे राजधर्म का पालन करने और प्रजा की रक्षा करने के योग्य नहीं होते। वह ऐसा आचरण करने के लिए तैयार हुआ है जिसके

लिए मैं, पांडु राज की आत्मा, पितामह भीष्म या और कोई कभी सलाह नहीं दे सकता। उसे कोई इस प्रकार का आशीर्वाद नहीं देता कि जाओ सन्धि कार्य में तुम्हें सफलता हो। केशव, तुम जाकर युधिष्ठिर से कह देना कि तुम्हें राजधर्म के अनुसार युद्ध करना चाहिए जिसमें तुम्हारे बाप दादा का नाम न डूबे और तुम्हें धर्मभ्रष्ठ होने के कारण अपने भाइयों के साथ नरकगामी न होना पड़े। हे कृष्ण, तुम भीम अर्जुन नकुल और सहदेव से भी कह देना कि तुम लोग क्षात्र-धर्म को भूल न जाना। तुम लोग यह बात स्मरण रखना कि तुम्हारे जैसे बीर पुत्रों की माता होकर भी मैं इस समय पराधीन होकर जीवन बिता रही हूँ। वीर पति की सहधर्मिणी होकर भी द्रौपदी एक छोटी स्त्री, की भाँति कौरवों की सभा में अपमानित हुई है। यह कलंक यों ही नहीं भूल जाना चाहिए। मैं द्रौपदी का रंगढंग अच्छी तरह देखती हूँ। उसे वीरत्व का अभिमान है। वीर पुरुष के योग्य वह वीरपत्नी कृष्णा अवश्य ही अपने पतियों को युद्ध करने के लिए उत्तेजित करेगी। हे केशव, मेरे पुत्रों से तुम कह देना कि वे अवश्य ही द्रौपदी के परामर्श के अनुसार कार्य करें। कह देना कि क्षत्राणी जिस लिए गर्भ धारण किया करती है उस काम का समय अब आ पहुँचा है। उन लोगों को क्षत्राणी के गर्भ से जन्म लेने को सफल कर दिखाना चाहिए। वे इसके विपरीत आचारण कभी न करें। यदि वे लोग इसके विपरीत आचारण करेंगे तो वे अपने इस छोटे कर्म के कारण सारे संसार में सदा के लिए तिरस्कार और निन्दा के पात्र हो जाँयगे। मैं भी फिर सदा के लिए उन लोगों का परित्याग कर दूँगी। क्षत्रिय जननी कभी तेजोहीन पुत्र को

अपना पुत्र ही नहीं गिनती। यदि आवश्यकता हो तो धर्म की रक्षा के लिए समर भूमि में अपने प्राण तक अर्पित कर देना चाहिए। क्षत्रिय कुल का पालन करने के लिए मेरे पुत्रों को अपने प्राण देने में भी कभी आगा पीछा नहीं करना चाहिए।

इतना सब कुछ कह चुकने पर कुन्ती ने अपने पुत्रों का उत्साह बढ़ाने के लिए श्रीकृष्ण को संजय और विदुला का इतिहास कह सुनाया।

आदि से अन्त तक विदुला की उत्साहवर्धक बातें सुना कर अन्त में कुन्ती ने कहा "केशव! दुर्बल चित्त और शोकग्रस्त युधिष्ठिर को यह सारा उत्साहवर्धक वृत्तान्त सुना देना। जिस प्रकार संजय ने माता की बातों से उत्साहित होकर शत्रुओं को पराजित किया था उसी प्रकार मेरे पुत्रों को भी उचित है कि मेरे उपदेश से उत्साहित होकर कौरवों के साथ युद्ध करें और अपने राज्य का उद्धार करके अपने शत्रुओं का नाश करें। बस यही मेरी सब से बड़ी इच्छा है।

कुन्ती की इस तेजस्विता से श्रीकृष्ण बहुत अधिक प्रसन्न हुए और उसकी यथेष्ठ प्रशंसा करके वे युधिष्ठिर के पास गए। उनके द्वारा सब बातें विस्तार पूर्वक सुन कर और अपनी माता कुन्ती का अभिप्राय जान कर पांडव लोग युद्ध के लिए तैयार हुए। तुरन्त कुरुक्षेत्र में महायुद्ध करने की तैयारियाँ होने लगीं।

इस भयंकर युद्ध में केवल जन्मान्ध धृतराष्ट्र, पाँचो पांडवों और अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु की स्त्री उत्तरा के गर्भ में के एक बालक के सिवा पांडवों और कौरवों के वंश के और सभी लोग एक साथ ही मारे गए। भारतवर्ष और उसके आसपास के

अनेक देशों के राजा इस युद्ध में सम्मिलित होकर मारे गए थे। ऐसे भयानक युद्ध में इस प्रकार का रोमांचकारी हत्याकांड मचा कर विजय प्राप्त करने से पांडवों को भी कोई प्रसन्नता नहीं हुई। कुन्ती के मन में भी एक प्रकार का वैराग्य उत्पन्न हो गया। कुन्ती ने ही अपने पुत्रों को युद्ध करने के लिए इस प्रकार उत्तेजित किया था। पर इस युद्ध में भारत के वीरकुल का ऐसा भीषण नाश देख कर उसी कुन्ती के मन में बहुत अधिक शोक उत्पन्न हुआ। पुत्रों की विजय से प्रसन्न होने के बदले उसने पुत्र-शोकातुर धृतराष्ट्र और हतभागिनी कौरव-जननी गान्धारी को सान्त्वना देने और उनकी हर प्रकार से सेवा करने को ही अपने जीवन का एक मात्र व्रत बना लिया।

थोड़े दिनों बाद धृतराष्ट्र ने गान्धारी के साथ बन में जांने का बिचार किया। कुन्तीदेवी ने भी अपने पुत्रों और साथ ही राजवैभव का परित्याग करके अपने जेठ और जेठानी की सेवा करने के विचार से उनके साथ वन में जाने का बिचार किया।

जब युधिष्ठिर ने देखा कि कुन्ती भी वन में जाने के लिए तैयार हो रही है तब उन्होंने उससे घर में ही रहने के लिए बहुत आग्रह किया। परन्तु कुन्ती ने कहा बेटा अब इस संसार के प्रति मेरा कोई प्रेम नहीं रह गया। वीरकुल का यह भीषण नाश देख कर मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ है। अब तो मेरी यही इच्छा है कि मैं अपना शेष जीवन जंगल में रह कर तपस्या करने और पूज्य धृतराष्ट्र और गान्धारी की सेवा करने में ही विताऊँ। तुम्हें इसके लिए दुःखी न होना चाहिए। बेटा आज से कुरुवंश का सारा भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम कभी किस

बात से जरा भी न घबराना और सदा अपने कर्तव्य का ठीक तरह से पालन करते जाना। कभी द्रौपदी को किसी प्रकार का दुःख न देना या उसका अपमान न करना। भाइयों को सदा अपने ही समान समझना और उनकी रक्षा करना।

युधिष्ठिर ने जहाँ तक हो सका अपनी माता कुन्ती को बहुत अधिक समझाया पर वे उसको उसके दृढ निश्चय से किसी प्रकार हटा न सके। अन्त में युधिष्ठिर ने गद्गद स्वर से कहा "माता! जब तुम्हारे लिए अपने पुत्रों का राजवैभव भोगने और उन्हें राजधर्म की शिक्षा देने का समय आया तब तुम्हारा विचार इस प्रकार कैसे बदल गया। हम लोगों ने युद्ध में विजय प्राप्त कर के इतना बडा राजपाट प्राप्त किया है; अब हम लोग सुखी तथा गौरवान्वित हुए हैं ऐसे समय में तुम हम लोगों को त्याग कर के चली जा रही हो। यदि तुम्हें यही करना था तो फिर तुमने हम लोगों को युद्ध के लिए इतना अधिक उत्तेजित ही क्यों किया था"? इसके उत्तर में कुन्ती ने कहा बेटा तुम्हारे शत्रुओं के षडयन्त्र और दुर्व्यवहार से मुझे बहुत अधिक अपमान सहना पड़ता था, उसी अपमान जनित दुःख को दूर करने के लिए मैंने तुम्हें युद्ध के लिए उत्तेजित किया था। कौरवों की सभा में पांडवों की कुलवधू द्रौपदी का जो भारी अपमान हुआ था उसी अपमान का बदला चुकाने के लिए मैंने तुम्हें युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया था। मैंने तुम्हें इसीलिए युद्ध करने की प्रेरणा की थी कि जिसमें तुम महाराज पांडु के पुत्र होकर संसार में कंगाल बन कर न रहो, विनष्ट और निन्दनीय न गिने जाओ। इन्द्र के समान बलवान हो कर भी शत्रुओं के वश में होकर न रहो। वीरकुल में उत्पन्न

श्रेष्ठ पुरुष हो कर दुःख में जीवन न बिताओ। मैंने तुम लोगों को इस विचार से युद्ध के लिए प्रेरित नहीं किया था कि मैं स्वयं राजसुख भोगूं और भोग विलास करूं। केवल तुम्हारे भले के लिए ही मैंने उस समय तुम्हें वह उपदेश दिया था। अब मेरी वह इच्छा पूरी हो गई है। आज मैं तुम्हारे गौरव से सन्तुष्ट हो गई हूँ। अब मुझे इस संसार में और किसी बात की आकांक्षा नहीं रह गई है। अब मैं वनवासी शोकार्त्त महाराज धृतराष्ट्र और देवी गान्धारी की सेवा करके जंगल में तपश्चर्यापूर्वक अपना जीवन व्यतीत करूंगी। बस, यही मेरी वासना है। अब तुम मुझे इस काम से मत रोको। मैं तुम्हें आशीर्वाद देती हूं कि तुम परम सुखपूर्वक राज्यसुख का भोग करो। धर्म में तुम्हारी बुद्धि बढ़ती जाय और तुम्हारा मन उदार हो।

अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय पुत्रों के बहुत नम्रतापूर्वक प्रार्थना करने पर भी कुन्ती ने अपना संकल्प नहीं छोड़ा। वह शान्त चित्त से धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ वन को चली गई।

माद्री

यह मद्र देश के राजा की कन्या और महात्मा राजाधिराज भारताधिपति पांडु की पत्नी थी। यह बहुत अधिक रूपवती और परम सती थी। माहत्मा पांडु राजा की मृत्यु होने पर यह अपने दोनों पुत्रों को अपनी सौत कुन्ती के सुपुर्द करके अपने पति के साथ सती हो गई थी। महात्मा पांडु ने पृथ्वी का

विजय कर के बहुत कुछ धन और साम्राज्य प्राप्त किया था। परन्तु अन्त में राज्य के प्रति इन के मन में कोई अनुराग न रह गया था इसलिए ये अपनी धन सम्पत्ति भीष्म पितामह को सौंप-कर माद्री और कुन्ती के साथ वनवासी हुए थे और हिमालय के पास के प्रदेश में निवास किया करते थे। इस वनवास के समय में कुन्ती की अपेक्षा माद्री अपने पति की बहुत अधिक सेवा किया करती थीं और इसीलिए वह पति को बहुत अधिक प्रिय हो गई थी। ये दोनों सपत्नियां मुनिपत्नियों की भांति हिमालय के दक्षिण भाग में तपश्चर्या करती हुई अपना जीवन व्यतीत किया करती थीं। एक बार महाराज पांडु जंगल में शिकार करने के लिए गए थे। वहां उन्होंने एक ऐसे मृग को मार डाला था जो उस समय अपनी मृगी के साथ मैथुन कर रहा था। वह वास्तव में मृग नहीं था बल्कि कोई महा तपस्वी ऋषिपुत्र था और मृगका रूप धारण करके अपनी स्त्री के साथ इस प्रकार विहार करने में लीन था। बाण लगते ही वह जमीन पर गिर पड़ा और मनुष्य के स्वर में विलाप करते हुए उसने पांडुराज से कहा कि काम क्रोध से युक्त बुद्धिहीन और पापी मनुष्य भी कभी ऐसा घातकी काम नहीं करता। परन्तु दैव के आगे मनुष्य की बुद्धि नहीं चलती। दैव ही मनुष्य की बुद्धिको भ्रम में डालता है। हे भारत, तुमने धर्मात्माओं के वंश में जन्म ग्रहण किया है। भला तुम्हारे मनमें ऐसा अनुचित काम करने की इच्छा कैसे उत्पन्न हुई?

पांडु ने कहा, जब राजा लोग शिकार करने के लिए निकलते हैं तब वे इस बात का विचार नहीं करते कि जानवर किस अवस्था में है। मृग चाहे मस्त हो चाहे और किसी दशा में

हो उसका शिकार करना हमारा काम है। इसके लिए तुम्हें मुझ पर किसी प्रकार का कोप नहीं करना चाहिए। इस पर मृग रूप-धारी ब्राह्मण ने कहा—मैं इस बात के लिए तुम्हारी शिकायत नहीं करता कि तुमने मृग का शिकार किया है। परन्तु यदि तुम ऐसा अनुचित काम न करते और मेरे मैथुन करने के समय तक ठहर जाते तो बहुत अच्छा होता। राजेन्द्र, मैं प्रसन्नतापूर्वक इस हरिणी में सन्तान उत्पन्न कर रहा था। पर अब मेरा वह प्रयत्न व्यर्थ गया। इतना बड़ा घातकी काम अवश्य ही अधर्म का है और ऐसा काम करनेवाला स्वर्गलोक में तिरस्कार का पात्र होता है। हे महाज्ञानी तुमने शास्त्रदर्शी और धर्मज्ञ हो कर भी फल फूल खाने-वाले मुनि का बध किया इसलिए मैं तुम्हें शाप देता हूं कि जिस प्रकार तुमने स्त्री और पुरुष के साथ ऐसा घातकी व्यवहार किया है उसी प्रकार तुम्हारी भी उस समय मृत्यु होगी जिस समय तुम कामातुर होकर अपनी प्रिया के साथ संसर्ग करते होगे। तुम्हारे लिए इतना ही दंड बहुत है। तुम्हें ब्रह्म-हत्या का पाप नहीं लगेगा। हे महाराज, तुम जिस कान्ता के साथ संसर्ग करोगे वह सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग, लोक में तुम्हारे साथ जायगी। जिस प्रकार तुमने मुझे सुख के समय दुःख पहुँचाया है उसी प्रकार तुम्हें भी सुख का अनुभव करते समय ही दुःखी होना पड़ेगा। इतना कहकर महामुनि किनिंग ने प्राण त्याग दिए।

इस पर राजा पांडु ने बहुत अधिक शोक और विलाप किया और वे संसार से विरक्त हो गए। अब वे मुनियों की भांति आत्म-संयम पूर्वक तपस्या में प्रवृत हुए। उसी समय उन्होंने अपनी स्त्रियों से हस्ति-नापुर जाने के लिए आग्रह किया पर स्त्रियों ने नहीं माना और उन्होंने

भी अपने स्वामी के साथ वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण किया। उन्होंने अपने स्वामी को धैर्य दिलाते हुए कहा हे भरतर्षभ आपको ऐसा करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह ऐसा आश्रम है कि जिस का अवलम्बन कर के आप हम लोगों को अपने साथ रख कर भी तपस्या कर सकते हैं और शरीर का दमन करते हुए अन्तमें स्वर्ग लोक के स्वामी बन सकते हैं। हम दोनों भी स्वामीपरायण हो कर इन्द्रयों का दमन कर के और कामनाओं तथा सुख का त्याग कर के यथेष्ट तपस्या करेंगी। हे महाज्ञानी आप यदि हम लोगों का त्याग करेंगे तो हम यों ही मर जायँगी। इस पर महाराज पांडु ने कहा अच्छा आज से हम केवल कन्द मूल खाया करेंगे और कठिन तपस्या किया करेंगे। इतना कह कर उन्हों ने अपने राजसी वस्त्र उतार कर रख दिए और नौकरों चाकरों को विदा कर दिया। उस समय माद्री और कुन्ती ने भी अपने अपने गले से हीरे के हार तथा जड़ाऊ गहने और बहुमूल्य वस्त्र आदि उतार कर गरीबों को दान कर दिए। पांडुराज केवल फलहार करके रहने लगे और अपनी पत्नियों के साथ हिमालय के उस पार गन्धमादन वन में जा पहुँचे। इसके उपरान्त वे वहांसे और भी आगे बढ़े और इन्द्रद्युम्न सरोवर तथा हंसकूट को पार करके शतश्रृंग नामक पर्वत में घोर तपस्या करने लगे।

वीर्यवान पांडुराज परमोत्तम तपस्या में निमग्न होकर गुरुजनों की सेवा करने लगे और इन्द्रियों का संयम करते हुए अहंकार से शून्य और जितेन्द्रिय होकर स्वर्ग में जाने के लिए पुण्यरूपी सामग्री संचित करने लगे। वन के ऋषि भी उनको अपने भाई के समान समझने और उनके साथ प्रेम करने लगे। ये ऋषि ब्रह्म

लोक को जा रहे थे। महाराज पाँडु ने भी उनके साथ जाने की इच्छा प्रकट की। परन्तु ऋषियों ने कहा तुममें पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति है। इसलिए तुम पुत्र उत्पन्न करो। हे नर-व्याघ्र! तुम कार्य द्वारा देवताओं का उद्देश्य सिद्ध करो। इससे तुम्हारे यहाँ अवश्य सर्वगुण सम्पन्न पुत्र उत्पन्न होंगे। तुम्हारी तपस्या का फल अब पक चला है।

तपस्वियों का यह परामर्श मानकर राजा ने उनके साथ जाने का विचार छोड़ दिया पर जब उन्हें यह याद आया कि ऋषि के शाप के कारण मैं स्वयं पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ हूँ तब उन्हें बहुत दुःख हुआ। अन्त में उन्होंने बहुत कुछ सोच विचार करने के उपरान्त नियोग प्रथा की शरण ली और कुन्ती के गर्भ से धर्म के द्वारा युधिष्ठिर, पवन के द्वारा भीमसेन और इन्द्र के द्वारा अर्जुन नामक तीन पुत्र उत्पन्न कराए।

महाराज पांडु का माद्री पर बहुत अधिक प्रेम था। पर माद्री-को कोई सन्तान नहीं हुई थी इसलिए वह मन में बहुत दुःखी और चिन्तित होने लगी। एक दिन उसने अपने मन की यह बात अपने पति के सामने इस प्रकार कही "प्राणनाथ, आपके लिए हम दोनों ही बराबर हैं। परन्तु कुन्ती के पुत्र हुए और मुझे कोई सन्तान नहीं हुई इससे मुझे बहुत अधिक दुःख हो रहा है। यदि कुन्ती मुझे सन्तान उत्पन्न करने की युक्ति बतला दे तो मैं उसका बहुत अधिक उपकार मानूंगी। कु न्ती मेरी सौत है इसलिए उस से किसी बातकी प्रार्थना करने में मुझे संकोच होता है। अब आप कृपाकर मेरी ओर से उससे यह बात कहिए।

महाराज पाँडु को माद्री की यह इच्छा बहुत ही उचित और

समीचीन जान पड़ी और उन्होंने कुन्ती को समझा दिया कि तुम मांद्री को सन्तान उत्पन्न करने की विद्या सिखला दो और इस प्रकार उसे वन्ध्यापन की चिन्ता से मुक्त करो। उदारमना कुन्ती ने देवताओं को बुलाने का मन्त्र माद्री को सिखला दिया और माद्री ने उस मन्त्र के द्वारा अश्विनीकुमारों का आवाहन करके नकुल और सहदेव नाम के दो पुत्रों को जन्म दिया। उस समय आकाश-वाणी हुई कि ये दोनों सत्वगुणी बालक अश्विनीकुमारों से भी बढ़चढ़ कर होंगे।

इसके उपरान्त पांडुराज पर्वत पर महानन्द वन में समय बिताने लगे। इसी बीच में संसार को मुग्ध करनेवाली वसन्त ऋतु आई और अनेक प्रकार के सुगन्धित पुष्पों से भरे हुए वृक्षों के जंगल में पाँडुराज अपनी स्त्री के साथ घूमने लगे। चारों ओर पलास आम चंपा पारिजात कनेर केसर अशोक आदि वृक्ष और अनेक प्रकार के फलों तथा फूलों के वृक्ष लगे हुए थे जिनके कारण सारे वन में खुशबू फैल रही थी। और उन फूलों का रस चूसने के लिए भौंरे चारों ओर गूंज रहे थे। जलाशयों में कमलों की शोभा का कहीं अन्त न था। हृदय में उन्माद उत्पन्न करनेवाले ऐसे वन को देखते ही महाराज पांडु के हृदय में काम का संचार हुआ। दैवयोग से माद्री भी सफेद साड़ी पहने हुए प्रफुल्ल अन्तःकरण से राजा के पीछे पीछे जा रही थी। माद्री को महीन वस्त्र पहने हुए और यौवन में मस्त देखकर राजा के मन में कामाग्नि एक बारगी जोरों के साथ जल उठी। उस निर्जन स्थान में अपनी कमलनयनी पत्नी को देखते ही वे काम के वशीभूत हो गए और अपने मन को बहुत कुछ समझाने पर

भी काम के आवेश को रोक न सके। उन्होंने माद्री को जोर से पकड़ लिया। माद्री ने जहाँ तक हो सका राजा को बहुत कुछ समझाया और राजा को उस काम से रोकने के लिए बहुत अधिक प्रयत्न किया। पर राजा उस समय इतने अधिक कामान्ध हो गए थे कि जब उन्हें मुनि के दिए हुए शाप के भय का स्मरण दिलाया गया तब भी उन्होंने उसकी कोई परवाह नहीं की। काम के वशीभूत होकर पाँडु ने शाप का भय मन से बिलकुल निकाल दिया और वे बलपूर्वक माद्री के साथ मैथुन करने लगे। बस उसी अवस्था में ऋषि के शाप के अनुसार उनकी मृत्यु हो गई। राजा के मृत शरीर को छाती से लगाकर माद्री जोर से रोने और चिल्लाने लगी। उसी समय कुन्ती अपने पुत्रों के साथ उस ओर से कहीं जा रही थी। माद्री ने उससे कहा, पुत्रों को छोड़कर जरा यहाँ आओ। राजा की यह दशा देखकर कुन्ती रोती हुई कहने लगी, माद्री मैं इन जितेन्द्रिय वीर को सदा काम चेष्टा से बचाया करती थी। ऋषि के शाप का स्मरण होते हुए भी इन्होंने तुम पर किस प्रकार आक्रमण किया। हे माद्री! तुम्हारा कर्तव्य था कि तुम राजा को इस काम से रोकती। भला, तुम ऐसी वसन्त ऋतु में एकान्त में इनके पास क्यों गई? तुमने किसलिए इनको ऐसे काम के लिए प्रलोभन दिया। तुम मेरी अपेक्षा बहुत अधिक भाग्यशालिनी हो जो तुम कामासक्त पति का प्रफुल्ल वदन देख सकीं। माद्री ने कहा, देवी मैं तो इन्हें बारबार रोकती थी। परन्तु दुर्दैव के आगे किसी की कुछ नहीं चलती। राजा को मैंने बहुत समझाया परन्तु ये अपने काम को निवारण न कर सके। इसके उपरान्त कुन्ती ने कहा मैं बड़ी धर्मपत्नी हूँ इसलिए बड़ा

फल भी मुझ को ही मिलना चाहिए। मैं पतिदेव के साथ चिता में जल मरूँगी। तुम यहीं रहकर इन बालकों की रक्षा करना। माद्री ने कहा मैंने पतिदेव को पकड़ रखा है। मैं इसी प्रकार इनके साथ चली जाऊँगी। क्योंकि मेरी कामना अभी तक तृप्त नहीं हुई है। तुम बड़ी हो इसलिए तुम मुझे इस काम के लिए आज्ञा दो। ये भरतकुल के दीपक राजा मेरे साथ विलास करते करते काम से भ्रष्ट हुए हैं। इसलिए मैं ही इनके साथ यम-राज के यहाँ जाकर इन्हें तृप्त करूँगी। यदि मैं जीती भी रही तो मैं देखती हूँ कि मैं पुत्रों का तुम से अच्छी तरह लालन पालन न कर सकूँगी और इसलिए मैं फिर पाप की भागिनी होऊँगी। इसलिए हे कुन्ती तुम्हीं मेरे दोनों पुत्रों का भी अपने ही पुत्रों की भाँति लालन पालन करना। ये राजा मुझपर ही मोहित होकर मृत्यु को प्राप्त हुए हैं इसलिए मैं ही इस शरीर के साथ अपना शरीर भी अग्नि में जला दूँगी। मेरी यह अभिलाषा तुम पूरी होने देना और मुझे इस काम से मत रोकना। इतना कहकर पाँडु राजा की धर्मपत्नी माद्री अपने पति के साथ चिता में सती हो गई और अक्षय कीर्त्ति की अधिकारिणी हुई। मुनि लोग कुन्ती तथा उस के पुत्रों को हस्तिनापुर जाकर छोड़ आए।

गान्धारी

कौरव जननी गान्धारी बहुत ही धर्मशीला और तेजस्वी स्त्री थी। पुत्र-स्नेह की दृष्टि से माता स्वभावतः ही दुर्बल हुआ करती है। चाहे पुत्र में हजार दोष हो, पर फिर भी

माता उसका पक्षपात अवश्य करती है। परन्तु ज्ञानवती और उन्नत-चरिता गान्धारी ने कभी अपने पापिष्ठ पुत्र के पक्ष का समर्थन नहीं किया। बल्कि उलटे उसने अनेक बार उनके पापाचरणों का खुल्लमखुल्ला तीव्र विरोध किया। धृतराष्ट्र पुरुष होकर भी कभी कभी पुत्र-स्नेह के कारण दुर्बलता प्रकट किया करते थे परन्तु गान्धारी के चरित्र में इस प्रकार की दुर्बलता कभी देखने में न आई। गान्धारी के जीवन के अनेक चरित्र इस आख्यान में चित्रित किए जायँगे। इन चरित्रों से पाठिकाओं को इस तेजस्विनी प्राचीन आर्य नारी के असामान्य मानसिक बल का परिचय मिलेगा।

बहुत से लोग यह मानते हैं कि भारतवर्ष के पश्चिम में आजकल कन्धार नाम का जो प्रदेश है वही प्राचीन काल में गान्धार कहलाता था। गान्धारी इसी गान्धार देश के राजा सुबल की कन्या थी। जिस समय जन्मान्ध धृतराष्ट्र के साथ उसका विवाह हुआ था उस समय इसने अपनी आँखों पर पट्टी बाँध कर देवताओं की आराधना करते हुए इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि मैं कभी अपने पति को अन्धा समझ कर उन पर अपनी भक्ति कम न होने दूँगी। गान्धारी जब कुरुराज के घर गई उसके बाद के गान्धारी के चरित्र और व्यवहार के सम्बन्ध में महाभारत में लिखा है कि इसके सदाचार और सुशीलता से कौरववंश के सभी लोग बहुत अधिक सन्तुष्ट हुए थे। यह बड़ों की सदा सेवा किया करती थी और सब के साथ स्नेहपूर्वक मीठी बातें किया करती थी। इसने कभी किसी की कोई निन्दा नहीं की।

गान्धारी का भाई शकुनि बड़ा पापी और नीच बुद्धि का

क्रूर मनुष्य था। दुर्योधन आदि को उनके पाप कार्यों में सम्मति और सहायता देनेवाला शकुनी था। कौरवों की सभा में जूआ खेल कर पांडवों का सत्यानाश करनेवाला भी शकुनी ही था। यह पासा फेंकने में बहुत निपुण था और इसीके बतलाए हुए कपटपूर्ण दाव के कारण ही राजा युधिष्ठिर को हराने में दुर्योधन समर्थ हुआ था। धर्मात्मा युधिष्ठिर अन्त में द्रौपदी तक को हार गए। दुर्योधन की आज्ञा से दुःशासन जाकर द्रौपदी को उसकी चोटी पकड़ कर राजसभा में खींच लाया था। वहाँ दुर्योधन और उसके संगीसाथी तरह तरह हँसी मजाक करके द्रौपदी का अपमान करने लगे। भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र आदि वृद्ध पुरुष उस सभा में उपस्थित थे। धर्मपरायण और तेजस्वी होने पर भी युधिष्ठिर जूए में द्रौपदी को हार गए थे इसलिए द्रौपदी उस समय दुर्योधन के अधिकार में थी। केवल इसी विचार से वे सब लोग चुप थे। दुर्बल धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र के भय से उसे रोकने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अन्तःपुर में गान्धारी ने यह समाचार सुना कि मेरे पापी पुत्र राजसभा में कौरव कुल की बहू का अपमान करके उस कुल का घोर अमंगल कर रहे हैं। उस समय गान्धारी से चुपचाप बैठा नहीं रहा गया। वह तुरन्त सभा में आ पहुँची और द्रौपदी का अपमान रोकने के लिए धृतराष्ट्र से आग्रह करने लगी। इस पर धृतराष्ट्र ने उस समय द्रौपदी को धैर्य दिलाया और पांडवों को दासत्व से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन जब पाँडवों को मनमाना कष्ट न दे सका तब वह मन ही मन बहुत खिझलाया। कुछ दिन बीत गए। शकुनी की

सम्मति से उसने फिर से धृतराष्ट्र से इस बात का आग्रह किया कि युधिष्ठिर को फिर से जुआ खेलने के लिए बुलाया जाय। पुत्रों के आग्रह के कारण धृतराष्ट्र ने फिर युधिष्ठिर को निमन्त्रण भेजा। दुर्योधन यह चाहता था कि इस बार जूए में पाँडवों का सर्वस्व जीत लिया जाय और उन्हें एक लम्बी अवधि के लिए देशनिकाला दिया जाय। गान्धारी ने देखा कि एक बार तो किसी तरह झगड़ा शान्त हो गया पर मेरे पापी पुत्र अब फिर से नया झगड़ा खड़ा करना चाहते हैं। उसने अपने पति धृतराष्ट्र से कहा, महाराज आप इस समय यह क्या सत्यानाश करने पर उतारू हुए हैं? अपने दुर्बुद्धि और पापी पुत्रों की बात मानकर आपने कुल का नाश करने वाले प्रपंच का क्योंकर अनुमोदन कर दिया। जो आग एकबार बुझ चुकी है उसे आप फिरसे क्यों सुलगा रहे हैं। पाँडव बहुत ही धर्मशील और शान्त स्वभाव के हैं। वे लोग जल्दी किसी के साथ कोई झगड़ा बखेड़ा नहीं करते। तो फिर क्यों व्यर्थ उनके साथ शत्रुता खड़ी करके उन्हें क्रोध दिलाते हैं। दुर्योधन आपका पुत्र है। उसे आपकी आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। आप क्यों उलटे उसके वश होकर उसके पापपूर्ण विचारों का समर्थन करने लग जाते हैं। पुत्र-स्नेह के वश होकर आप अपना ज्ञान और अपनी धर्मबुद्धि न खो दिया करें। आप पहले स्थिर चित्त से सब बातों का भलीभाँति विचार कर लें और तब अपने पापी पुत्रों की पापपूर्ण अभिलाषा का विरोध करें। हा! जिस समय इस पापी पुत्र दुर्योधन का जन्म हुआ था उसी समय चारों ओर अशकुन होने लगे थे जिन्हें देखकर धर्मात्मा विदुरजी ने कहा था कि यह पुत्र कुलाँगार होगा। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया था कि अभी इसे मार

डालो नहीं तो तुम्हारा कल्याण नहीं है। महाराज आपने उस समय पुत्र-स्नेह के वश होकर भाई विदुरजी का कहना नहीं माना इसीलिए इस दुर्योधन के पाप के कारण कुल के सत्यानाश के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। महाराज मैं तो अब भी यही कहती हूँ कि यदि आप कुरुवंश का कल्याण चाहते हों तो आप कुलाँगार दुर्योधन का इसी समय त्याग कर दीजिए। नहीं तो इसके पाप से जो आग सुलग रही है वह किसी न किसी दिन कुरु वंश को भस्मीभूत करके ही छोड़ेगी। कुरुकुल की लक्ष्मी सदा के लिए उसका परित्याग करके चली जायगी।

धर्म के लिए, कुल की रक्षा के लिए, स्वामी को पापी पुत्र का परित्याग करने की सलाह देनेवाली महान् माताएं पृथ्वी में कितनी हैं? लाड़ प्यार करके अपने पुत्रों के दोषों को छिपानेवाली आज कलकी माताएं क्या इस उदाहरण से कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगी? खैर, तेजस्वी गान्धारी का तेजःपूर्ण उपदेश व्यर्थ गया। उससे धृतराष्ट्र की मोहान्धता और दुर्बलता दूर नहीं हुई। उन्होंने धीरे से कहा, मुझ से पुत्रों की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं किया जाता। यदि इससे कुल का नाश होता हो तो हुआ करे। मेरे पास इसका कोई उपाय नहीं है।

युधिष्ठिर के पास जूआ खेलने के लिए फिर से निमन्त्रण भेजा गया। उस समय शर्त यह बदी गई थी कि जो पक्ष हारे वह अपनी स्त्री के साथ बारह वर्षों का बनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार करे। उस समय युधिष्ठिर के हारजाने के कारण पांडवों को द्रौपदी के साथ तेरह वर्षों तक वन में रहना पड़ा था। जब ये तेरह वर्ष बीत गए तब युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण के द्वारा

दुर्योधन से सन्धि करने के लिये यह कहलाया कि अब मुझे पूर्व निश्चय के अनुसार राज्य का आधा भाग दे दो। श्रीकृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि अमात्यों तथा सभा में बैठे हुए बड़े बड़े राजाओं ने युधिष्ठिर का सन्धि सम्वन्धी यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लेने के लिए दुर्योधन को वहुत समझाया वुझाया। परन्तु दुर्योधन तो यह प्रतिज्ञा कर चुका था कि मैं विना युद्ध किए युधिष्ठिर को सूई की नोक के वरावर जमीन भी न दूंगा। इसलिये उसने किसी की बात नहीं मानी और वह क्रोधपूर्वक सभा में से उठकर चला गया।

उसी समय धृतराष्ट्र ने विवश होकर गान्धारी को सभा में बुलाने के लिए आग्रह किया। जब गान्धारी सभा में आई तब उसने सब बातें सुनकर धृतराष्ट्र से कहा, महाराज आज आप के ही दोष के कारण यह आपत्ति खड़ी हुई है। इसके लिए आप ही पूर्ण रूप से उत्तरदायी हैं और इसमें आपका ही सारा दोष है। आप जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट और पापी है। पर फिर भी आप सदा उसी के कहने के अनुसार चला करते थे। अव आज आप में इतनी शक्ति नहीं रह गई है कि आप उसके विचारों को पलट सकें। जो व्यक्ति धर्मद्वेषी, असभ्य और दुष्ट स्वभाववाला होता है वह कभी राज्य करने के योग्य नहीं होता। आपने अपने दुष्ट पुत्र के हाथ में राज्य सौंपा, उसका उचित वदला आप को मिल चुका। पाँडव भी आपके अपने और सगे ही हैं। आज आप उनके साथ घोर संग्राम करने के लिए किस प्रकार तैयार होंगे। इससे आपके शत्रु लोग हंसेंगे और जगत में आपकी अपकीर्त्ति होगी। चाहे जैसे हो आप इसी समय दुर्योधन को सभा में

बुलवाइये और मैंने जो कुछ कहा है वह सब उसे बतला दीजिए।

माता की आज्ञा से दुर्योधन फिर सभा में आया। माता ने उसे सम्बोधन करके शिक्षा के रूप में कहा, पुत्र! तुम क्यों भीष्म द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि गुरुओं और बड़ों का उचित उपदेश नहीं मानते? पांडव भी तुम्हारे भाई ही हैं। तुम क्यों उनके हिस्से का राज्य उन्हें नहीं देते? यदि तुम और पांडव दोनों अपने अपने हिस्से का राज्य बचालोगे तो संसार के दूसरे शत्रुओं का नाश करके सुखपूर्वक और निष्कटंक राज्य करोगे। पर यदि तुम लोग आपस में ही लड़ मरोगे तो कुल का नाश होगा, शक्ति का नाश होगा, राज्य का नाश होगा और तुम लोगों को अन्त में बहुत पछताना पड़ेगा। तुम सब एकही और सगे हो। क्या तुम लोग आपस में ही लड़ भिड़कर एक दूसरे का नाश कर डालोगे और इस प्रकार बाहरी शत्रुओं के आनन्द की वृद्धि करोगे? आधे राज्य पर तुम्हारा अधिकार है। तुम अपनी बुद्धि ठिकाने लाओ और बड़ों के उपदेश के अनुसार काम करो। तुम आधा राज्य पाँडवों को लौटा दो और बाकी आधा राज्य लेकर सुख से सब भाई उसका भोग करो। बहुत अधिक लाभ पापों का मूल हुआ करता है। काम क्रोध लोभ मोह मद और मत्सर के वश होकर तुमने पाँडवों को बहुत अधिक दुःख दिया है, तुमने उनकी बहुत अधिक हानि की है। आज भी तुम इन्हीं षड् रिपुओं के वश होकर शुभचिन्तकों की सम्मति की अवहेलना करना चाहते हो। अपनी इन्द्रियों का दमन करो। बुद्धि स्थिर करो। इन्द्रियों के वश होकर मनुष्य कभी राज्य का संचालन नहीं कर

सकता। आज तक संसार में कभी ऐसा कोई मनुष्य विजयी नहीं हुआ। तुम में कभी इतना बल नहीं है कि तुम पाँडवों पर विजय प्राप्त करके सारा राज्य अपने अधिकार में कर सको। मोह के वश होकर तुम यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण कृपाचार्य आदि योद्धा लोग तुम्हारी सहायता करने के लिए प्राण रहते तक तुम्हारी ओर से युद्ध करेंगे। पर यह बात कभी होने को नहीं। इस राज्य पर तुम्हारा और पाँडवों का समान रूप से अधिकार है। इन शुभचिन्तकों का तुम पर और पाँडवों पर समान रूप से स्नेह है। तब तुम किस बिरते पर यह आशा रखते हो कि ये लोग पाँडवों के विरुद्ध होकर तुम्हारी सहायता करेंगे। तुम राजा हो। तुम्हारे अन्न से इन लोगों का पोषण होता है। इसलिए ये लोग तुम्हारी सहायता करने के लिए कर्तव्य की दृष्टि से बँधे हुए हैं। परन्तु फिर भी धर्मात्मा युधिष्ठिर पर हाथ उठाने की अपेक्षा ये लोग मर जाना कहीं ज्यादा पसन्द करेंगे। पुत्र, तुम मोह को त्याग दो। लोभ और ममत्व के वश होकर पाँडवों का अमंगल करने का विचार मत करो। लड़ाई झगड़ा करने का विचार छोड़ दो और पाँडवों को उनके हिस्से का राज्य दे दो। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो कुरुकुल का सत्यानाश हो जावेगा।

परन्तु दुष्टमति दुर्योधन ने अपनी माता के इस उपदेश पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। ऐसे सुन्दर उपदेश से भी उसकी बुद्धि ठिकाने नहीं आई। भीष्म द्रोण तथा सभा में बैठे हुए दूसरे बड़े बड़े राजाओं ने भी दुर्योधन को बहुतेरा समझाया पर वह किसी तरह मानता ही न था। अन्त में, गान्धारी को बहुत अधिक क्रोध हो आया और उसने तीव्र शब्दों में दुर्योधन का तिरस्कार

करते हुए कहा, दुर्योधन आज मैं इस भरी सभा में सबके सामने कहे देती हूँ कि तू बड़ा ही दुष्ट और नीच है। कुरुवंश के राजा लोग बहुत दिनों से यह राज्य भोगते चले आ रहे हैं। पर आज तू इस राज्य को रसातल में पहुँचाने के लिए उतारू हुआ है। धर्मात्मा शान्तनुपुत्र भीष्म के जीवित रहते, तेरे पिता धृतराष्ट्र और चाचा विदुर के जीवित रहते, इन लोगों की इच्छा से ही तुझे यह राज्य मिला है। इसीलिए आज तू राजा बना हुआ है। आज तू क्या मुँह लेकर इन लोगों की आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है। तू इस राज्य का होता कौन है, इस राज्य पर तेरा क्या अधिकार है? धर्मात्मा पाँडु इस राज्य के राजा थे और उनके पुत्र युधिष्ठिर तथा उनके वंशज इस राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। इस पर किसी दूसरे का और कोई अधिकार नहीं है। मैं सब लोगों से प्रार्थना करती हूँ कि आप सब लोग मिलकर इस पापात्मा दुर्योधन का तिरस्कार करें। कुरुकुलभूषण भीष्मपितामह की आज्ञा के अनुसार आप सब लोग काम करें। मैंने अपना अभिप्राय आप लोगों पर प्रकट कर दिया है। मेरी सम्मति यही है कि धर्मात्मा युधिष्ठिर ही राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। भीष्म और धृतराष्ट्र के अनुमोदन से उन्हीं को इस राज्य का संचालन करना चाहिए।

परन्तु फिर भी दुर्योधन टस से मस न हुआ। उसने किसी का कहना नहीं माना। उसे राजा समझ कर धर्मभीरु भीष्म द्रोण या और कोई उसकी आज्ञा की अवज्ञा न कर सके। कौरव और पाँडव कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए तैयार हो गए।

अठारह दिनों तक कुरुक्षेत्र में भीषण युद्ध होता रहा। हजारों वीर घायल हुए और मारे गए। नित्य युद्ध आरम्भ होने

से पहले दुर्योधन अपनी माता से आशीर्वाद लेने के लिए जाया करता था। परन्तु धर्मशीला गान्धारी रोज दुर्योधन को यही उत्तर दिया करती थी कि जहाँ धर्म है, वहीं विजय होती है। अधर्म की कभी विजय नहीं होती।

धीरे धीरे बहुत से कौरव अपने भाइयों और बन्धु बान्धवों के सहित युद्ध में मारे गए।

पुत्र चाहे हजार अपराध करे पर फिर भी माता का हृदय बिलकुल स्नेहशून्य नहीं हो सकता। परन्तु गान्धारी ने कभी अपने पुत्रों का पक्ष नहीं लिया। वह सदा अपने पुत्रों को पाप मार्ग से बचने के लिए फटकारा करती थी। कुरुसभा में उसने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया था कि दुर्योधन को राज्य करने का कोई अधिकार नहीं है। युधिष्ठिर ही राज्य के वास्तविक अधिकारी हैं। उन्हीं को राजकार्य का संचालन करना चाहिए। अधर्म के मार्ग में चलनेवाले अपने पुत्रों को उसने घोर संग्राम में जाने के समय भी आशीर्वाद तक नहीं दिया।

परन्तु गान्धारी अपने सौ पुत्रों की मृत्यु के शोक के कारण, अपनी एक मात्र कन्या के वैधव्य के कारण, पुत्र शोकातुर दुर्बल और वृद्ध धृतराष्ट्र के करुण रुदन के कारण, युद्धक्षेत्र में अपने अपने मृत पति केशव के पास बैठकर रोती हुई पुत्रबधुओं के दारुण शोक का हृदयभेदी दृश्य देखकर असाधारण मानसिक बल होने पर भी धैर्य धारण न कर सकी। वह अपने आपको भूल गई और पांडवों को श्राप देने के लिए तैयार हुई।

इतने में श्रीकृष्ण भी पांडवों को दिलासा देकर और अपने साथ लेकर क्रोध के आवेश में भरी हुई शोकातुर गान्धारी को

सान्त्वना देने और उसका क्रोध शान्त करने के लिए उसके पास आ पहुँचे।

उस समय महर्षि व्यास भगवान् भी इसी उद्देश्य से गान्धारी के पास पहुँचे। गान्धारी को सम्बोधन करके व्यासजी ने कहा देवी! तुम सदा सुशील और क्षमाशील रही हो। फिर तुम आज किसलिए क्रोध कर रही हो। युद्ध के समय, दुर्योधन तुम्हारे पास आशीर्वाद लेने के लिए रोज जाया करता था। उस समय तुम उससे कहा करती थी कि जहाँ धर्म है वहीं विजय है। तुम्हारी जैसी साध्वी स्त्री का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। इसी लिए कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में धर्म की ही जीत हुई। अधर्म का पराजय हुआ है। बस इसी बात का ध्यान करके तुम अपना क्रोध शान्त करो। तुम पांडवों को क्षमा करो।

महर्षि व्यास की बात सुनकर महानुभावा गान्धारी ने उत्तर दिया, आर्य मैं पांडवों के साथ किसी प्रकार का द्वेष नहीं करती। मेरा यह कभी अभिप्राय नहीं है कि इन लोगों का नाश हो। कुन्ती जिस प्रकार पांडवों की हितैषिणी है उसी प्रकार मुझे भी उनकी हितैषिणी होना चाहिए। इसके सिवा मैं यह बात भी बहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि केवल मेरे पुत्रों के दोष के ही कारण कुरुकुल का नाश हुआ है। ये लोग अपने पाप के कारण ही नष्ट हुए हैं। इसमें पांडवों का कोई अपराध नहीं है। परन्तु देव, दारुण पुत्र शोक से मेरा हृदय भरा आता है इसीलिए कभी कभी मैं अपने आपेसे बाहर हो जाती हूँ। उस समय मेरे दुर्बल चित्त को किसी प्रकार का बोध नहीं होता। जबसे मैंने यह सुना है कि भीम ने दुःशासन की छाती फाड़कर उसका रुधिर पान किया है

तब से मुझे बहुत अधिक दुःख हुआ है। नाभि के नीचे के भाग में गदा का प्रहार करना युद्ध-नीति के विरुद्ध है। श्रीकृष्ण के सामने रहते हुए भीम ने युद्ध-नीति का उल्लंघन करके दुर्योधन की जांघ में गदा का प्रहार किया और इस प्रकार उसके प्राण लिए। गदा-युद्ध में भीम की अपेक्षा दुर्योधन बहुत अधिक निपुण था। यदि इस प्रकार नीति-विरुद्ध कार्य न होता तो दुर्योधन सहज में नहीं मारा जाता। जब से मैंने यह सुना है कि भीम के इस नीति-विरुद्ध कार्य से मेरे पुत्र की मृत्यु हुई है तब से मेरे हृदय में क्रोधाग्नि सुलग रही है।

उस समय भीम ने विनयपूर्वक गान्धारी को समझाया कि केवल अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिये ही मैंने दुःशासन का रुधिर पान किया था और दुर्योधन का उरु भंग किया था। इस पर गान्धारी ने कहा, दुर्योधन और दुःशासन ने तुम्हारा अपराध किया था इसके लिए तुमने उनको जो दंड दिया वह उचित ही किया। इसके लिए मैं तुम्हें दोषी नहीं ठहराती। परन्तु यदि तुम मेरे सौ पुत्रों में से सबसे कम अपराध करनेवाले एक पुत्र को भी जीवित रहने देते तो वृद्ध अन्धराज धृतराष्ट्र और मुझ अभागी को इस वृद्धावस्था में कुछ तो धीरज होता। परन्तु जो कुछ होने को था वह तो हो ही गया। अब तुम्हीं लोग मेरे पुत्रों की जगह हो।

पांडवों ने बहुत तरह से गान्धारी को धैर्य दिला कर संतुष्ट किया। इससे गान्धारी का क्रोध शान्त हो गया और उसने माता की भाँति पांडवों को आशीर्वाद दिया। इस भीषण युद्ध में दोनों ही पक्षों को बहुत अधिक शोक सहन करना पड़ा था। पांडवों, द्रौपदी और सुभद्रा सभी को दारुण पुत्रशोक हुआ था। जब

गान्धारी का शोक कम हो गया तब वह पांडवों की स्त्रियों को सान्त्वना देने के लिए उनके घर गई। द्रौपदी सुभद्रा आदि शोक विह्वल पांडव वधुओं को सम्बोधन करके देवी गान्धारी ने स्नेह-पूर्वक कहा, हम सभी लोग एक समान पुत्र शोक से व्याकुल हैं। अब हम लोगों को एक दूसरे की ओर देखकर धैर्य धारण करना चाहिए। अब तो यही मानना चाहिए कि विधाता के अलंघनीय नियम से काल ही इन सबको खा गया है। हम लोगों के पुत्र तो युद्ध में घायल होकर उत्तम गति को प्राप्त हुए हैं। इससे अब हम लोगों को शान्त होकर मन में संयम रखना चाहिए। हम सभी समान रूप से शोकार्त्त हैं। हम लोगों को शान्ति देने के लिए इस विचार से बढ़कर और कौनसा दूसरा विचार हो सकता है। परन्तु मेरा दुःख तो सहन करने के योग्य ही है। कर्म दुर-दोष से मेरे गर्भ में से कपूतों ने ही जन्म लिया इसीसे आज कुरु कुल का नाश हुआ।

पांडवों की बहुओं को सान्त्वना देकर श्रीकृष्ण के साथ गान्धारी कुरुक्षेत्र की रणभूमि में गई। पुत्रों और पौत्रों, कौरवों और पांडवों के पक्षवालों, असंख्य वीरों के रुधिर से सने हुए शव समरक्षेत्र में पड़े हुए थे। रक्त और मांस के लालच से सियार कौवे और गिद्ध चारों ओर जमा हो गए थे और शवों पर बैठे हुए मांस खा रहे थे। कुरुवंश की बहुएँ, भारत के विविध देशों के राजाओं की राजमाताएँ और महारानियाँ, वीर जननियाँ और वीर पत्नियाँ अपने अपने पति, पुत्र के मृत शरीर को आलिंगन करके दारुण विलाप कर रही थीं। गान्धारी ने वहाँ यही हृदयविदारक दृश्य देखा था।

एक एक करके सभी शोकावह चित्र दिखलाती हुई गान्धारी श्रीकृष्ण से कहने लगी, हे कृष्ण! देखो ! हमारी बहुएँ बाल बिखरे हुए और विच्छिन्न वेश में समरभूमि में मृत पति के शव के पास बैठी हुई रो रही हैं। कोई पागलों की तरह इधर उधर घूम रही हैं। हे कृष्ण ! देखो, भारत की पुत्रहीन वीर जननियों और पति-हीन वीर पत्नियों से सारा समरक्षेत्र भरा पड़ा है। देखो, पुरुष व्याघ्र द्रोण, कर्ण, अभिमन्यु, द्रुपद, शल्य, दुर्योधन, दुःशासन, भूरि श्रवा आदि असंख्य वीरों के छिन्न भिन्न मृत शरीर रुधिर में भरकर कितने विकराल हो गए हैं। यह देखो, कभी तो भानुमती अपने पुत्र लक्ष्मण का माथा सूंघती है और कभी दुर्योधन का शरीर पोंछती है। यह देखो, पद्मावती कभी तो वीर पति कर्ण का और कभी अपने पुत्र का शरीर गले से लगाकर उन्मत्त होकर आर्त्तनाद कर रही है। यह देखो, द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी अपने वृद्ध वीर पति की अन्त्येष्टि क्रिया की रोती हुई तैयारी कर रही है। यह देखो दुःशला जयद्रथ का कटा हुआ सिर ढूंढ़ने के लिए पागलों की तरह इधर उधर घूम रही है।

यह देखो मेरी छोटी बहू गीदड़ों और गिद्धों को भगा कर यत्नपूर्वक बालक पुत्र विकर्ण के मृत शरीर की रक्षा कर रही है।

इतना कहते कहते गान्धारी का गला भर गया। थोड़ी देर बाद अपने आप को संभाल कर उसने कहा, कृष्ण जिस दिन दुःशासन दुर्योधन और कर्ण ने भरी सभा में द्रौपदी का अपमान किया था उस दिन मेरे पुत्रों ने सब लोगों के आग्रह की उपेक्षा कर के पांडवों को उनका हिस्सा देना नामंजूर किया था। उसी दिन मैं समझ गई थी कि एक न एक दिन मुझे यह दृश्य देखना

पड़ेगा। जब युद्ध के समय दुर्योधन मेरे पास आशीर्वाद लेने के लिए आया तब मैंने यही कहा था कि अधर्म की कभी विजय नहीं हो सकती। उसी समय मैं यह जानती थी कि मुझे दारुण पुत्र शोक सहना पड़ेगा। पर आज यह दृश्य अपनी आँख से देख कर मुझसे शान्त नहीं रहा जाता। मुझे एकमात्र इसी बात का सन्तोष है कि मेरे पुत्रों ने जो कुछ अधर्म किया था उसके बदले में वे वीरतापूर्वक युद्ध करके आज इस वीरशई शय्या पर सोते हुए स्वर्ग को सिधारे हैं। परन्तु कुरुवंश निर्मूल हो गया और भारत के वीरवंश का ध्वंस हो गया, इसकी शान्ति किस प्रकार हो। हे कृष्ण! तुम्हारा ज्ञान असीम है। तुम्हारी शक्ति भी असीम है। यदि तुम चाहते तो अवश्य यह युद्ध रोक सकते थे। तुमने शक्ति रहते भी यह युद्ध नहीं रोका इसीलिए आज मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि तुम्हारे ही हाथ से तुम्हारे यादव वंश का नाश हो। तुम्हें यह ध्वंस अपनी आँखों से देख कर वन में बहुत ही निष्कृष्ट रीति से प्राण त्यागने पड़ेंगे।

युद्ध के उपरान्त कुरुराज्य पर युधिष्ठिर का अधिकार हुआ। कुछ दिनों तक गान्धारी अपने पति के साथ पांडवों के आश्रम में रही। इस बीच में पांडवों ने हर प्रकार से उन लोगों का सम्मान रखने और उन्हें सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न किया। कुन्ती भी अपने दूसरे बहुत से काम छोड़ कर दिनरात इन्हीं लोगों की सेवा में लगी रहा करती थी। पर कुछ दिनों बाद धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी वन को चली गई और वहीं रह कर तपस्या करने लगी। एक बार उस वन में आग लग गई जिससे धृतराष्ट्र कुन्ती और दूसरे बहुत लोगों के साथ गान्धारी भी जल कर मर गई।

रुक्मिणी

विदर्भ नगर के राजा भीष्मक की एक कन्या थी। वह कन्या साक्षात् लक्ष्मी के समान स्वरूपवती थी। लोग उसे लक्ष्मी के अवतार के समान ही जानते थे। उसका नाम रुक्मिणी था। वह बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण के साथ प्रेम करने लगी थी। उसने कभी श्रीकृष्ण को अपनी आँखों से नहीं देखा था पर उनके गुण और प्रशंसा वह बराबर सुना करती थी और इसीलिए वह उन पर प्रेम-मुग्ध भी हो गई थी। उसने अपने मन में यह प्रतिज्ञा की थी कि श्रीकृष्ण ही मेरे स्वामी होंगे। उनके सिवा मैं और किसी के साथ विवाह नहीं करूँगी। यदि किसी कारण वे मेरे साथ विवाह नहीं करेंगे तो मैं अपना जीवन दे दूँगी।

बालिका रुक्मिणी उस समय संसार के झगड़ों से बिलकुल अपरिचित थी। परन्तु फिर भी बहुत ही सरल हृदय से उसने यह प्रतिज्ञा की थी। जो प्रतिज्ञा प्रेम के आवेग में बहुत ही शुद्ध हृदय से की जायगी वह प्रतिज्ञा भला, प्रभु क्यों न पूरी करेंगे? भगवान अवश्य ही ऐसे पवित्र प्रेम में सहायता देते हैं।

इस प्रकार दिन पर दिन बीतने लगे। चन्द्रमा की कलाओं की भाँति रुक्मिणी भी दिन पर दिन बढ़ने लगी। उसकी बाल्यावस्था पूरी हो गई और उसने किशोरावस्था में प्रवेश किया। अब उसका सौन्दर्य विकसित होने लगा।

रुक्मिणी का एक बड़ा भाई था। उसका नाम रुक्मी था। वह बड़ा हठी, उपद्रवी और अत्याचारी था। चेदी राज्य

का राजा शिशुपाल उसका मित्र था। 'चोर का भाई गिरहकट' वाली कहावत के अनुसार शिशुपाल भी रुक्मी ही के समान था। दोनों में गुण और दोष समान ही रूप से थे। रुक्मी ने निश्चय किया था कि मैं अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह इसी शिशुपाल के साथ करूँगा। जब रुक्मिणी को उसका यह निश्चय मालूम हुआ तब उसके हृदय को भारी चोट पहुँची। उसने अपनी सखी चन्द्रकला को अपने हृदय का यह दुःख कह सुनाया। साथ ही उसने रोते रोते उससे यह भी प्रार्थना की कि तुम मेरी इच्छा किसी प्रकार मेरे माता पिता पर प्रकट कर दो।

जब रुक्मिणी के माता पिता को रुक्मिणी के मन की ये सब बातें मालूम हुईं तब उन्होंने कहा, हम लोगों को श्रीकृष्ण के समान दामाद मिले यह तो बहुत बड़े सौभाग्य की बात है। जो कोई चौदह जन्मों तक बराबर तपस्या करता है उसे ऐसा दामाद मिलता है। परन्तु हमारा ऐसा सौभाग्य कहाँ ? श्रीकृष्ण तो द्वारिका जैसे बड़े राज्य के अधिपति हैं और हम लोग छोटे से विदर्भ राज्य के राजा हैं। भला, हम लोग इतना बड़ा काम कर सकते हैं। यह तो बौने होकर चन्द्रमा को पकड़नें का विचार करना है।

रुक्मिणी की यह पसन्द, उसके माता पिता को तो बहुत अच्छी लगी परन्तु उधर उसके भाई का बड़ा हठ था कि मैं अपनी बहन का विवाह शिशुपाल के साथ ही करूँगा। मैं बिना उनके साथ इसका विवाह किए मानूँगा ही नहीं।

उस हठी लड़के के विरुद्ध माता पिता कुछ भी बोल नहीं सकते थे। वह लाडला लड़का था इसलिए उन लोगों को उसकी

बात माननी ही पड़ती थी। शिशुपाल के साथ ही रुक्मिणी का विवाह करना निश्चित हुआ और यहाँ तक कि सगाई की रसम भी हो गई। और विवाह का दिन भी निश्चित हो गया।

अब रुक्मिणी रोने लगी। वह एकाग्र चित्त से भगवान को सम्बोधन करके कहने लगी, हे भगवान्! दुःखियों की गति तुम्हीं हो। तुम्हीं मेरा रक्षण करोगे। इस समय तुम्हारे सिवा और कोई ऐसा नहीं है जो मेरी रक्षा कर सके। हे अनाथों के नाथ! हे निराधारों के आधार! मुझे श्रीकृष्ण के चरणों में ही आश्रय दिलवाओ। मैं इस समय चिन्ता के गम्भीर सागर में डूबी हुई हूँ। हे जगत्पति, मेरा उद्धार करो।

रुक्मिणी को चारों तरफ अन्धकार ही अन्धकार दिखलाई देता था। माता, पिता, भाई, सगे सन्बन्धी में से कोई उसकी सहायता करनेवाला नहीं था। लेकिन इतना होने पर भी वह निराश नहीं हुई। उसका इस बात पर पूरा पूरा विश्वास था कि परमात्मा निराधारों को भी सहायता दिया करता है उसने अपने पड़ोस के एक वृद्ध ब्राह्मण को बुलवाया। और उसके आने पर स्पष्ट रूप से अपने हृदय की सब बातें कह दीं। जब ब्राह्मण को यह मालूम हो गया कि रुक्मिणी का संकल्प बहुत अच्छा है तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा, बेटी! मैं वृद्ध ब्राह्मण हूँ। मैं सच्चे हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो। जिन लोगों का संकल्प उच्च हुआ करता है, भगवान उसे अवश्य सहायता दिया करता है। यद्यपि मैं वृद्ध हूँ तथापि तुम्हें इस काम में पूरी पूरी सहायता देने के लिए तैयार हूँ। जिस प्रकार हो सकेगा मैं द्वारिका नगरी में पहुँचूंगा और तुरन्त ही

अपने साथ श्रीकृष्ण को अपने साथ ले आऊँगा। तुम भी उनसे मिलने के लिए तैयार रहना।

वृद्ध की बातों से रुक्मिणी को बहुत ढाढस बँधी। उसके सारे शरीर में बिजली की तरह आह्लाद का वेग व्याप गया। उसके मन में ऊपर ऊपर ही अनेक प्रकार के विचार आने लगे। "वे तो द्वारिका के सर्वेश्वर हैं। भला, वे मेरी जैसी सामान्य स्त्री की प्रार्थना क्यों मंजूर करने लगे ?" आदि आदि।

परन्तु तुरन्त ही उसे फिर विचार हुआ, भला वे मेरी प्रार्थना क्यों न मानेंगे। मैंने सुना है कि वे बहुत ही दयालु हैं। जो कोई उनकी शरण में जाता है उसकी रक्षा करने के लिए वे अपनी ओर से कभी कोई बात उठा नहीं रखते। मैं एकाग्र चित्त से उन्हीं का ध्यान कर रही हूँ। उन्हें छोड़ कर और किसी पुरुष का मैंने स्वप्न में भी विचार नहीं किया। तो फिर इस आपत्ति से वे मेरी क्यों न रक्षा करेंगे। वे अवश्य ही मेरी रक्षा करेंगे।

इस प्रकार कभी तो उसे आशा होती थी और कभी निराशा होती थी और निराश होने पर उसका हृदय छिन्न भिन्न हो जाता था। श्रीकृष्ण को देने के लिए उसने एक पत्र लिखकर उस ब्राह्मण को दिया था। उस पत्र में लिखा था:—

श्री श्री के चरण कमलों में,

"दासी के सहस्र सहस्र प्रणाम स्वीकृत हों। मैं आप के लिए बिलकुल ही अनजान हूँ। परन्तु मैं एक अच्छे कुल की बालिका हूँ। इस समय मैं बहुत बड़े संकट में पड़ी हूँ। इसीलिए मैं लज्जा छोड़ कर आप से कृपा करने से लिए प्रार्थना कर रही हूँ। मैं आप को अपना क्या परिचय दूँ। मैं विदर्भ देश के राजा

भीष्मक की कन्या हूँ। इस दासी का नाम रुक्मिणी है। मैं नहीं कह सकती कि यह पत्र पढ़ चुकने पर आप के मन में मेरे सम्वन्ध में क्या धारणा होगी? भय और लज्जा के कारण कलम रुक रही है। मुझसे और आगे लिखा नहीं जाता। हृदय स्तम्भित हुआ जाता है और ज़रा भी शान्त नहीं रहता। मैंने ऋषियों के मुँह से सुना है कि आप कृपासिन्धु हैं। पापियों को दंड देकर इस पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही आपने इस पृथ्वी पर अवतार धारण किया है। इसीलिए मैंने आप के पास यह पत्र भेजने का साहस किया है। आप के सिवा मेरी और कोई गति नहीं है।"

"हृदय देवता! आप विश्वास मानिएगा कि मैं इस समय बहुत ही भारी विपत्ति में पड़ी हुई हूँ। जब से मैंने ऋषियों के मुँह से आप की प्रशंसा सुनी है, जिस दिन से मैंने स्वप्न में आप के शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज स्वरूप के दर्शन किए हैं उसी दिन से मैं अपना तुच्छ हृदय आप के चरण कमलों में अर्पित कर चुकी हूँ।"

"मेरा भाई रुक्मी बहुत ही हठी और उद्धत है। उसने आप के शत्रु चेदी राज्य के राजा शिशुपाल के साथ मेरा विवाह करना निश्चित किया है। विवाह का समय भी बहुत पास आ गया है। परन्तु मैं पहले से ही अपनी इच्छा से अपने प्राण आपके चरणों में अर्पित कर चुकी हूं। अब मैं किसी दूसरे पुरुष को किस प्रकार स्वामी के रूप में ग्रहण कर सकती हूं। माता पिता के सामने ये सब बातें स्पष्ट रूप से कहने में मुझे लज्जा मालूम होती

है। मैं अपनी सखी चन्द्रकला से ही ये सब बातें कह कर रोया करती हूं। स्त्री-जाति के पास रोने के सिवा और उपाय ही क्या है?"

"मैं बहुत ही दुःखी हूं। यह पत्र लिखते समय आंसुओं की धारा बह रही है जिस से यह पत्र भी भींग रहा है। मेरा मृत्यु काल बहुत ही समीप आ पहुंचा है। विकट राक्षस मुंह फाड़कर मुझे खाने के लिए चला आ रहा है। इसलिए उसके आने से पहले आप कृपा कर आइए और इस दासी का उद्धार कीजिए और अपने चरण कमलों में मुझे स्थान दे कर कृतार्थ कीजिए।"

आप की दासी
रुक्मिणी

यह पत्र लेकर वह वृद्ध ब्राह्मण द्वारिका जा पहुंचा। उस राजनगर का सौन्दर्य और शोभा देख कर वह अवाक् रह गया। पक्की सड़कों पर हजारों आदमी आते जाते थे। रास्ते के दोनों ओर सुन्दर बड़े बड़े मकान बने हुए थे। शहर में बहुत से बाग बगीचे आदि भी थे और उनके रंग बिरंगे फूलों की सुगन्धि सारे शहर में फैल रही थी। छोटी छोटी झीलों और तालाबों आदि की भी नगर में कोई कमी नहीं थी। वह सोचने लगा कि भला इतनी बड़ी राजधानी के अधीश्वर श्रीकृष्ण बेचारी रुक्मिणी के साथ किस प्रकार विवाह करेंगे? इस विचार के मन में उत्पन्न होते ही बेचारे ब्राह्मण का सन्देह उत्तरोत्तर बढ़ने लगा और उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि यह काम अपने जिम्मे लेकर बहुत बड़ा दुस्साहस किया है। तो भी किसी प्रकार अपना वचन पूरा करने के विचार से वह राजमहल के द्वार पर जा पहुंचा। वहां पहुंच कर उसने द्वारपाल से कहा, मैं विदर्भ नगर से आ रहा

हूं। श्रीकृष्ण के दरबार में मुझे कुछ खास काम के लिए उपस्थित होना है। तुम मुझे अन्दर जाने दो। विदर्भ नगर का नाम सुन कर द्वारपाल ने उस ब्राह्मण को अन्दर जाने की आज्ञा देदी। थोड़ी ही देर में वह श्रीकृष्ण के दरबार में जा पहुंचा। श्रीकृष्ण की राजसभा का ठाठ देख कर वह ब्राह्मण स्तब्ध हो गया। उसे पत्र देने अथवा कुछ कहने सुनने का साहस ही नहीं हुआ। अन्त में उसने सोचा कि रुक्मणी के विवाह का दिन बहुत ही समीप आ गया है यदि इस समय मैं साहस छोड़ दूंगा तो काम न चलेगा। उसने श्रीकृष्ण के सामने जाकर विनयपूर्वक वह पत्र उनके हाथ में दे दिया और अपनी ओर से भी प्रार्थना के रूप में दो चार शब्द कह दिए। श्रीकृष्ण ने प्रसन्नतापूर्वक रुक्मणी की प्रार्थना स्वीकृत कर ली। अस्त्र, शस्त्र, सैन्य, सामन्त, रथ, घोड़े, आदि लेकर वे रुक्मिणी को ले आने के लिए विदर्भ राज्य की ओर चल पड़े। ब्राह्मण भी उनके साथ ही पीछे हो लिया।

उधर रुक्मिणी बरावर श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। श्रीकृष्ण को आने में कदाचित् कुछ विलम्ब हो गया था इसलिए वह सोचने लगी कि अभी तक उनका कोई समाचार नहीं मिला। क्या उन्होंने इस दासी की प्रार्थना नहीं मानी? नहीं नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कहीं वह ब्राह्मण रास्ता ही न भूल गया हो। कदाचित् वह द्वारिका तक पहुँचा ही न हो। हाय! अब मैं क्या करूंगी? आज तो मेरी मृत्यु का दिन भी आ पहुंचा। यदि श्रीकृष्ण मुझे स्वीकृत न करेंगे तो फिर यह तो निश्चित ही है कि मैं अपने प्राण त्याग दूंगी। अब मुझे मृत्यु के लिए तैयार रहना चाहिए। रुक्मणी इस प्रकार सोच विचार कर ही

रही थी कि इतने में ब्राह्मण ने वहाँ आकर उसे समाचार दिया कि श्रीकृष्णजी अपने सैनिकों और सामन्तों को लेकर रथ पर सवार होकर यहां आ पहुचे हैं और देवी के मन्दिर के सामने तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। ब्राह्मण की यह बात सुन कर रुक्मिणी के आनन्द का ठिकाना न रहा।

तुरन्त रुक्मिणी देवी पूजा करने के वहाने से वहां गई। अनेक दासियां उसके साथ थीं। उन दिनों राजा महाराजाओं की कन्याएँ भी देवी का पूजन करने के लिए पैदल ही जाया करती थीं। इसलिए रुक्मिणी को भी वहां पैदल ही जाना पड़ा था।

जव मन्दिर में से पूजा करके रुक्मिणी वाहर निकली तव श्री कृष्ण दौड़ कर वहां जा पहुंचे और उसे रथ पर वैठा कर तेजी से उसे हांक दिया। चलते समय, उन्होंने सव दासियों आदि से कह दिया कि मैं रुक्मिणी के साथ विवाह करना चाहता हूं इसलिए उसे यहाँ से हरण करके लिए जाता हूँ। यह वात सुनकर रुक्मिणी का भाई रुक्मी वहुत नाराज हुआ और वहुत सी सेना लेकर वह श्रीकृष्ण का पीछा करने के लिए तेजी से वढ़ा। शिशुपाल वहुत ठाठवाट से रुक्मिणी के साथ विवाह करने के लिए आया हुआ था। उसके साथ वहुत से राजा और सरदार आदि भी थे। रुक्मिणी के पिता ने सव लोगों के ठहरने आदि का वहुत अच्छा प्रवन्ध कर रखा था। जव इन लोगों को समाचार मिला कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण रुक्मिणी को हरण कर ले गए, तव वे सव श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए उनके पीछे दौड़े। श्रीकृष्ण ने रथ पूर्ण वेग से चलाया। शत्रु पक्ष के लोग भी पूरी तेजी से उनके पीछे घोड़े दौड़ाए हुए चले आ रहे थे। श्रीकृष्ण ने

उन सब लोगों के साथ युद्ध करने के लिए रथ रोक दिया। शिशुपाल के पक्ष के बहुत से लोग मारे गए। जिस समय रुक्मी के प्राण लेने के लिए श्रीकृष्ण ने हाथ उठाया उस समय रुक्मिणी ने उनसे प्रार्थना की कि हे नाथ यदि आप मुझपर प्रेम रखते हों तो मेरे बड़े भाई की हत्या न करें। उसकी मृत्यु से मुझे बहुत अधिक कष्ट पहुँचेगा। अपने विवाह के शुभ अवसर पर अपने सम्बन्धियों का वध करना उचित नहीं है। आप कृपा करके उसे क्षमा कीजिए। इस पर श्रीकृष्ण ने उसे छोड़ दिया।

अन्त में रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण का यथाविधि विवाह हो गया। राजा भीष्मक और उनकी रानी को भी इस विवाह से सन्तोष हुआ। सगे सम्बन्धी और पास पड़ोस के सभी लोग बहुत प्रसन्न हुए।

रुक्मिणी और श्रीकृष्ण ने बहुत ही प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत किया था। अपने इसी पतिप्रेम के कारण रुक्मिणी की गणना सती स्त्रियों में होती है।

उत्तरा

पाँडव लोग गुप्त वेष में राजा विराट के यहाँ बहुत दिनों तक रहे थे। जब उन लोगों के इस गुप्तवास की अवधि समाप्त होने में दो चार दिन बाकी रह गए थे तभी बलराम की कन्या वत्सला के साथ अभिमन्यु का विवाह हो गया था। यह विवाह भी कुछ अद्भुत ही था। सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु

और वलराम की कन्या वत्सला दोनों मामा फूफी के सन्तान और भाई वहन थे। वाल्यावस्था में दोनों साथ ही खेला करते थे। दोनों साथ ही उठते वैठते थे और साथ ही पले थे। इस कारण दोनों में वहुत अधिक प्रेम हो गया था। ज्यों ज्यों वे लोग वड़े होते गए, त्यों त्यों उनमें प्रेम भी वढ़ता गया। इन दोनों वालकों में परस्पर इतना अधिक प्रेम देखकर सुभद्रा और श्रीकृष्ण ने सोचा कि इन दोनों को विवाह-वन्धन में वाँध दिया जाय। परन्तु श्रीकृष्ण के वड़े भाई वलराम की प्रवृत्ति आरम्भ से ही दुर्योधन की ओर कुछ अधिक ही थी। उन्होंने अपनी पुत्री वत्सला का विवाह दुर्योधन के पुत्र के साथ पक्का कर रखा था। जव सुभद्रा ने देखा कि वड़े भाई के सामने मेरी कुछ भी न चलेगी तव वह नाराज होकर अपने पुत्र को साथ लेकर वन में चली गई। वहाँ उसकी घटोत्कच से भेंट हुई जो भीम का पुत्र था और हिडिम्वा राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु और हिडिम्वा के पुत्र घटोत्कच में वहुत गहरी मित्रता हो गई। घटोत्कच की सहायता से ठीक विवाह के दिन अभिमन्यु वत्सला का हरण कर लाया। थोड़े ही समय में चारों ओर विजली की तरह यह समाचार फैल गया कि वत्सला के साथ अभिमन्यु का विवाह हो गया। यथा समय विराट देश में भी यह समाचार पहुँचा और गुप्त वेप में, रहनेवाले पाँडवों ने भी यह समाचार सुना। अर्जुन उन दिनों राजा विराट की कन्या उत्तरा को नृत्य सिखलाने के लिए नियुक्त थे। उन्होंने जव अपने पुत्र के इस विवाह का समाचार सुना तव वे वहुत ही प्रसन्न हुए। उनके मुख पर स्पष्ट रूप से हर्ष की छटा दिखाई पड़ने लगी। अर्जुन की शिष्या उत्तरा वहुत ही चतुर

थी। वह सोचने लगी कि यह अभिमन्यु कौन है? आज अभिमन्यु की यह विजय सुनकर गुरु जी इतने अधिक प्रसन्न क्यों हैं? इसका कारण ढूँढ निकालना चाहिए। इस बात का भेद जानने के लिए उत्तरा एक बहुत ही उपयुक्त प्रसंग छेड़ने का अवसर ढूँढ़ने लगी।

एक दिन अर्जुन को बहुत अधिक प्रसन्न देखकर उत्तरा ने स्पष्ट रीति से इस सम्बन्ध में प्रश्न किया। अर्जुन ने सोचा कि हम लोगों के गुप्तवास की अवधि तो अब समाप्त ही होने को है। आजतक मैंने कभी किसी को अपना वास्तविक परिचय नहीं दिया। परन्तु अब अपने आपको प्रकट कर देने में कोई हानि नहीं है। इसलिए उन्होंने बिना अपना परिचय दिये ही उत्तरा को विस्तारपूर्वक यह बतला दिया कि यह अभिमन्यु कौन है, किस का पुत्र है, उसका रूप कैसा है, उसे कैसी अच्छी शिक्षा मिली है उसने कैसे कैसे पराक्रम से काम किए हैं आदि आदि। पुत्र का गुणानुवाद करते करते पिता को जो आनन्द और गर्व होना चाहिए उसके सब लक्षण अर्जुन के मुख पर स्पष्ट दिखाई देते थे। और इसके उपरान्त उन्होंने उत्तरा से कहा, अभी मैं इससे अधिक और कोई बात नहीं बतला सकता। इसलिए अब आपको इस सम्बन्ध में और कोई समाचार न पूछना चाहिए।

जिस दिन से उत्तरा ने अर्जुन के मुख से अभिमन्यु के रूप, गुण और पराक्रम की प्रशंसा सुनी थी उसी दिन से उसके जीवन में एक बहुत ही बड़ा और विलक्षण परिवर्तन हो गया था। सदा प्रसन्न रहने वाली सरल बालिका अब सदा भारी विचार और चिन्ता में मग्न रहने लगी। खाने पीने की ओर से भी उसकी रुचि हट गई। रात के

समय उसे निद्रा भी नहीं आती थी। चाँदनी रात में वह छत पर बैठकर चन्द्रमा की ओर देखा करती थी और चित्त से परमात्मा से प्रार्थना किया करती थी, हे देव! तुम मेरी मनोकामना पूरी करो। जिस युवक के चरणों में मैंने अपने प्राण अर्पित कर दिए हैं जिसके अभाव का ध्यान करके मेरा हृदय एक प्रकार की शून्यता का अनुभव करता है जिसके लिए मेरा हृदय सैकड़ों बाणों से विंधा जाता है उसीके साथ मेरा संयोग करा दो और मेरे हृदय की यह शून्यता दूर करो।

बस, इसी प्रकार के विचार उत्तरा के मन में दिनरात उठा करते थे। उसका मन उसके वश में नहीं रह गया था। उसका हृदय सैकड़ों बाधाओं और विघ्नों को पार करता हुआ पूर्ण वेग से अभिमन्यु की ओर दौड़ा करता था।

उत्तरा पूर्ण रूप से प्रेम के जाल में फंस चुकी थी। वह अच्छी तरह जानती थी कि अभिमन्यु का विवाह वत्सला के साथ हो चुका है। अभिमन्यु बाल्यावस्था से ही वत्सला के साथ रहता आया था। उसी के साथ खेलता कूदता था और उसी के साथ पला था। वत्सला के ऊपर अभिमन्यु का प्रेम होना बहुत ही स्वाभाविक था। यह प्रेम ऐसा नहीं था जो आगे चलकर कुछ दिनों में कम हो जाता। पत्थर पर खोदे हुए अक्षरों की भाँति वत्सला का प्रेम अभिमन्यु के हृदय पर सदा के लिए अंकित हो चुका था। इन सब बातों को जानते हुए भी उत्तरा अभिमन्यु के साथ विवाह करने के लिए पागल हो रही थी। वत्सला के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की ईर्ष्या या द्वेष का भाव नहीं था। वत्सला अभिमन्यु को चाहती है और अभिमन्यु वत्सला को

चाहती, इसके लिए भी उस के मन में किसी तरह की नाराजगी नहीं थी। उसे अभिमन्यु के प्रेम की भी कोई परवाह नहीं थी। उसे तो केवल इसी बात की अभिलाषा थी कि मैं अभिमन्यु के प्रति अपना अनन्य प्रेम प्रकट कर सकूं। उत्तरा के मन में यही उत्कंठा थी कि मैं अभिमन्यु के सुन्दर मुख की ओर एकटक देखा करूँ। युद्ध में जाते समय उन्हें वीर वेष में सजाकर उनके सुख में, दुःख में, रणक्षेत्र में और शान्ति के समय में सदा उनके साथ रहा करूँ।

उत्तरा की इस चिन्ता की कोई सीमा नहीं थी। वह अकेली बैठीबैठी सोचा करती थी, हाय! मैं कौनसा ऐसा उपाय करूँ जिससे मुझे अभिमन्यु मिले। उनके बिना तो मेरा काम किसी प्रकार चल ही नहीं सकता। पर वे मिलें तो कैसे मिलें। ईश्वर का यह कैसा अन्याय है। जब जी चाहे तब मनुष्य पक्षियों की भाँति हवा में क्यों नहीं उड़ सकता? यदि ऐसा होता तो मैं अभी पंख फड़फड़ाती हुई अभिमन्यु के पास जा पहुँचती और अपनी सारी मर्म वेदना उन्हें सुनाती। मैं अपना हृदय चीरकर उन्हें दिखला देती कि मैं उन पर कितना अधिक प्रेम करती हूँ। परन्तु ये सब बातें तो किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। तो फिर अब मैं क्या करूँ? जिस अभिमन्यु के लिए मेरा हृदय इतना अधिक तड़प रहा है उन्हें तो मेरे सम्बन्ध की कुछ खबर ही नहीं है। हाय! में किस प्रकार उन पर अपना प्रेम प्रकट करूँ। यह कैसी विडम्बना है?

जिन दिनों उत्तरा इस प्रकार चिन्ता के अगाध सागर में डूबी

रहा करती थी उन्हीं दिनों राजा विराट के दरबार में एक चित्र-कार आया हुआ था। उस चित्रकार के पास एक सुन्दर युवक वीर का चित्र था। राजा वह चित्र देखकर बहुत प्रसन्न हुआ था और उसे खरीदने के विचार से उसने उसका मूल्य पूछा था। चित्रकार ने उत्तर दिया, महाराज! मैं आपसे इस चित्र का कोई मूल्य नहीं चाहता। आप इसे अपने पास रखिए। राजा सोचने लगा कि यह चित्रकार है तो बहुत चालाक। यह चित्र का दाम बढ़ाने के लिए ही इस प्रकार मीठी मीठी बातें कर रहा है। यही सोचकर राजा उसका मूल्य ठहराने का आग्रह करने लगा। चित्र-कार ने कहा, महाराज! यह चित्र अपने पास रख लीजिए। राज-कुमारी के विवाह के दिन फिर यहाँ आऊँगा। उस समय आप मुझे इस चित्र का जो कुछ मूल्य दे देंगे, वही मैं ले लूंगा। इतना कहकर वह चित्रकार वहाँ से चला गया। राजा भी दरबार में से उठकर अन्तःपुर में गया। वहाँ उसने और चित्रों के पास ही वह चित्र भी टांग दिया। अन्तःपुर में से बहुत से लोग वह चित्र देखने के लिए आए। दास दासियां और बालक बालिकाएँ सभी वह चित्र देखकर बहुत प्रसन्न होती थीं। उस चित्र को एक नजर देखते ही सब लोग कहने लगते थे यह कैसा सरस रूप है। यह ऐसा मालूम होता है मानों साक्षात् नारायण इस अन्तःपुर में आ-कर खड़े हो गए हैं। उस चित्र के अलबेले युवक के अंग पर युद्ध का वेश था। माथे पर पगड़ी बँधी हुई थी, हाथ में धनुष बाण था, पीछे तीरों का तर्कश था और कमर में तलवार थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानों यह वीर पुरुष युद्धक्षेत्र में जाने के लिये तैयार खड़ा है। उसकी दोनों आंखों में से दिव्य ज्योति निकल

रही थी। जो कोई यह चित्र देखने के लिये आता था वह पहरों उसके सामने ही खड़ा रह जाता था।

उत्तरा भी अपने साथ अर्जुन को लेकर वह चित्र देखने के लिए वहां आई। उस चित्र को देखते ही उत्तरा की आंखों में आंसू भर आए, हृदय कांपने लगा और उसके सारे शरीर में प्रेम का संचार हो गया। उसने जब पीछे की ओर मुड़कर देखा तो अर्जुन को आश्चर्य चकित खड़े देखा। उत्तरा ने अर्जुन से पूछा, गुरुजी! आप यह चित्र देखकर इस प्रकार चौंक क्यों पड़े? आप मुझे साफ बतलाइए कि यह किसका चित्र है? थोड़ी देर तक सोचने के उपरान्त अर्जुन ने कहा, यह अभिमन्यु का चित्र है। उत्तरा ने पूछा आप यह चित्र देखकर इस प्रकार चौंक क्यों पड़े थे? अपने हृदय के वास्तविक भाव को छिपाकर अर्जुन ने कहा, उत्तरा तुम अभी बच्ची हो। तुम इन सब बातों को क्या समझोगी? इस युवक के पिता और चाचा आदि गुप्तवेश बनवास भोग रहे हैं। इस युवक को इस चित्र में इस प्रकार युद्ध वेष में सज्जित देखकर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जिन लोगों के अत्याचार के कारण इसके बड़े लोगों को बनवास का असह्य दुःख भोगना पड़ा है, उन्हीं के साथ लड़ने के लिए यह तैयार हुआ है। भला, उत्तरा अब तुम्हीं बतलाओ कि ऐसे युवक को इस वेष में देखकर किसका मन विचलित न होगा। उत्तरा ने भी उनकी यह बात मान ली और वह बिना कुछ और सवाल जवाब किए हुए एकटक उस चित्र की ओर देखती हुई सोचने लगी कि अब तक मैं दिन रात जिसकी चिन्ता किया करती थी उसीका यह चित्र आज सौभाग्य से मेरे सामने आ गया है। परन्तु मैं इनको

सशरीर अपने पास कब पाऊंगी । हाय! इस जीवन में मेरा इनके साथ मिलाप होगा भी या नहीं। कब वह दिन आवेगा, जब मैं अपने हाथों से इन्हें वीर वेष में सज्जित कर के रणक्षेत्र में विजयी होने के लिए भेजूंगी ।

आग कभी कपड़े के अन्दर बांध कर नहीं रखी जा सकती । उत्तरा के हृदय में कामाग्नि बहुत जोरों के साथ जलने लगी। और वह उसी आग में जल जल कर राख होने लगी। जब बहुत कुछ सोचने पर भी उसे कोई उपाय नहीं दिखाई दिया तब वह अन्त में केवल अपने भाग्य पर भरोसा रख कर चुप चाप बैठ गई।

इस प्रकार अनेक दिन बीत गए । नगर में चारों ओर शान्ति फैल रही थी। इतने में एकाएक समाचार मिला कि राज्य की दक्षिण दिशा से शत्रु आ रहे हैं। वे लोग रास्ते में गांव आदि लूट रहे हैं और प्रजा को बहुत अधिक कष्ट दे रहे हैं । राजा अपनी सेना तथा सामन्तों आदि को साथ में लेकर शत्रुओं के साथ लड़-ने के लिए चला । थोड़ी ही देर बाद दूसरा सामाचार यह मिला कि राज्य की उत्तर दिशा में शत्रु आए हैं और गौओं तथा बछड़ों आदि पर बहुत अधिक अत्याचार कर रहे हैं। ग्वालों के बालक राजमहल में पहुंच कर पुकार मचाने लगे। अब चिन्ता यह हुई कि उस ओर शत्रुओं का दमन करने के लिए कौन जाय ? उस समय राजधानी में न तो राजा ही था और न सेना ही थी। राजा थोड़ी ही देर पहले सेना को साथ लेकर दक्षिण दिशा में शत्रुओं से लड़ने के लिए जा चुका था। उस समय राजमहल में एक वयस्क राजकुमार उपस्थित था । वह मारे भय के कहीं जा

नहीं सकता था। पर फिर भी वह ऐसे अवसर पर कुछ साहस करके अन्तःपुर की स्त्रियों के सामने अपना मान रखने के लिए चट बाहर निकल आया और कहने लगा अब बतलाओ मैं क्या करूं? इस संकट से बचने के लिये कौन सा उपाय किया जाय? राज्य में शत्रु आ पहुंचे हैं। मैं चाहता हूं कि जाकर उन सब को मारकर बाहर निकाल दूं। पर कठिनता तो यह है कि इस समय रथ हांकनेवाला कोई सारथी ही यहां नहीं है। मेरा रथ कौन हांकेगा?

राज्य में शत्रु आ पहुंचे थे। वे निर्दोष गौओं और बछड़ों पर अत्याचार कर रहे थे। परन्तु इतना होने पर भी वहां कोई ऐसा आदमी न था जो उन लोगों को मारकर बाहर निकाल सकता। जब वीर अर्जुन ने यह बात सुनी तब उस से चुपचाप बैठा नहीं रहा गया। उन्होंने सोचा कि हमारे गुप्तवास की अवधि पूरी हो चुकी है और आज उससे दो दिन और ऊपर बीत चुके हैं। ऐसी दशा में यदि मैं इस समय अपना वास्तविक परिचय लोगों को दूं तो इसमें कोई हानि नहीं है। यह सोचकर उन्होंने उत्तरा से अपने सम्बन्धी की सब बातें बतला दीं और कहा, मैं तीसरा पांडव अर्जुन हूँ। गुप्तवास में इतने दिनों तक उर्वशी के शाप के कारण नपुंसक होकर तुम्हें नृत्य सिखलाने के लिए अन्तःपुर में रहता था। मेरे और सब भाई तथा द्रौपदी भी यहीं राजा विराट के यहां भिन्न भिन्न कामों पर नौकर हैं।

अर्जुन की सब बातें सुनकर उत्तरा स्तम्भित हो गई। परन्तु इससे वह जरा भी भयभीत नहीं हुई। ये बातें सुन कर उसका साहस और भी बढ़ गया। उसे इस बात का दृढ विश्वास हो

गया कि यदि अर्जुन जैसे वीर मेरे भाई के साथ युद्ध करने जायँगे तो अवश्य ही उनकी जीत होगी।

अर्जुन उसी नपुंसक के वेष में ही सारथी वनकर राजकुमार के साथ युद्धक्षेत्र में गए। सारथी के रूप में एक हाथ में लगाम पकड़े हुए अर्जुन ने वहुत ही वीरतापूर्वक शत्रुओं के साथ युद्ध किया। वहुत कुछ मारकाट होने के उपरान्त शत्रुओं की सेना में के वहुत से लोग मारे गए। जो थोड़े से लोग वच रहे थे वे किसी प्रकार जान वचा कर वहां से भागे। अर्जुन उस राजकुमार को साथ लेकर राजधानी में लोट आए।

उधर राजा ने सुना कि राजकुमार भी दूसरी ओर युद्ध में गया है। कुमार का यह साहस देखकर एक वार तो उसे वहुत आनन्द हुआ पर फिर वह सोचने लगा कि कुमार अभी वालक है। वह आजतक कभी किसी युद्ध में नहीं गया है। न जाने वह वहां जाकर क्या कर वैठे? राजा इसी प्रकार चिन्ता कर रहा था कि इतने में राजकुमार महल में आ पहुंचा। उस समय तक अर्जुन का सच्चा हाल उत्तरा के सिवा और कोई नहीं जानता था। चारों ओर समाचार फैल गया कि राजकुमार युद्ध में विजयी हुआ। यह सुनकर राजा वहुत सन्तुष्ट हुआ। सभा में वैठे हुए सव लोगों ने राजकुमार को शावाशी दी। सारे नगर में राजकुमार का जयजयकार होने लगा।

दूसरे दिन सवेरे उठकर पांडवों ने अपना गुप्त वेष उतार डाला और वे लोग राजसी वस्त्र धारण करके सभा में आ पहुंचे। जब राजा विराट सभा में आया तव प्रायः सभी सभासद उसका सत्कार करने के लिए उठ कर खडे हो गए परन्तु पांडव

अपने स्थान पर ही बैठे रहे। यह नई बात देख कर राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। उसके मन में कुछ क्रोध भी आया। उसके माथे पर पसीने की भी दो एक बूंदें दिखाई देने लगीं। इतने में अर्जुन ने उठकर और राजा के सामने जाकर आदि से अन्त तक अपना सारा हाल उसे कह सुनाया। अब सब लोगों को मालूम हुआ कि शत्रुओं को पराजित करनेवाले अर्जुन ही थे। राजकुमार तो उनके साथ खाली पुतली की तरह खड़ा रहता था। राजकुमार ने भी अर्जुन की वीरता की साची दी। राजा इस बात से बहुत ही लज्जित हुआ कि पांडवों के गुप्तवास के समय मैंने अनजान में उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट दिए। पर जब साथ ही उसे इस बात का भी विचार हुआ कि मैं ही वह भाग्य शाली हूँ जिसन पांडवों को ऐसे कष्ट के समय अपने यहाँ आश्रय दिया तब उसे बहुत अधिक सन्तोष हुआ।

अन्तःपुर में जितने गहने आदि थे वे सब अपनी कन्या उत्तरा को पहना कर राजा उसे राजसभा में ले आया और उसे अर्जुन के हाथ सौंपकर बोला, यह कन्यारत्न आपके ही योग्य है। आप इसका स्वीकार करके मुझे कृतार्थ कीजिए। उत्तरा के मन में जो विचार था वह किसी को मालूम नहीं था। राजसभा में जो लोग बैठे हुए थे वे सब सोचने लगे कि अर्जुन जैसा स्वामी पाकर उत्तरा बहुत ही सन्तुष्ट हुई होगी। और अर्जुन भी उत्तरा जैसी सुन्दरी पाकर बहुत ही प्रसन्न होगा। परन्तु उत्तरा के मन का भाव अर्जुन को बहुत अच्छी तरह मालूम था। अर्जुन बहुत अच्छी तरह जानते थे कि उत्तरा मेरे पुत्र अभि-मन्यु को अपने प्राण समर्पण कर चुकी है और उसके बिना

इसका जीवन बिलकुल नीरस और निर्जीव हो रहा है। उन्होंने राजसभा में बैठे हुए सब लोगों को चकित करते हुए कहा, इस राजकुमारी सुलक्षणा उत्तरा को मैंने नृत्य, वाद्य और संगीत आदि की शिक्षा दी है इसलिए मेरे लिए तो यह कन्या के ही समान है। मेरा पुत्र अभिमन्यु बहुत ही वीर और सुन्दर है। यदि आप अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह करदेंगे तो इसे अपनी पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करके मैं बहुत ही उपकृत होऊँगा। अर्जुन की यह बात सुनते ही उत्तरा के मुखारविन्द पर प्रसन्नता का तेज स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा।

अभिमन्यु के सद्गुणों की प्रशंसा सभी लोग सुन चुके थे। इसलिये सबने अर्जुन की यह बात मानली।

अभिमन्यु को लाने के लिए तुरन्त आदमी भेजा गया। उसके आने पर बहुत ही धूमधाम के साथ उससे उत्तरा का विवाह करदिया गया। भगवान भी उत्तरा के ऊपर प्रसन्न हुए। आज उसकी बहुत दिनों की इच्छा पूरी हुई। जिसे वह बहुत दिनों से चाहती थी उसी को आज स्वामी के रूप में पाकर उसके आनन्द का वारापार न रहा।

अभिमन्यु और उत्तरा का जीवन बहुत ही आनन्दमय हो गया। युद्ध में जाते समय अपने स्वामी को वीर वेष में सजाने की अपनी साध उत्तरा ने अनेक बार पूरी की।

जब महाभारत के अन्तिम युद्ध के समय अभिमन्यु अपनी प्रिय पत्नी उत्तरा के पास विदा माँगने के लिए गया, उस समय इस वीर परन्तु स्नेहार्द्र पत्नी ने जो उत्तर दिया वह हिंदी के श्रेष्ठ कवि बाबू मैथलीशरण गुप्त के शब्दों में इस प्रकार है:—

"मैं यह नहीं कहती कि रिपु से जीवितेश लड़ें नहीं।
तेजस्वियों की आयु भी, देखी भला जाती कहीं॥
मैं जानती हूँ नाथ! यह, मैं मानती भी हूँ तथा।
उपकरण से क्या शक्ति में ही सिद्धि रहती सर्वथा॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

क्षत्राणियों के अर्थ भी, सब से बड़ा गौरव यही।
सज्जित करें पति पुत्र को, रण के लिये जो आप ही॥
जो वीर पति के कीर्ति-पथ में विघ्न बाधा डालती।
होकर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालती?

वह वीर धर्म को जानती थी। अपने पति का महत्व भी पहचानती थी परन्तु फिर भी आज न जाने क्यों रह रह कर उसे कुछ संकोच होता था? वह कहने लगी:—

"अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिये।
मत जाइये इससे समर में, प्रार्थना यह मानिये॥
जाने न दूँगी नाथ! तुमको आज मैं संग्राम में।
उठती बुरी हैं भावनायें हाय! मम हृद्धाम में॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

है आज कैसा दिन न जाने, देव-गण अनुकूल हों।
रक्षा करें प्रभु, मार्ग में, जो शूल हों वे फूल हों॥
कुछ राजपाट न चाहिये, पाऊँ न क्यों मैं त्रास ही।
हे उत्तरा का धन! रहो तुम उत्तरा के पास ही॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

इतना कहते कहते उत्तरा के नेत्र आँसुओं से भरगये और

प्रिय पति के खंवे पर मुँह रखकर फिर से निवेदन करने लगी कि हे नाथ! आप युद्ध में मत जाइये।

परन्तु अभिमन्यु ने उसके सुकुमार हाथों को अपने हाथों में ले लिया और वहुत ही प्रेमपूर्वक उसे धैर्य देते हुए समझाया:—

जीवनमयी, सुखदायिनी, प्राणाधिके, प्राण प्रिये!
कातर तुम्हें क्या चित्त में, इस भाँति होना चाहिये?
हो शान्त, सोचो तो भला, योग्य क्या तुमको यही।
हा! हा! तुम्हारी विकलता जाती नहीं मुझ से सही॥

उन्होंने उत्तरा को उसके गौरव का स्मरण कराने के लिए कहा, तुम वीर पत्नी हो। वीर रमणी हो। वीर भार्या हो। मैं तो युद्ध में जा रहा हूँ और तुम इस प्रकार कातर होकर बातें कर रही हो। तुम्हारी यह दशा देखकर मुझे वहुत ही आश्चर्य हो रहा है। तुम यह बात अच्छी तरह जानती हो कि यदि शत्रुओं से बदला न लिया जावेगा तो कितना भारी अनर्थ होगा। तुम्हारे जैसी समझदार स्त्री को अधिक समझाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। रोग और शत्रु का तो विलकुल आरम्भ में ही नाश करना चाहिए। पापियों को उचित दंड देना ही क्षत्रियों का प्रधान कर्तव्य है। क्या तुम यह बात नहीं जानती हो कि कौरवों ने अपने सम्बन्धियों और कुटुम्ब के लोगों को कितना अधिक कष्ट दिया है। यदि इतने वड़े अपमान और दुःख का वदला मैं उनसे न लूं और योंही चुपचाप वैठा रहूँ तो सारा संसार मुझे कायर कहेगा। प्रिये! मैं समझता हूँ कि क्यों आज तुम्हारे मन में अमंगल की आशंका हो रही है? परन्तु फिर भी तुम्हें और सब बातों का विचार छोड़ देना चाहिए और वहुत ही प्रसन्नतापूर्वक मुझे विदा

करना चाहिए। मैं बहुत ही शीघ्र युद्ध में विजय प्राप्त करके लौटूंगा और फिर आकर तुमसे मिलूंगा। तुम अपने मन में किसी बात की ज़रा भी चिन्ता मत करो।

पति के इस प्रकार के मीठे वचन सुनकर उत्तरा को बहुत कुछ धैर्य हुआ और उसने बहुत ही अच्छी तरह अभिमन्यु को वीर वेष में सज्जित करके युद्ध में जाने के लिए बिदा किया। उसके चलते समय उसने परमात्मा से उसके मंगल की प्रार्थना की। उस संग्राम में वीर बालक अभिमन्यु ने असाधारण पराक्रम दिखलाया। वह कौरवों के अनेक बड़े बड़े योद्धाओं के साथ अकेला ही लड़ता रहा। उसने युद्ध में हजारों शत्रुओं के प्राण लिए परन्तु अन्त में वह जयद्रथ के रचे हुए षडयन्त्र का शिकार बना और उसी युद्ध में मारा गया। जिस समय उत्तरा ने सुना कि मेरा पति युद्ध में वीर गति को प्राप्त हुआ है, उस समय सुकुमार बालिका के कोमल हृदय की जो दशा हुई होगी उसका अनुमान पाठिकाएँ सहज ही में कर सकती हैं। जिस समय असंख्य शस्त्रों से बिंधा हुआ अभिमन्यु का मृत शरीर रणक्षेत्र में से उसके सामने लाया गया उस समय वह नव वधू, हाय! नाथ, हाय! नाथ, कहती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी। गिरते ही मूर्छित हो गई। थोड़ी देर बाद जब उसे होश आया तब वह अपने पति के मृत शरीर को गले से लगाकर इस प्रकार हृदय विदारक विलाप करने लगी—

"मति, गति, सुकृति, धृति, पूज्य, पति, प्रिय, स्वजन, शोभन-सम्पदा,
हा ! एक ही जो विश्व में सर्वस्व था तेरा सदा,

यों नष्ट उसको देखकर भी बन रहा तू भार है!
हे कष्टमय जीवन ! तुझे धिक्कार वारम्बार है॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

था जो तुम्हारे सब सुखों का सार इस संसार में;
वह गत हुआ है अब यहाँ से श्रेष्ठ स्वर्गागार में।
हे प्राण! फिर अब किसलिये ठहरे हुए हो तुम अहो!
सुख छोड़ रहना चाहता है, कौन जन दुःख में कहो ?

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

अपराध सौ सौ सर्वदा जिसके क्षमा करते रहे।
हँसकर सदा सस्नेह जिसके हृदय को हरते रहे॥
हा! आज उस मुझ किंकरी को कोन से अपराध में—
हे नाथ ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिन्धु अगाध में ?

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

तज दो भले ही तुम मुझे, पर मैं न तज सकती तुम्हें।
वह थल कहाँ पर है जहाँ प्रिय, मैं न भज सकती तुम्हें ?
है विदित मुझको वन्हि-पथ त्रैलोक्य में तुम हो कहीं।
हम नारियों की पति विना गति दूसरी होती नहीं॥

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

जो 'सहचरी' का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिये प्राणेश ! तुमने ले लिया !
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य पद मुझ को मिला,
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला॥"

इसके बाद पति के साथ भोगे हुए अनेक सुखों का हृदय-द्रावक वर्णन कर उत्तरा बोली:—

"कितनी विनय मैं कर रही हूँ क्लेश से रोते हुए,
सुनते नहीं हो किन्तु तुम बेसुध पड़े सोते हुए।
अप्रिय न मन से भी कभी मैंने तुम्हारा है किया,
हृदयेश! फिर इस भाँति क्यों निज हृदय निर्दय कर लिया ?

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

होकर रहूँ किसकी अहो! अब कौन मेरा है यहाँ ?
कह दो तुम्हीं बस न्याय से अब ठौर है मुझको कहाँ ?
माता पिता आदिक भले ही और निज जन हों सभी,
पति के विना पत्नी जगत में सुख न पा सकती कभी ॥"

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

उत्तरा अपने यौवन के आरम्भ में ही विधवा हो गई थी। परन्तु उसके भाग्य में पति के मृत शरीर के साथ सती होना नहीं बदा था। उसके गर्भ में बालक था और वही एक ऐसा बालक था जो कुरुकुल में उस समय बच रहा था। उसकी रक्षा करना बहुत ही आवश्यक था। महाभारत के भयंकर युद्ध में जब पांडवों और कौरवों का पूरा पूरा नाश हो गया तब एक यही बालक परीक्षित जीवित बच रहा था। पांडव उसीको गद्दी देकर हिमालय की ओर चले गए थे। राजा परीक्षित को उत्तरा ने बहुत ही अच्छी शिक्षा दी थी। राजा परीक्षित जैसे प्रतापी पुत्र को जन्म देने के कारण वह रत्नगर्भा नाम से प्रसिद्ध हुई थी।

भद्रा

यह राजा काक्षिवान की कन्या और महाराज व्युषिताश्व की साध्वी पत्नी थी। उन दिनों इसके समान सुन्दर युवती सती और कोई नहीं थी। इसने अपने सतीत्व के बल से ही अपने मरे हुए पति से भी पुत्र प्राप्त किया था। भद्रा जिस प्रकार एकाग्र चित्त से अपने पति की भक्ति किया करती थी, उसी प्रकार उसका स्वामी भी उसके साथ अगाध प्रेम किया करता था। भद्रा के ऊपर बहुत अधिक आसक्त होने के कारण ही महा-राज व्युषिताश्व को दमे का रोग हो गया था और उस रोग के कारण थोडेही दिनोंमें उनकी मृत्यु हो गई। राजा का स्वर्गवास हो जाने के कारण भद्रा बहुत अधिक दुःखी और व्याकुल हुई। वह अपने पति को उद्देश करके कहने लगी, हे परम धर्मज्ञ! हे प्राणनाथ! आप यह नहीं जानते थे कि पति के बिना स्त्री का जीवन बिलकुल व्यर्थ ही है। यदि पति की मृत्यु के उपरान्त सती स्त्री जीती रहती है तो वह सदा वहुत अधिक दुःख पाती रहती है और जीवित होकर भी मृत के समान ही रहती है। हे क्षत्रियोत्तम! स्त्री के लिए तो विना पति के जीवित रहने की अपेक्षा मर जाना ही कहीं अच्छा है। इसीलिए मैं आपके साथ सती हो जाना चाहती हूँ। आप प्रसन्नतापूर्वक मुझे अपने साथ ले चलिए। हे राजन्, मैं तुम्हारे बिना क्षण भर भी जीवित न रह सकूँगी। इसलिए तुम प्रसन्न होकर मुझे इस संसार से उठा लो। आप जहाँ जायँगे वही आप के पीछे पीछे मैं भी पहुँचूंगी। आजतक मैं सदा वही काम किया करती थी जो आपको बहुत प्रिय होता था। मुझे सदा छाया की भाँति तुम्हारे पीछे चलना चाहिए। तुम मेरा परित्याग मत

करो। पूर्व जन्म में मैंने किसी प्रेमी दम्पति में वियोग कराया होगा। इसीलिए उस पाप के फल स्वरूप आज तुम से मेरा वियोग हुआ है। पति का विरह होने पर भी जो स्त्री जीवित रहती है वह नरक को जाती है। इसलिए मैं तुम्हारे दर्शन करके ही भूखी प्यासी यहीं घास पर बैठी रहूँगी और किसी प्रकार का सुख नहीं भोगूँगी। हे महाराजा! मुझे दर्शन दो और मेरे साथ बातचीत करो। यह दासी तुम्हारे वियोग से बहुत दुःखी हो रही है। इसे कुछ आज्ञा दो।

पतिव्रता भद्रा इसी प्रकार विलाप करती हुई मृत पति से अनेक प्रकार की प्रार्थनाएँ करने लगी। वह पति के वियोग में प्राण त्याग देने का संकल्प करके वहीं बैठी विलाप कर रही थी। उसके विलाप के कारण दिक् मंडल काँप उठा। इतने में उसके सतीत्व के प्रभाव से चारों ओर प्रकाश हो गया और आकाश से आकाशवाणी हुई, भद्रा! तू उठ कर खड़ी हो। हे पतिव्रता, मैं तुम्हें वरदान देता हूँ कि मैं पिताश्व तेरे गर्भ से सन्तान उत्पन्न करूँगा। अष्टमी या चतुर्दशी के दिन तू ऋतु स्नान करके मेरे साथ अपने कमरे में शयन करना।

यह आकाशवाणी सुनकर साध्वी भद्रा बहुत ही प्रसन्न हुई क्योंकि वह स्वभावतः ही अपना वन्ध्यादोष दूर करके कुटुम्ब का नाम चलाने के लिए पुत्र रत्न की इच्छा रखती थी। आकाशवाणी में जो कुछ कहा गया था उसने वैसा ही किया। उसे सन्तान उत्पन्न हुई। इसके उपरान्त उसने अपने स्वामी की आत्मा के साथ परम आनन्दपूर्वक स्वर्गारोहण किया।

एकपत्नी

यह अपनी पतिभक्ति, ज्ञान और भविष्य दर्शन के लिए प्रसिद्ध हो गई है। एक दिन कौशिक नामक एक ब्राह्मण ने उसके घर पहुंच कर भिक्षा मांगी। गृहिणी एकपत्नी ने उससे कहा, खड़े रहो। इसके उपरान्त उसने इस भिक्षुक ब्राह्मण का कमंडलु माँगा। इतने में उसका स्वामी भूखा घर आ पहुंचा। पति को देखते ही इस पतिव्रता ने ब्राह्मण को भिक्षा देना तो छोड़ दिया और अपने पति के पैर धोकर मीठे शब्दों से उसका आदर सत्कार किया। और तब उसे भोजन कराके अपनी मधुर बातों से उसकी थकावट दूर की। यह स्त्री सदा अपने पति का उच्छिष्ट ही खाया करती थी। यह अपने पति को परम देवता समझती थी और मन वचन तथा कर्म द्वारा उन पर अत्यन्त भक्ति रखती थी। उस के चित्त का प्रवाह सदा पति की ही ओर रहता था और वह सदा पति की सेवा में ही लीन रहा करती थी। वह सदा सदाचारपूर्वक शुद्ध और स्वच्छ रहती थी और सदा वही काम करती थी जिसमें उसके पति का हित होता था। वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर अपने ससुर सास पति तथा अतिथि आदि की सेवा किया करती थी। पति-भक्ति में लीन इस स्त्री को जब यह ध्यान आया कि मैंने उस भिक्षुक ब्राह्मण को इतनी देर से योंही ठहरा रखा है तो उसे बहुत ही लज्जा आई। वह तुरन्त उठी और भिक्षापात्र भरकर उस ब्राह्मण को देने के लिए उसके पास पहुँची। पर उस ब्राह्मण ने बहुत ही क्रोधपूर्वक कहा, हे स्त्री, तुम्हारा यह आचरण कैसा समझा जायगा। तुम

मुझे खड़े रहने के लिए कहकर गये और फिर तुमने मेरी सुध भी न ली। जब साध्वी एकपत्नी ने देखा कि ब्राह्मण अधिक क्रुद्ध हैं तब उसने उनसे बहुत ही मधुर शब्दों में कहा, हे महाराज आप मुझे क्षमा कीजिए। आपने सब वेदों का अध्ययन किया है और कठिन तपस्या की है। आप परम ज्ञानी हैं। आप जैसे धर्मात्मा पुरुष को क्रोध नहीं करना चाहिए। आप जानते हैं कि मेरे लिए पति ही परम देवता हैं, वे भी आपकी ही तरह भूखे और थके मांदे आए थे। इसलिए मुझे उनकी सेवा करने में ही इतनी देर लग गई।

ब्राह्मण ने कहा, तुम्हारी दृष्टि में ब्राह्मण तो कोई चीज ही नहीं है। तुम पति को ही सब से बढ़कर समझती हो। तुम गृहस्थ आश्रम में रहकर भी ब्राह्मण की अवज्ञा करती हो। मृत्युलोक के मनुष्यों का तो पूछना ही क्या है, देवता तक ब्राह्मणों को प्रणाम करते हैं। हे दाम्भिक स्त्री, क्या तू नहीं जानती और क्या तूने बड़ों से नहीं सुना है कि ब्राह्मण लोग अग्नि के समान हुआ करते हैं। यदि वे कुपित हों तो सारी पृथ्वी जला सकते हैं।

ब्राह्मण की यह बातें सुनकर उस सती ने कहा, हे महात्मा! मैंने कोई अपराध नहीं किया है इसलिए अपना क्रोध शान्त करें। आप क्रोध करके भी मेरा क्या कर लेंगे? यह ठीक है कि आप की कोप दृष्टि से मनुष्य जल जाता है पर मुझे आप की इस बात का कुछ भी भय नहीं है। मैंने कभी देवतुल्य ब्राह्मण की अवज्ञा नहीं की। मैं यह बात अच्छी तरह जानती हूँ कि तपस्वी ब्राह्मण का तेज कैसा हुआ करता है। परन्तु इस भूल के लिए आप उदारता पूर्वक मुझे क्षमा कीजिए। पति-सेवा में मेरी विशेष प्रवृत्ति है।

पति ही मेरे लिए सब से बड़े देवता हैं और मैं उन्हीं को परम देवता मानकर रात दिन उन्हीं की सेवा में मग्न रहना पसन्द करती हूँ। हे ऋषि ! आप जरा इस बात की ओर भी ध्यान दीजिए कि इसका फल कितना अधिक है ? मैं आप के कहने से पहले ही समझ गई थी कि आप मारे क्रोध के जल रहे हैं। परन्तु हे द्विजोत्तम, क्रोध मनुष्य के शरीर में रहनेवाला सब से बड़ा शत्रु है। जो मनुष्य क्रोध और मोह का त्याग कर सकता है उसी को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो मनुष्य संसार में रहकर सत्य बोलता है, अपने गुरु को सन्तुष्ट रखता है और दुःख तथा अपमान सहने पर भी दूसरों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं देता, उसीको देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं। जो मनुष्य सब धर्मों को समान समझ कर सब प्राणियों को अपने ही समान मानता है, उसीको देवता लोग ब्राह्मण समझते हैं। जो अध्ययन अध्यापन, यजन, याजन और यथाशक्ति दान करता है उसीको देवता लोग ब्राह्मण मानते हैं। ब्राह्मण को सदा कल्याण ही की बात कहनी चाहिए। जो लोग सत्यप्रिय होते हैं, वे कभी असत्य आचरण नहीं करते। धर्मज्ञ लोग सत्य और सरलता को ही परम धर्म मानते हैं। शाश्वत धर्म का मुख्य आधार सत्य ही है। हे मुनि, आपने इतना अधिक ध्यान किया है परन्तु फिर भी आपने धर्म का वास्तविक स्वरूप नहीं पहचाना है। यदि आप यह जानना चाहते हों कि धर्म वास्तव में क्या है तो आप मिथिला नगरी में धर्मव्याध के पास जाकर उससे पूछें। वह पारधि मिथिला नगरी में रहता है और अपने माता पिता की सेवा किया करता है। वह बहुत बड़ा सत्यवादी और जितेन्द्रिय है। वह आप को धर्म

का स्वरूप समझा देगा। हे महाराज ! आप का कल्याण हो। यदि आप की इच्छा हो तो आप उसके पास जाइए। यदि मेरे मुँह से कोई अनुचित बात निकल गई हो तो आप उसके लिए क्षमा कीजिए। क्योंकि धर्म-प्राप्ति की आशा रखनेवाले मनुष्य के लिए स्त्री जाति अवाध्य है।

ब्राह्मण ने कहा, हे पतिव्रता स्त्री! तेरा कल्याण होगा। मैं तुझ पर बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। और अब मेरा क्रोध शान्त हो गया है। तुमने जो चेतावनी के रूप में ये कटु वचन कहे हैं उनसे मेरा परम हित हुआ है। हे साध्वी! तुम्हारा भला होगा। अब मैं मिथिला नगरी में जाकर अपना काम करूँगा।

कौशिक ब्राह्मण को बिदा करके साध्वी एकपत्नी अपने स्वामी की सेवा शुश्रूषा में लगी। जब उसका देहान्त हुआ तब वह सीधी देवलोक को गई। उधर कौशिक ब्राह्मण मिथिला नगरी में धर्मात्मा पारधि के पास गया। वहाँ पारधि ने उससे कहा कि मुझे पहले ही पता लग गया था कि तुम्हें साध्वी एकपत्नी ने यहाँ भेजा है। पारधि की यह बात सुन कर कौशिक मन ही मन साध्वी एकपत्नी की प्रशंसा करने लगा। धर्मात्मा पारधि ने उसे अनेक प्रकार के उपदेश देकर उसे पातिव्रत्य-धर्म का महत्व अच्छी तरह समझा दिया।

पकाना चाहती थी और
करने में इसे जरा भी

श्रुतावती

यह भरद्वाज मुनि की कन्या थी और बहुत ही अतिथि-परा-
यण धर्मशील सत्यव्रत तथा परम सती थी। यह अपना
आचरण सदा तपस्वियों और सिद्ध मनुष्यों का सा रखती थी। इस
का रूप इतना अधिक सुन्दर था कि त्रैलोक्य में कोई इसकी बराबरी
नहीं कर सकता था। इस सुशीला स्त्री ने अपनी कौमारावस्था में
ही जब कि यह ब्रह्मचारिणी थी यह निश्चय किया था कि यदि
मैं विवाह करूँगी तो इन्द्र के साथ ही करूँगी। अपना यह
संकल्प पूरा करने के लिए यह कठोर नियमों का के पालन करके
घोर तपस्या करने लगी। इस प्रकार इस तपस्विनी कुमारी ने
बहुत दिनों तक दुःसाध्य और तीव्र तपस्या की। इसकी ऐसी
भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान इन्द्र एक बार महात्मा वशिष्ठ
का रूप धारण करके अतिथि की भाँति इसके यहाँ गए और
इससे भिक्षा माँगी। दयालु और प्रियभाषिणी श्रुतावती ने परम
तपस्वी वशिष्ठ ऋषि को देख कर उनका बहुत अधिक आदर
सत्कार किया और उनसे पूछा, भगवन! आप क्या भिक्षा चाहते
हैं? आप जो कुछ मागेंगे वह मैं आप को यथाशक्ति देने का
प्रयत्न करूँगी। परन्तु हे भगवन्, मैं व्रत, नियम और तपस्या द्वारा
यह प्रार्थना करती हूँ कि त्रिभुवनेश्वर इन्द्र मुझे पति रूप में मिलें।
इसलिए मैं और किसी के साथ पाणिग्रहण नहीं कर सकती।
वशिष्ठ रूपधारी इन्द्र ने इस कन्या की यह बात सुन कर मन
में रहता है और अपने मौर्य देने के लिए कहा, हे सुन्दरी! तूने
वह बहुत बड़ा सत्यवादी है। मैं तुम्हें बहुत अच्छी तरह जानता

हूँ। हे कल्याणि! तुमने जिस बिचार से यह कठिन तपस्या आरम्भ की है, तुम्हारा वह विचार सफल होगा। तपस्या के द्वारा सब कुछ मिल सकता है। तपस्या का फल बहुत अधिक है। तपोबल के द्वारा मनुष्य दिव्यलोक में निवास कर सकता है। तप ही महा सुख का मूल है। हे कल्याणी! मनुष्य इस लोक में इस प्रकार की कठिन तपस्या कर के मानव शरीर का त्याग करने के उपरान्त दैव शरीर धारण करता है। परन्तु तुम मेरी एक बात सुनो। मैं तुम्हें बेर के ये पाँच फल देता हूँ। इन्हें तुम पकाओ।

इन्द्र चाहते थे कि श्रुतावती की तपस्या में और अधिक दृढ़ता आवे इसलिए वे यह बात कह कर उसके आश्रम के पास ही बैठ गए और इस उद्देश्य से जप करने लगे कि जिसमें बेर के पाँचों फल पकें ही नहीं।

श्रुतावती ने तपस्या की थकावट उतारने के लिए पहले स्नान आदि किया और तब शुद्ध तथा पवित्र होकर उन पाँचों फलों को पकाने के लिए आग पर चढ़ा दिया। परन्तु सन्ध्या हो जाने पर भी वे फल न पके। उसके पास जितनी लकड़ियाँ थीं वे सब जल गईं। जब उसने देखा कि अब चूल्हे में आग नहीं रह गई, तब यह परम सुन्दरी श्रुतावती अपने शरीर के सब अंग जलाकर वह फल पकाने के लिए तैयार हुई। इस विचार से यह पहले अपने सुन्दर चरण कमल आग में जलाने लगी। महर्षि वशिष्ठ की इच्छा पूरी करने के लिए यह उन बेरों को पकाना चाहती थी और इसीलिए इस प्रकार का दुःसाध्य कर्म करने में इसे जरा भी

संकोच नहीं हुआ। यद्यपि उसका शरीर अग्नि में जल रहा था तथापि उसके मुखारविन्द पर किसी प्रकार के कष्ट या चिन्ता का कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता था। उसे केवल इसी बात की चिन्ता लग रही थी कि ये फल किसी प्रकार जल्दी से पक जायँ। यद्यपि श्रुतावती का सारा पैर आग में जल गया था पर फिर भी वह जरा भी चूं नहीं करती थी। उसकी ऐसी निष्ठा देखकर इन्द्रदेव बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना वास्तविक स्वरूप प्रकट करके कहा, हे तपस्विनी! मैं ही तुम्हारा इंद्र हूँ। तुम्हारा तप, नियम और भक्ति देखकर मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। अब तुम्हारी मनोकामना पूरी हो जायगी और तुम यह मानव शरीर त्याग कर सुरपुरी में मेरे ही पास रहोगी। और तुम्हारे सतीत्व तथा तपोबल के प्रभाव से यह तीर्थ सदा बदर पाचन नाम से प्रसिद्ध रहेगा। और ब्रह्मर्षि लोग भी इस तीर्थ की स्तुति किया करेंगे। विशुद्ध हृदयवाली सती अरुन्धती ने भी इसी स्थान पर सिद्धि प्राप्त करके महादेवजी से वरदान प्राप्त किया था। उसी प्रकार तुम भी इस समय मुझ से मनोवांछित वर मांग लो। तुम्हारी अद्‌भुत तपस्या से मैं बहुत ही सन्तुष्ट हुआ हूँ। इसलिए मैं वरदान देता हूँ कि जो कोई निष्ठापूर्वक एक रात भी इस स्थान पर निवास करेगा, वह स्नान कर चुकने के उपरान्त शरीर त्याग कर परम दुर्लभ परलोक प्राप्त करेगा। प्रतापी इन्द्र इतना कहकर और सती श्रुतावती को अपने साथ लेकर इन्द्रपुरी में चले गए। वहां दिव्य सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि होने लगी। दुन्दुभी तथा दूसरे मनोहर वाद्य भी बजने लगे। साध्वी श्रुतावती उस समय अपना पुराना शरीर त्याग कर अपनी उग्र

तपस्या के फल स्वरूप देवराज इन्द्र की भार्या वनी। इसके उपरान्त वह वहुत दिनों तक परम सुखपूर्वक स्वर्गपुरी में रही।

भोगवती।

यह पूर्वदेश के राजा विजयराज की कन्या थी। यह वहुत ही सुन्दर और सद्गुणी थी। इसने वेद, पुराण, न्याय आदि शास्त्रों का वहुत अच्छा अध्ययन किया था। यह परोपकार, नीति, आचार, विचार और स्त्री-धर्म में वहुत ही निपुण थी। राजा शूरसेन के पुत्र नागराज के साथ इसका विवाह हुआ था। नागराज वहुत ही वद्सूरत था और उसका स्वरूप वहुत ही भयंकर था। वह अवस्था में भी भोगवती से कुछ छोटा था। विजयराजा ने नागराज को विना देखे ही लोगों की वातों पर विश्वास करके अपनी अच्छी भली कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया था।

जव भोगवती ससुराल पहुँची, तव उसकी सास और ससुर को इस वात का साहस ही न हुआ कि वे ऐसी सुन्दरी वहू का अपने कुरूप पुत्र नागराज के साथ मिलाप करावें। उन लोगों ने यह प्रसिद्ध कर दिया कि नागराज कहीं वाहर गया हुआ है और इस प्रकार उन्होंने वर और वधू में मिलाप न होने दिया। भोगवती सन्तोष करके ससुराल में रहने लगी। वह दिन रात पातिव्रत धर्म का पालन करके अपनी सास और ससुर की सेवा में ही अपना सारा समय विताने लगी। जव इस प्रकार वहुत दिन वीत गए और उसे अपने पति नागराज के दर्शन न हुए, तव उस

के मन में इस बात की शंका उत्पन्न हुई कि कहीं इसके अन्दर कोई भेद तो नहीं है। वह धीरे धीरे गुप्त रूप से इस बात की जांच करने लगी। अन्त में उसे असली बात मालूम हो गई। इसलिए अन्त में उसने एक दिन अपने पति से कहला भेजा कि मैं आप के दर्शन करना चाहती हूँ।

पहले तो नागराज ने भी कुछ दिनों तक आनाकानी की। पर जब भोगवती ने कोई उपाय न देखा, तब वह अन्त में एक दिन अपनी दासी को साथ लेकर रात के समय नागराज के शयनागार में जा पहुँची। अपनी पत्नी को आते देखकर नागराज पहले तो बहुत घबराया परन्तु भोगवती ने उसके पैर पकड़कर कहा, प्राणनाथ! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं? मुझ दासी से ऐसा कौन सा अपराध हुआ है जिसके कारण आपने मेरा परित्याग किया है?

नागराज ने इस बात का कोई उत्तर न दिया। उस रात को भोगवती वहां से अपने शयनागार में लौट आई और तब से वह नित्य रात्रि के समय अपने पति के शयनागार में जाती और कुछ देर तक नागराज के पैर दबाकर फिर लौट आती थी। नागराज उसका अनादर करता था, उसे कठोर वचन कहता था और कभी कभी धमकाता भी था परन्तु वह किसी प्रकार नहीं मानती थी और नित्य रात के समय जाकर उसके पैर दबाती थी और फिर अपने शयनागार में लौट आती थी। इसी प्रकार बहुत दिन बीत गए। अन्त में नागराज ठिकाने आ गया और पति तथा पत्नी का मन एक हो गया। अब तो होते होते इन दोनों में

इतना अधिक प्रेम हो गया कि दोनों में से किसी को एक दूसरे के बिना क्षण भर भी चैन न पड़ता था।

एक दिन हँसी में नागराज ने भोगवती से पूछा, प्रिये! तू मेरा ऐसा विकट और भद्दा रूप देखकर कभी मुझसे डरती नहीं।

भोगवती ने उत्तर दिया, प्राणनाथ! स्त्री के लिए तो पति ही परमेश्वर है। तो फिर भला उसे उससे भय क्यों होने लगा? पति चाहे जैसा हो, पर उसकी सेवा करना ही स्त्री का धर्म है।

कुछ दिनों बाद नागराज की इच्छा गोदावरी में स्नान करने की हुई। इस यात्रा में भोगवती भी उसके साथ गई। दोनों ने बहुत ही प्रसन्न होकर श्रद्धा भक्तिपूर्वक गोदावरी में स्नान किया और गरीबों को बहुत सा धन दान दिया। कुछ तो जल वायु बदलने के कारण और कुछ गोदावरी में स्नान करने के कारण नागराज का स्वरूप बिलकुल ही बदल गया। उसकी कुरूपता एक दम से जाती रही और उसका रूप देखने में इतना सुन्दर हो गया कि जिन लोगोंने पहले उसे देखा था वे अब उसे पहचान भी नहीं सकते थे।

यात्रा समाप्त करने के उपरान्त भोगवती के साथ नागराज अपने देश को लौट आया। उस समय नागराज के छोटे भाइयों की नीयत बिगड़ी। वे लोग आपस में ही राज्य बांट लेना चाहते थे और नागराज को कुछ भी न देना चाहते थे, इसलिए उन लोगों ने नागराज को नगर में घुसने ही न दिया। इस कारण नागराज अपने भाइयों के साथ लड़ने को तैयार हुआ। परन्तु भोगवती ने उसे ऐसा करने से रोका और उसे समझाया, प्राणनाथ! मेरी अल्पबुद्धि में तो यह आता है कि भाइयों के साथ युद्ध

करना ठीक नहीं है। भाइयों से ही वल होता है और समय पड़ने पर भाई ही काम आते हैं। भाइयों से विगाड़ करने का फल अच्छा नहीं होता। देखो, रावण ने अपने भाई विभीषण के साथ विगाड़ किया था जिसका परिणाम यह हुआ कि सव राक्षस मारे गए और लंका नष्ट भ्रष्ट हो गई। वाली ने भी अपने भाई सुग्रीव के साथ विगाड़ किया था जिसका फल यह हुआ कि वाली मारा गया। इसलिए भाइयों के साथ मेल रखना ही ठीक है। जब आप अकेले होंगे तब जो चाहेगा वह आपका संहार कर सकेगा। परन्तु जब अपने भाइयों के साथ आपका मेल होगा तब वे आपत्ति के समय फिर भी आप का ही साथ देंगे। और तब फिर कोई आपका नाश नहीं कर सकेगा।

इस प्रकार भोगवती ने अनेक प्रकार के उदाहरण आदि देकर नागराज को वहुत कुछ समझाया बुझाया। भोगवती के परामर्श से नागराज और उसके छोटे भाइयों ने तीन दिन तक वामन चरित्र, ध्रुव चरित्र और भरत चरित्र आदि की कथाएं पढ़ीं जिससे उन सबके विचार वदल गए। सब भाइयों की द्वेष बुद्धि दूर हो गई और उनमें मेल हो गया। सव लोगों ने लड़ने भिड़ने का विचार छोड़ और छोटे भाइयों ने वहुत ही प्रसन्नता से सारा राज्य अपने वड़े भाई नागराज को सौंप दिया। इस प्रकार इस विदुषी भोगवती ने अपने क्रूर और अज्ञानी पति को सरल और विद्वान् वना दिया और उनके साथ वहुत ही सुख तथा आनन्द पूर्वक अपना सारा जीवन विताया।

सुदक्षिणा

रानी सुदक्षिणा रघुकुल के दीपक राजा दिलीप की पतिव्रता पत्नी थी। इनके पति से कामधेनु का अपमान हो गया था। जब गुरु वशिष्ठ से इन्हें इसका पता लगा, तो वशिष्ठ मुनि की आज्ञानुसार उस कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा करने के लिए अपने पति के साथ जंगल में चली गईं और ग्वाल की भाँति इन्होंने नन्दिनी गाय की सेवा की। कुल इक्कीस दिन इन्होंने नन्दिनी की सेवा की। बाईसवें दिन राजा जंगल में उस गाय को चरा रहा था कि इतने में एक महा भयानक शेर ने आकर गाय को पकड़ लिया। तब राजा ने अपनी जान को ख़तरे में डालकर—गाय के बदले अपना शरीर सिंह को समर्पण करने के लिए तैयार हो गया, और गाय को उसने शेर से छुड़ाली। इस पर नन्दिनी बड़ी प्रसन्न हुई और आशीर्वाद दिया कि रानी सुदक्षिणा की कोख से तुम्हें यशस्वी पुत्र प्राप्त होगा।

इस प्रकार राजा-रानी अपना व्रत पूर्ण कर और सफल मनोरथ होकर राजधानी में लौट आये। कुछ दिनों बाद रानी गर्भवती हुईं, और फिर उनके एक सुन्दर पुत्र पैदा हुआ। इस पुत्र का नाम रघु रक्खा गया। राजा दिलीप और रानी सुदक्षिणा ने रघु को अच्छी शिक्षा दी थी। और यह भी बड़ा पराक्रमी राजा हुआ था; यहाँ तक कि इस वंश में होने के कारण भगवान रामचन्द्र तक राघव नाम से पहचाने जाते हैं। रानी सुदक्षिणा के बारे में विशेष कुछ तो मिलता नहीं, पर इनके पातिव्रत्य की बड़ी तारीफ़ थी। यहाँ तक कि, कालीदास सरीखे महाकवि तक ने

अपने रघुवंश महाकाव्य में इनके पातिव्रत्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसीलिए इनका चरित्र यहाँ देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सके।

इन्दुमति

यह भी प्राचीन समय में एक आदर्श महिला हो गई हैं। यह विदर्भ (विहार) देश के राजा भोज की बहन थी। विदर्भ राजकुल की कन्याएं रूप-लावण्य में प्रायः अद्वितीय ही हुआ करती थीं, ऐसी दशा में इन्दुमति का असाधारण सुन्दरी होना स्वाभाविक ही था। इसके सिवा यह सद्गुणों से भी सम्पन्न थी। भाई ने देश काल के अनुसार इसे उच्च शिक्षा देने में भी कोई कसर न रक्खी थी। महाकवि कालीदास ने इस विदुषी का परिचय देते हुए कहा है:—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रिय शिष्या ललिते कलाविधौ।

अर्थात्, यह उत्तम गृहिणी पति के काम में अच्छी सलाह देनेवाली, उसकी उत्तम मित्र के समान अथवा सुख भोग में उसकी उत्तम सहचरी और मन बहलाव की कलाओं में उसकी प्यारी शिष्या थी। इसके सौन्दर्य और सद्गुणों की तारीफ इस समय चारों ओर फैल गई थी। जब यह जवान हुई, तो इसकी इच्छा के मुताबिक, राजा भोज ने इसके लिए स्वयंवर रचाया और देश-परदेश से आये हुए अनेक राजाओं के वंशों का वर्णन सुन लेने पर, रूप और सद्गुणों की प्रमी इन्दुमति ने प्रसिद्ध कुल के और

रूप-गुणों से युक्त राजा अज को वरमाला पहना दी। ईश्वर के अवतार श्री रामचन्द्रजी के पिता राजा दशरथ इसी की कोख से पैदा हुए थे।

वेदवती

यह विदुषी बड़ी विद्वान और धार्मिक थी। महात्मा कुशध्वज के औरस से मालवती के गर्भ में इसका जन्म हुआ था। पैदा होते ही इसमें ऊँचे दर्जे का ज्ञान हो गया था और सोवड़ (सूतिका गृह) में ही इन्होंने वेद का पाठ किया था। इसीलिये विद्वानों ने इनका नाम वेदवती रक्खा था। पहले ज़माने में माता-पिता कन्याओं को विवाह करने के लिए बाध्य नहीं करते थे। जो स्त्री अपनी इच्छा से कुंवारी रहना चाहती, उसे उसके मा-बाप खुशी से ऐसा करने देते थे। वेदवती भी ऐसी ही एक आजन्म कुमारी स्त्री थी। और राज कन्या होते हुए भी, तपस्या करने के लिए, यह बन में जा बसी थी।

राजपूताने में, अजमेर से थोड़ी ही दूर पर, पुष्कर नाम का एक तीर्थ है। इस पुष्कर तीर्थ में बालिका वेदवती ने एक मन्वन्तर तक तपस्या की थी; पर इससे उन्हें कुछ भी हानि नहीं पहुँची थी। उल्टे निराहार तपस्या करने से उसकी जवानी और खिल उठी थी। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट एवं तेजस्वी हो गया था। एक दिन उसे देववाणी सुनाई दी कि "हे सुन्दरी! अगले जन्म में तू जगदीश्वर हरि को पति के रूप में प्राप्त करेगी। ब्रह्मादि देवता तक

जिसकी आराधना करते हैं ऐसे पति से विवाह कर तू परम सुख में अपना जीवन व्यतीत कर।" इस प्रकार देववाणी सुनकर वेदवती का उत्साह और भी वढ़ गया और वह और भी मिहनत से तपस्या करने लगी। गन्धमादन पर्वत पर एक जगह एकान्त देख कर उसके सामने इन्होंने कठोर तपस्या शुरू कर दी। एक दिन लंकापति रावण उसके सामने आ खड़ा हुआ। अतिथि समझ कर वेदवती ने अर्घ्य, पाद्य आदि से उनकी पूजा की और स्वादिष्ट फल-फूलादि व कन्द मूल खिला कर उसे ठण्डा जल पिलाया। पापी राक्षस भोजन करके उसकी ओर वढ़ गया और पूछने लगा—"सुन्दरी! तू कौन है? और किसकी कन्या है?" वेदवती ने कुछ भी उत्तर न दिया। मूर्ख-मति रावण इस मनोहारिणी, शरद ऋतु के कमल के समान प्रफुल्ल वदन, सुहासिनी, सुन्दर और नौजवान वेदवती को देख कर सुध-बुध भूल गया और उसे खींचने को तत्पर हुआ। यह देख सती वेदवती की आँखों से क्रोधाग्नि वरसने लगी, और यह दुष्टात्मा स्तम्भित हो गया। यहाँ तक कि वह हिल-डुल भी न सका। तव यह पापी मन-ही-मन पवित्र सती वेदवती की अभ्यर्थना करने लगा। वेदवती ने उसकी प्रार्थना सुनी तो उसे फिर से सचेत कर दिया और कहा—"तूने मेरे साथ जो जुल्म किया है, उसके कारण बन्धु-वान्धवों के साथ तेरा नाश होगा।" यह शाप देकर सती थर-थर कांपने लगी। फिर स्थिर होकर वोली—"तूने आज मेरे शरीर को स्पर्श कर लिया है। इसलिये अब मैं इस अपवित्र देह को ही छोड़े देती हूँ; तू इसके दर्शन कर।' ऐसा कह कर महाज्ञानी, धर्मपरायण, योगिनी वेदवती ने योगवल से अपने प्राण-

वायु को रोक दिया और ज्योतिर्मयी आभा से वन को प्रज्वलित करके वह दिव्यलोक में चली गई। रावण उसके शव को गंगा में डाल आया और इस प्रकार विलाप और पश्चात्ताप करता हुआ घर गया कि "आज! कैसी अद्भुत घटना देखी! हाय! मैंने ऐसा अन्याय का काम क्यों किया?" अस्तु! यही महासती बेदवती दूसरे जन्म में राजा जनक के यहाँ सीता के रूप में पैदा हुई थी।

रेणुका

यह रेणुक नामक राजा की पुत्री और महर्षि जमदग्नि की पत्नी थीं। भूमण्डल को इक्कीस बार क्षत्रियों से रहित करने वाले पराक्रमी परशुराम इन्हीं के गर्भ से पैदा हुए थे। रेणुका एक विदुषी और पति-परायण स्त्री थीं। एक दिन यह गंगा के किनारे पानी भरने गई थीं, वहाँ इन्होंने एक गन्धर्व को स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा करते हुए देखा। कभी-कभी सतगुणी मनुष्यों में भी रजो-तमोगुण प्रकट हो जाते हैं। यही हाल इनका भी हुआ अर्थात् जलक्रीड़ा को देखकर रेणुका के मन में रजो-तमो गुण प्रकट हुए और घड़े को नीचे रख कर वह उस जलक्रीड़ा को देखने लगी। पर कुछ ही देर में उसे ध्यान आया कि ओह! मैंने यह क्या भूल की? इतने बरस से बनवास और धर्मचर्चा करते रहने पर भी मुझे ऐसा दृश्य देखने की इच्छा हुई! सचमुच यह मेरे लिए ठीक नहीं। इसी प्रकार पछताती हुई पानी भर कर यह पति के पास गई। पतिव्रता स्त्रियां पति से कोई भेदभाव नहीं

रक्खा करती। उनके मन में यदि कोई विकार उत्पन्न होता है तो पति के सामने दिल खोलकर उसे कह कर ही उन्हें सन्तोष मिलता है। तदनुसार रेणुका ने भी पति से सब हाल कह दिया।

पर जमदग्नि ऋषि बड़े क्रोधी थे। रेणुका की बात सुनकर उन्हें बड़ा गुस्सा आया, और उसी आवेश में अपने पुत्रों को उन्होंने आज्ञा दी कि अपनी माता (रेणुका) का सिर काट डालो। उनकी इस आज्ञा का पालन और किसी पुत्र ने तो न किया, पर परशुराम ने इस आज्ञा का पालन कर माता रेणुका का सिर काट डाला। इस पर पिता (महर्षि जमदग्नि) उन पर प्रसन्न हुए, और इसके उपलक्ष्य में वर माँगने को कहा। तब परशुराम ने यह वर माँगा कि माता जिन्दा हो जाय और उसे इस बात की याद न रहे। जमदग्नि ने इस पर 'तथास्तु' कहा और रेणुका फिर से जिन्दा हो गई। अस्तु।

रेणुका बड़ी साध्वी पत्नी थी। उसके पति जमदग्नि ऋषि को कार्तवीर्यार्जुन नामक एक राजा ने मार डाला। जब उसने यह खबर सुनी, तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उन्मत्त स्त्री की नाईं वह खुले सिर, हाँफती और दौड़ती हुई रणभूमि में जा पहुँची और पति के सिर को गोद में रखकर विलाप करने और अपने वीर पुत्र परशुराम को पुकारने लगी। इस समय परशुराम पुष्कर तीर्थ में तपस्या कर रहे थे। तपोबल के द्वारा उन्हें माता का यह आह्वान मालूम पड़ गया। तब वह अपने योगबल से तुरन्त ही माता के पास जा पहुँचे। पिता को मृत और माता को शोकातुर देखकर वह खुद भी रोने लगे और माता से उन्होंने पिता की मृत्यु का कारण पूछा। इस पर रोते-रोते रेणुका ने कहा:—

" बेटा ! एक दिन राजा कार्त्तवीर्यार्जुन अपने आश्रम में महमान होकर आया था । तब तुम्हारे पिता ने उसका बड़ा आदर-सत्कार किया । यहाँ तक कि राजा उनका वैभव देखकर खुश हो गया और जब उसे यह मालूम हुआ कि यह सब कामधेनु के कारण है तो उसने उनसे कामधेनु को माँगा । पर तुम्हारे पिता ने गाय को देने से साफ़ इन्कार कर दिया । इस पर दोनों जनों में खूब लड़ाई हुई । और अन्त में राजा कार्त्तवीर्यार्जुन हारा और घायल हुआ । तब जैसा कि वीर पुरुषों को चाहिये, तुम्हारे पिता उसे अपने आश्रम में ले आये और सेवा-शुश्रूषा द्वारा उसे भला चंगा करके विदा किया । पर क्षत्रियों की वैराग्नि ऐसे ही शान्त थोड़े ही हो जाती है! अतः उसने तपस्या करके दत्तात्रय मुनि से शक्ति बाण प्राप्त किया और उसी बाण से तुम्हारे पिता का सर्व नाश कर दिया । बेटा ! अब देर न करो, और पिता के साथ ही मेरी अन्त्येष्टि के लिए भी चिता तैयार कर दो; और पुत्र ! अब तुम क्षत्रियों के साथ युद्ध करने न जाना । " माता की इन बातों को सुनकर परशुराम भी रोने लगे और माता के मना करने पर भी उन्होंने प्रतिज्ञा की कि " मैं इस भूमण्डल को इक्कीस बार जरूर ही क्षत्रियों से रहित कर दूंगा । क्षत्रिय कुल में जन्म लेनेवाले दग़ाबाज़ और पापी कार्त्तवीर्य को समूल नष्ट करूँगा और क्षत्रियों के रक्त (खून) से पिता का तर्पण करूँगा। मा ! जो पुत्र अपने पिता की आज्ञा का पालन नहीं करते और पिता या माता को मारनेवाले का सिर नहीं काटते, वे पुत्र मूर्ख माने जाते हैं और मरने के बाद रौरव नरक में जाते हैं । जो लोग दूसरों का घर जला डालते हैं, अन्न में जहर मिलाते हैं, हत्या

करने के लिए हथियार उठाते हैं, पराया धन या भूमि हजम करते हैं, साध्वी स्त्री का सतीत्व भंग करते हैं, मा या बाप की हत्या करते हैं, चुपके-चुपके बुराई करके किसी की रोजी (आजीविका) को नुकसान पहुँचाते हैं, बन्धु-बान्धवों का अनिष्ट करते हैं, रात-दिन किसी से दुशमनी रखते हैं, अथवा कटुवचन कह कर लोगों में अपना अपमान कराते हैं, ऐसे ग्यारह तरह के अनिष्टकारी मनुष्यों को मार डालने की शास्त्र में इजाजत है। हे माता! पिता के वध का अपमान अब मुझ से नहीं सहा जा सकता।"

इस पर रोते हुए पुत्र को छाती से लगा कर उसके गाल तथा मस्तक को चूमते हुए रेणुका ने कहा—"बेटा परशुराम! तुम्हें छोड़कर मैं कहाँ जाऊँगी? तुम मुझे प्राणों से ज्यादा प्यारे हो, परन्तु मैंने शरीर छोड़ देने का संकल्प कर लिया है, इस लिये मैं तो तुम्हारे पिता के साथ ही जाऊंगी, पर तुमसे जहाँ तक हो सके, मेरे उपदेश पर ध्यान देना। तुम सुख से घर जाकर तपस्या में अपना जीवन बिताओ। लोगों के साथ झगड़ा न करना ही ठीक है। विरोध करने से अनेक उपद्रव सहने पड़ते हैं, यहाँ तक कि मरने तक पर नौबत आ जाती है। इसलिये हे बेटा! निर्दयी क्षत्रियों के हाथ झगड़ा करना ठीक नहीं। पर तुमने प्रतिज्ञा की है, इससे तुम रुकनेवाले तो हो नहीं, फिर भी मैं जो कहती हूँ, उस पर ध्यान रखना। पितामह भगवान ब्रह्मा और उत्तम सलाह देनेवाले भृगु मुनि के साथ बातचीत करके उनके कहने के मुताबिक काम करना। क्योंकि पंडितों से सलाह करके जो काम किया जाता है वह बड़ा उपयोगी निकला करता है।" इतने में दुःखित चित्त भृगु ऋषि स्वयं ही वहाँ आ पहुँचे

और परशुराम तथा रेणुका को समझाने लगे कि ज्ञानी हो कर भी तुम लोग व्यर्थ में विलाप क्यों कर रहे हो ? इस पृथ्वी पर स्थावर, जंगम आदि जो कुछ भी है वह सब पानी के बुदबुदे के समान क्षणभंगुर है। जो गया सो पीछे आने का नहीं। इस लिये अब उसकी चिन्ता करना छोड़ दो। सदैव मोजूद रहने वाली सत्य वस्तु जो परमात्मा है, उसी का चिन्तन करो। हे पुत्र ! संसार में कोई किसी का पिता नहीं है, न कोई किसी का पुत्र है। यह सब भ्रम है, यह निश्चय जानो। इसीलिये बुद्धिमान लोग अपने सगे-सम्बन्धियों के मरने पर कभी नहीं रोते। हे पुत्र ! तुम भी अपने पिता की मृत्यु के लिए शोकातुर होकर रोना छोड़ दो ! शास्त्र में लिखा है कि पुत्र, स्त्री आदि के आँसू पड़ने से परलोकगत आत्मा का अधःपतन होता है। फिर सैकड़ों वर्षों तक क्यों न रोते रहो, कुछ नतीजा नहीं। शरीर में निवास करनेवाले परमात्मा के चले जाने पर शरीर में का पृथ्वी का अंश पृथ्वी में; जल का भाग जल में, आकाश का महाकाश में, वायु का प्रवल वायु में और तेज का भाग तेज में मिल जाता है। जीव की मृत्यु के बाद केवल नाम, विद्या और कीर्त्ति ही क़ायम रहते हैं। अतः अपने पिता के परलोक के कल्याण के लिए तुम उनकी अन्त्येष्टि क्रिया करो। जो परलोक गत मनुष्य का हित साधन करता है वही उसका सच्चा बन्धु या पुत्र होता है। जमदग्नि के पिता भृगु ऋषि के इस उपदेश से परशुराम और उनकी माता का शोक बहुत कुछ शान्त हुआ और रेणुका अपने ससुर से पूछने लगी—"मैं चाहती हूँ कि अभी-की-अभी पति के साथ जल मरूँ। परन्तु मुझे ऋतुकाल (मासिक धर्म) है,

जिसे आज चौथा दिन है, और इस कारण मैं अपवित्र हूँ। ऐसी दशा में बताइये कि मैं क्या करूं? आप वेदशास्त्र के ज्ञाता हैं। मेरे भाग्य से आप ठीक वक्त पर यहाँ आ पहुँचे हैं। अतः जैसा आप कहें, मैं वैसा ही करूँ।" इस पर प्रसन्न होकर भृगु मुनि ने कहा—"हे पतिव्रता! तू आज ही अपने पुण्य-वान पति का अनुगमन कर, क्योंकि ऋतु प्राप्ति के चौथे दिन ही स्त्रियाँ पति के तमाम कामों की अधिकारिणी होती हैं। परन्तु देवता तथा पितरों के कार्य का अधिकार चौथे दिन नहीं मिलता, यह कार्य पाँचवें दिन ही हो सकता है। पतिव्रता स्त्री का पति पापी हो तो भी अपने शुभ कर्मों के माहात्म्य से वह उसको स्वर्ग में लेजा सकती है। सच्ची स्त्री तो वही है कि जो पातिव्रत्य धर्म का पालन करती है और वही पुत्र सच्चा पुत्र है जो माता पिता की भक्ति करता है। इसी प्रकार जो आदमी ऐन मौके पर दान करके जीवन बचाये वही सच्चा बन्धु, जो गुरु की सेवा-टहल करे वही सच्चा शिष्य और जो विपत्ति में प्रजा की रक्षा करे वही राजा के नाम से पुकारा जाने का अधिकारी होता है। जो अपनी पत्नी को धार्मिक विषयों की ओर प्रेरित करे, वही सच्चा पति, जो अपने शिष्य को ईश्वर की भक्ति सिखावे वही सच्चा गुरु है। चारों वेद और शास्त्रों तथा पुराणों में ऐसे व्यक्तियों के ही गुण गाये गए हैं।" यह सुनकर रेणुका ने फिर पूछा—"हे मुनिवर! भारतवर्ष में कैसी स्त्री पति के साथ जाने की अधिकारिणी मानी जाती है, और कैसी नहीं, यह भी कृपा करके समझा दीजिए।" भृगु मुनि ने जवाब दिया—"जिस स्त्री का पुत्र बालक हो, जो गर्भवती प्रतीत हो, जिसे ऋतुकाल (मासिक)

कभी न हुआ हो, जो ऋतुमती (रजस्वला) हो, जो व्यभिचा-रिणी हो, जिसे कोढ़ की बीमारी हो, जिसने पति के जीतेजी उसकी सेवा-टहल न की हो, जिसमें पति के प्रति भक्ति न हो, जो पति के प्रति सदैव कटु बचन व्यवहार करती हो, ऐसी स्त्रियाँ संसार में ख्याति प्राप्त करने के लिए पति के साथ जल मरें तो भी उन्हें इसका फल नहीं मिलता। वास्तव में देखा जाय तो ऐसी स्त्रियाँ सहगमन की अधिकारिणी ही नहीं। और सब स्त्रियाँ पति का अनुगमन कर सकती हैं—उसके साथ सती हो सकती हैं। संक्षेप में, पति के साथ सती होने के लिए यही नियम हैं। बेटा परशुराम ! अब तुम अपने पिता के शव को चिता पर रक्खो और 'हे जीव ! तुम दिव्यलोक में जाओ' इस मंत्र का पाठ करके अग्नि-संस्कार करो। इसीके अनुसार जमदग्नि का अग्नि-संस्कार हुआ। इसके बाद पुत्र का आलिंगन करके रेणुका पति की शय्या में शयन कर के भस्म हो गई और पति-पत्नि एक साथ दिव्य लोक में जा पहुँचे।

धन्या

राजर्षि जनक की पत्नी और जानकीजी की माता, यह साध्वी धन्या बड़ी पति-परायणा और वैरागिणी थी। बहु-मूल्य वस्त्रालंकारों को छोड़ कर यह भी पति की तरह ही बल्कल वस्त्र धारण कर के रहती और फल, मूल आदि का भोजन करती थी। अपने राजवैभव में इसे कोई आसक्ति न थी। पति के प्रति

इसे ऐसी भक्ति थी कि जब तक पति न खा लेते, तक तक यह कभी भोजन न करती। तपस्या में निमग्न रह कर राजर्षि जनक बहुत दिनों तक भूखे रहते, तो उनके साथ यह भी बिल्कुल भूखी ही रहती। पति जब ध्यान समाप्त करके आहार करते, तब उनका बचा हुआ फलाहार यह खाती थी। पति की आज्ञा के बिना यह कोई काम न करती थी। सब पर बड़ा स्नेह रखती थी। सीताजी यद्यपि इसके गर्भ से पैदा नहीं हुई थीं, फिर भी इस पाली हुई कन्या (सीता) को यह प्राणों से भी ज्यादा प्यार करती थी। यहाँ तक कि सीताजी जब पाताल में चली गईं, तो कन्या के शोक में अपने पति से आज्ञा लेकर इसने भी अपना शरीर त्याग दिया था !

कौशल्या

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी की जननी कौशल्या देवी के नाम को भारतवर्ष में बालक से लेकर वृद्ध तक भला कौन नहीं जानता ? यह कौशल देश की राजा की पुत्री और अयोध्या के महाराजा दशरथ की महारानी (पटरानी) थीं। परन्तु पटरानी होते हुए भी पति पर इनका विशेष स्नेह था। स्त्रियों के लिए पति का प्रेम सब से बढ़ कर सुख का कारण होता है; लेकिन कौशल्या के भाग्य में यह सुख न बदा था। परन्तु पतिव्रता होने के कारण उस बारे में पति से उन्होंने कभी कोई शिकायत न की, न दूसरों के आगे उन्होंने पति की निन्दा

ही की । हाँ, रामचन्द्र के वनवास के समय में उनके हृदय के इस दुःख का उबाल सहज ही बाहर निकल आया था। उस समय अकस्मात् उनके मुँह से यह निकल पड़ा था कि महाराज की तरफ से मुझे कुछ भी सुख या कल्याण नहीं मिला।

इनकी सौत कैकेयी के नौकर चाकर इन्हें बड़ा तंग करते थे। यहाँ तक कि इस सम्बन्ध में एक बार इन्होंने यहाँ तक कह डाला था कि स्वामी प्रतिकूल हैं, इससे कैकेयी के नौकर मुझे बड़ा सताते हैं। स्त्रियों के लिए अपनी सौत के तानों और अपमान से बढ़कर भला और क्या दुःख हो सकता है ? फिर जो मेरी खिदमत करती हैं उन्हें हमेशा कैकेयी के गुस्से से डरते रहना पड़ता है। मैं तो कैकेयी की बान्दी सरीखी हो रही हूँ—नहीं-नहीं उससे भी गई गुजरी हूँ। निश्चय ही माता कौशल्या ने यह बातें बड़े दुःख के साथ कही थीं।

परन्तु इस दुःख में भी इन्हें यदि कोई सुख प्राप्त था तो वह रामचन्द्रजी सरीखे उत्तम पुत्र की प्राप्ति का था। यह पुत्र भी कोई सहज ही न मिल गया था। पुत्र के लिए इन्होंने बड़ी तपस्या की थी और अनेक शारीरिक कष्टों को सहा था। रामायण के आदिकाण्ड (बालकाण्ड) से मालूम होता है कि पुत्र-प्राप्ति के लिए एक बार सारी रात इन्होंने घोड़े की सेवा में जागते हुए ही बिता दी थी। रात-दिन तप और उपवास में रहनेवाली इस विदुषी का स्वभाव सदा शान्त, नम्र, मधुर, और कोमल था। बहन की भाँति वर्त्ताव रख कर नादान कैकेयी की निष्ठुरता को इन्होंने बहुत कुछ दूर कर दिया था। क्षमाशील कौशल्या ने कैकेयी के सैकड़ों अत्याचारों को सहा था। और सब से बड़ी

बात तो यह थी कि स्वामी के ऊपर कैकेयी ने जो एकाधिपत्य यानी अपनी ही तमाम सत्ता जमा ली थी, उसे भी चुपचाप बरदाश्त करके कैकेयी के प्रति इन्होंने छोटी बहन जैसा ही प्रेम रक्खा था। इनका सारा समय पूजा-पाठ और व्रत में ही व्यतीत होता था। स्वामी का आदर प्राप्त न होने से परम पिता जगदीश्वर के चरणों में ही इन्हें शान्ति मिलती थी। जगत में इनके लिए शान्ति नहीं थी; पर जो अनाथों का नाथ अपने स्नेह-रूपी कोमल बाहु से दुःखियों को छाती से लगाता है, कौशल्या ने उस परम करुणामय भगवान का ही आश्रय लिया था। यही कारण था कि संसार के अनेक दुःख पाने पर भी इनके स्वभाव में कठोरता या कड़वापन नहीं आया था, प्रत्युत इनके जीवन में अमृतरस खूब भरा था। रामायण में कौशल्या को रात-दिन देवताओं की सेवा में ही लगी रहते देख कर यही प्रतीत होता है, मानों संसार के दुःखों से बचने ही के लिए यह भगवान की आराधना में अपना समय बिताती थीं।

इस दुखिया माता के लिए यही एकमात्र सुख था कि इ से रामचन्द्रजी जैसा पुत्र मिला था। जिस दिन रामचन्द्रजी ने इन्हें अपनी राज्याभिषेक की खबर सुनाई उस दिन इन्होंने बड़े प्रेम से देवताओं की पूजा की थी। उस दिन उन्होंने सोचा कि आज मेरा पूजा-पाठ सार्थक हुआ है। रामचन्द्र में दूसरे बहुत से गुण होने पर भी वह तो उनके इसी गुण को सबसे बढ़ कर समझती थी कि पिता उन्हें (राम को) चाहने लगे थे। इस गुण को याद करके ही उन्होंने रामचन्द्रजी से कहा था, कि "हे पुत्र! तैंने बड़े शुभ समय में जन्म लिया है जो अपने गुणों से

महाराज दशरथ को अपने पर प्रसन्न कर लिया।" राजा दशरथ का प्रेम प्राप्त करना कितना अलभ्य (महा कठिन) था, इसका अनुभव कोशल्या अपनी जन्म भर की तपस्या से कर चुकी थीं; इसीसे वही इसका पूरा मूल्य जान सकती थीं। अस्तु, शुभ अभिषेक की खबर पाकर खुशी के मारे जो आँसू निकले उन्हें पोंछ कर उन्होंने पुत्र को आशीर्वाद दिया।

आज राम के राज्याभिषेक का दिन है। अनेक वर्षों में आज प्रेमपूर्वक इस उत्सव में उपस्थित होने का निमंत्रण मिला है। पर गम्भीर कौशल्या देवी इससे उछल न पड़ी, खुशी के मारे ओत-प्रोत नहीं हो गई, प्रत्युत इस दिन भी उन्होंने मामूली गहने-कपड़े पहन कर ही अपने हृदय की खुशी को ज़ाहिर किया। ग़रीबों, ब्राह्मणों और भिखारियों को उन्होंने दान दिया था और पुत्र के मंगल के लिए पवित्र पीताम्बर धारण करके अग्नि में आहुति दे रही थीं। देवताओं की पूजा करने से धर्मिष्ठ कौशल्या की सब मनोकामना पूर्ण हुई और अब वह और भी जोरों से देवार्चन में लग रही थीं।

परन्तु युवराज्याभिषेक के शुभ दिन ही पिता ने रामचन्द्रजी को अयोध्या से चले जाने की आज्ञा दी। तब उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर माता से अन्तिम विदा लेने के लिए रामचन्द्रजी अन्तःपुर में गये। पुत्र-वत्सल कौशल्या तमाम रात जागरण करके सुबह के वक्त पुत्र के कल्याण के लिए विष्णु-पूजा कर रही थी। इस समय वह सादे कपड़े पहने हुए थी, और मंगला चरण करके हवन कराने में निमग्न थी। जिस वक्त राम ने प्रवेश किया, वह अग्नि में आहुतियां दे रही थीं। दही, दूध, अक्षत,

घी, शक्कर, तिल, जौ आदि पूजा की सब चीजें तैयार रक्खी हुई थीं। रामचन्द्र ने माता को सफ़ेद कपड़े पहने, दुर्बल शरीर और तपः परायण दशा में देखा। जिस पुत्र के मंगल के लिए कौशल्या पूजापाठ और होम-हवन कर रही थीं उसी प्यारे पुत्र को अपने सामने खड़े देखा, तो उन्हें बड़ी खुशी हुई। रामचन्द्र ने जब प्रणाम किया तो माता कौशल्या ने आलिंगन करके उनका मस्तक सूंघा और आशीर्वाद देकर आसन पर बैठा कर भोजन करने के लिए उनसे आग्रह करने लगीं। पर श्रीरामचन्द्रजी ने जवाब दिया, कि मैं तो दण्डकारण्य में जाता हूँ, इससे आपके पास विदा होने आया हूँ। माता! आप तथा सीता और लक्ष्मण पर बड़ी भारी विपत्ति आ पड़ी है; पर आपको उसका कुछ भी पता नहीं है। मैं आज से वनवासी होनेवाला हूँ, तो फिर मैं आप का आसन कैसे स्वीकार करूं? मेरा तो कुशासन पर बैठने का समय नजदीक आ पहुँचा है। अब तो मुझे मुनियों की तरह रह कर, कन्द-मूल और फल-फूल खाकर चौदह बरस तक बाहर रहना पड़ेगा। महाराज! मुझे निर्वासित करके भरत को राजसिंहासन पर बैठाते हैं; इसीलिये चौदह वर्ष तक मुझे वनवास करना पड़ेगा।

कुल्हाड़ी का प्रहार होने पर कोमल वृक्ष की जो दशा होती है, कौशल्या की भी इस बात को सुन कर वैसी ही दशा हुई। स्वर्गभ्रष्ट देवता की भाँति वह एक दम जमीन पर गिर पड़ीं और बेहोश हो गईं। रामचन्द्रजी ने अपने कोमल हाथों से शुश्रूषा करके उन्हें बैठा किया। जिस राजमहिषी को कभी दुःख न भोगना पड़ा उसे आज अपने प्राणों से प्यारे पुत्र को वियोग का अवसर उपस्थित होने पर कितना गहरा घाव लगा होगा, यह एक

ऐसी बात है कि जिसका सब कोई अनुमान लगा सकते हैं। अधिक क्या कहें, संक्षेप में, कौशल्या देवी का इस समय का विलाप बड़ा ही हृदयवेधक था, सुननेवालों के हृदय फटे जाते थे। अस्तु!

इस प्रकार खूब विलाप कर लेने पर जब कौशल्या का चित्त कुछ स्थिर हुआ तो रामचन्द्रजी ने हाथ जोड़ कर कहा कि हे माता! आप प्रसन्न मन से मुझे आशीर्वाद दीजिये कि जिससे बन में जाकर मैं राज़ी-खुशी रहूँ। माँ! प्रेम के वश होकर आप डरिये नहीं, आपकी कृपा से बन में भी आनन्द ही होगा। और चौदह बरस बन में रह कर, पिताजी का बचन पालन करके, आपके देखते-देखते मैं वापिस आकर आपके चरणों के दर्शन करूंगा। माँ! आप मन को ज़रा भी दुःखी मत करो।

पुत्र की ऐसी कोमल और मीठी बातें सुन कर माता शान्त हो गई। उनके हृदय का दुःख वर्णनातीत था। वह थर-थर काँपने लगीं। पर अन्त में धीरज धर पुत्र का मुख देख कर गद् गद् स्वर से बोली—"हे पुत्र! तुम तो अपने पिता के प्राणों के समान प्यारे हो, और वह सदैव तुम्हारे काम देख-देख कर प्रसन्न होते हैं। उन्होंने ही तुम्हें राज्य देने के लिए शुभ दिन निश्चित किया था। ऐसी दशा में किस अपराध पर बन जाने के लिए कहा? बेटा! मुझे इसका असली कारण तो समझाओ कि सूर्यवंश के लिए कौन आग बना है?"

तब रामचन्द्रजी ने विस्तार से सब बात कही। अब तो कौशल्या धर्म संकट में पड़ गईं। धर्म और स्नेह दोनों ने उनकी बुद्धि को घेर लिया। इस समय उनकी हालत सांप-छछूँदर 'की सी हो रही थी। वह सोचने लगी कि अगर आग्रह करके पुत्र

को रखती हूँ तो धर्म जाता है और भाइयों के साथ पुत्र की दुशमनी होती है, और वन में जाने को कहती हूँ, तो भी बड़ा नुक़सान होता है। अन्त में धर्म की ही विजय हुई। चतुर रानी कौशल्या ने धीरज धरकर कहा—"वेटा! जाओ। तुम्हारी भला-बला मैं अपने ऊपर लेती हूँ। तुमने जो सोचा है, वह ठीक ही है। पिता की आज्ञा का पालन करना ही सब से बड़ा धर्म है। वेटा! तुम्हें राज्य देने के लिए कहा था, पर दिया गया वन; इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मुझे तो सिर्फ़ इसी बात का दुःख है कि तुम्हारे बिना भरत, महाराज और सारी प्रजा को बड़ा दुःख होगा। इसलिये बेटा! अगर अकेले पिता ने ही वन जाने को कहा हो, माता ने नहीं, तो माता को पिता से बड़ी मानकर तुम वन में मत जाओ; पर अगर माता पिता* दोनोंने आज्ञा दी है तो तुम्हारे लिए वन भी अयोध्या जैसा ही है। वन के देवता तो तुम्हारे पिता हैं और वनदेवियां ही माता और पक्षी, मृग आदि तुम्हारे कमल-रूपी चरणों के सेवक। राजाओं को अपनी अंतिम अवस्था (बुढ़ापे) में वनवास करना चाहिये, पर तुम्हारी तो अभी प्रथमावस्था (बालपन) ही है; इससे मेरा जी घबराता है। हे रघुकुल तिलक! तुम जिस जंगल में जाओगे वह जंगल भाग्यवान होगा और यह अयोध्या तुम्हारे न रहने से भाग्यहीन

---

* यहां माता पिता के शब्द से कौशल्या का मतलब कैकेयी और दशरथ से है। कौशल्या के कैकेयी की बात को अधिक महत्व देने का कारण शास्त्र की यह आज्ञा है कि **मातुर्दश गुना मान्या विमाता धर्म भीरुणा**; अर्थात्, धर्म से डर कर चलनेवाले को चाहिए कि अपनी सौतेली मा का अपनी सगी मा से भी दसगुना अधिक सम्मान करे।

बन जायगी । पुत्र ! तुम सबको बड़े प्यारे हो; सबों के प्राणों के प्राण और जीवों को जिलानेवाले हो । ऐसे तुम खुद ही जब यह कह रहे हो कि मां ! मैं वन जाता हूँ, तब मुझे बड़ा दुःख होता है; पर इसलिये झूठा स्नेह बढ़ाकर मैं तुम्हें रहने का आग्रह नहीं करती । बेटा ! माता के सम्बन्ध को बलवान मानकर तुम मेरी खबर लेना मत भूलना ।

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं । राखहिं नयन पलक की नाईं ॥
अवधि अंबु.प्रिय परिजन मीना । तुम करुणा कर धरम धुरीना ॥

बेटा ! पलकें जैसे आँखों की रक्षा करती हैं, वैसे ही देवता और पुरखे (पितृ) तुम्हारी रक्षा करेंगे । तुम्हारे बनवास की अवधि तो जल है और तुम्हारे प्यारे कुटुम्बी जन हैं मछलियाँ, तुम दयालु और धुरन्धर हो । इसलिए ऐसा उपाय करना कि सब के देखते-देखते ही तुम वापिस आ मिलो । क्योंकि जैसे मछलियाँ पानी के बिना नहीं रह सकती, उसी प्रकार बनवास की अवधि-रूपी पानी के खतम होने पर प्रिय कुटुम्बी जन रूपी मछलियाँ भी मर जाँयगी । पुत्र ! मैं तुम्हे आशीर्वाद देती हूँ । प्रजा, कुटुम्बियों को और शहर को अनाथ करके सुख के साथ तुम बन में जाओ । हा विधाता ! आज मेरे तमाम पुण्यों का फल खतम हो गया, और उल्टे यह भयानक समय आ पड़ा है !' इस प्रकार बिलखती हुई माता कौशल्या रामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़ी । इस समय उनके हृदय में असह्य दारुण वेदना हो रही थी । पुत्र ने उनको उठा लिया और छाती से लिपट गया और अनेक प्रकार मीठी मीठी बातें कह कर उन्हें समझाया । इतने में

सीताजी वहाँ आ पहुँची और उन्होंने भी पति के साथ वन में जाने का विचार प्रकट किया। यह देख कौशल्या का जी फिर भर आया। सीता उन्हें कितनी अधिक प्रिय है, बचपन से ही वह कितने लाड-प्यार में पली है, और वह कितनी सुकुमार है, इन सब बातों को बता कर वह कहने लगी:—

सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु कहा होइ रघुनाथा॥
चन्द-किरिन-रस-रसिक चकोरी। रवि रुख नयन सकइ किमि जोरी॥

अर्थात् हे रघुनाथ! यह सीता आज तुम्हारे साथ वन जाना चाहती है। इसे तुम क्या कहते हो? चन्द्रमा की किरनों का रस पीनेवाली चकोरी भला कभी सूर्य की तरफ आँख भी उठा सकती है? फिर वन में तो हाथी सिंह, राक्षस आदि अनेक दुष्ट जीवजन्तु घूमा करते हैं। भला, क्या यह सच है कि जहर की फुलवारी में संजीवनी बूटी शोभा देती है? ब्रह्मा ने भील, कोल आदि अनार्य जातियों को जंगल में रहने के लिए निर्माण किया है, क्योंकि उनकी कन्याएँ सुन्दर सुख-भोगों को जानती ही नहीं। उनका स्वभाव भी बड़ा कठोर होता है, इसलिए उन्हें वन में कोई दुःख नहीं। फिर जिसने तपस्या के लिए सारे भोग-विलासों को छोड़ दिया हो, वह तपस्विनी भी जंगल में रह सकती है। परन्तु बेटा! तस्वीर में बन्दर को देख कर भी डर जानेवाली मेरी सीता बन में कैसे रह सकेगी? इस पर रामचन्द्रजी ने सीता को बहुतेरा समझाया कि वह सास-ससुर के पास अयोध्या ही में रह जाय, पर जब वह किसी भी तरह न मानी तो अन्त में माता कौशल्या ने पुत्र को यह आखरी आशीर्वाद दिया:—

बेगि प्रजा दुःख मेटहु आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी॥
सुदिन सुघरि तात कब होइही। जननी जिअत बदन बिधु जोइही॥

बहुरि बच्छ कहि, लाल कहि, रघुपति रघुवर तात।
कबहि बोलाइ लगाइ हिय, हरषि निरषिहउँ गात॥

अर्थात्, बेटा! जल्दी ही वापिस आकर प्रजा के दुःख मिटाना, और इस निष्ठुर माता को मत भूल जाना। अरे विधाता! मेरी यह दशा किसी दिन फिर बदलेगी कि नहीं, कि इस मनोहर जोड़ी को मैं फिर अपनी आँखों से देखूँ। बेटा! वह शुभ दिन और शुभ घड़ी कब आयेंगे जब कि तुम्हारी माता जीतेजी फिर से तुम्हारा मुख देखेगी? पुत्र! मैं फिर से कब बेटा, लाल, रघुपति, रघुबर कहकर तुम्हें बुलाऊँगी और छाती से लगाकर, खुशी में होकर तुम्हारे शरीर पर हाथ फेरूँगी? इतना कहते-कहते उनका गला भर आया। कलेजे पर डूंचासा लग गया, किन्तु रामचन्द्रजी तथा सीताजी ने उन्हें फिर से ढाढ़स बन्धा कर शान्त किया। तब कौशल्या ने सीता को आशीर्वाद दिया, कि—

अचल होउ अहिवात तुम्हारा,
जब लगि गंग-जमुन जलधारा।

अर्थात्, जब तक गंगा और जमुना में जल बहता रहे तब तक तुम्हारा सौभाग्य भी अचल रहे। बेटी! तुम बड़ी समझदार और सयानी हो, तुम्हें विशेष कहने की जरूरत नहीं; सिर्फ इतना ही याद रखना, कि

साध्वीनां हि स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते ।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते ॥

अर्थात्, पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति को ही पूजने योग्य देवता के समान मानती है । पतिव्रता स्त्रियां निरन्तर अपने शील की रक्षा करती हैं, सच बोलती हैं और गुरुजनों के उपदेशानुसार व्यवहार करती हैं । वे अपने कुल की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करतीं । हे जनक नन्दिनी ! मेरे राम इस समय दरिद्र दशा में हैं, फिर भी तुम्हारे लिए पूज्य हैं । उनकी बात की अवज्ञा कभी भी न करना । अच्छा जाओ ! जहाँ रहो, परमात्मा करें, वहां सुख से रहो !

सीताजी ने हाथ जोड़ कर सास की आज्ञा को शिरोधार्य किया और उसी के अनुसार चलने का विश्वास दिलाया । तदोपरान्त तीनों जने (राम, लक्ष्मण और सीता) बन चल दिये । इसी समय पुत्र-विरह से व्याकुल हो, रानी कैकेयी का अत्यन्त तिरस्कार करके महाराजा दशरथ रानी कौशल्या के अन्तःपुर में पहुँचे । उन्हें देख रानी कौशल्या का पुत्र-वियोग का दुःख फिर ताजा हो उठा और वह रोते-रोते, पति पर प्रेम का ताना मारते हुए, कहने लगी—

"स्वामी ! तीनों लोकों में दयालु, दानशील और प्रियवादी रूप में तुम्हारी बड़ी कीर्त्ति है; मनुष्यों में तुम श्रेष्ठ हो । फिर तुमने पुत्रवधू सीता सहित अपने पुत्र को बनवास कैसे दिया ? सीता की अभी जवानी है, वह तो हमेशा सुख और वैभव ही भोगने के योग्य थी । कोमल शरीरवाली इस जनक नन्दिनी जानकी से जंगल के कष्ट कैसे सहे जायँगे ? अरे ! उसने तो सदैव स्वादिष्ठ

भोजन ही किया है; उससे अब जंगल में पैदा होनेवाली रुखी सूखी चीजें कैसे खाई जायँगी? आह! इस कल्याणी ने तो निरन्तर गीत और बाजे सुने हैं, उससे अब जंगल के शेर आदि फाड़ खानेवाले जानवरों की भयानक गर्जनाएँ कैसे सुनी जायँगी? हा! मेरा पराक्रमी राम अब अपनी मोटी भुजा को ही तकिये की जगह सिरहाने लगाकर सोवेगा! हा! मैं राम का मुँह फिर कब देखूँगी? निस्सन्देह मेरा हृदय भी वज्र का ही बना हुआ है, क्योंकि राम के वियोग से अभी तक भी उसके टुकड़े टुकड़े नहीं हो गये! महाराज! जरा सोचिये तो कि वृद्ध जनों की सलाह लिए बिना ही आपने यह कैसा शोचनीय कार्य कर डाला है? कैकेयी के कहने में आकर तुमने बिना विचारे ही राम, लक्ष्मण और सीता को बनवासी और अनाथ बना दिया है! दीर्घायु होने से मेरा राम पन्द्रहवें वर्ष वापिस भी आयगा तो भी इतने दिनों से पाये हुए राज्य और खज़ाने को फिर भरत छोड़नेवाला नहीं।

राम को आया देखकर अगर भरत विनय से ही राज्य छोड़ देगा तो भी उसके एकबार भोग कर उच्छिष्ट (जूठा) किये हुए राज्य को मेरा धर्मात्मा पुत्र कभी ग्रहण न करेगा। क्योंकि कोई आदमी अपने यहाँ श्राद्ध में भोजन करने के लिए अच्छे-ब्राह्मणों को न्योता दे; पर बाद में उनसे पहले किसी भी वजह से उम्र तथा गुण में के उनसे किसी भी प्रकार कम अपने सगे अथवा दूसरे स्नेही ब्राह्मणों को खिला दे, और फिर पहले न्योते हुए ब्राह्मणों का इन्तज़ार करे, तो पहले न्योते हुए उत्तम ब्राह्मण दूसरों के खाने से बचे हुए भोजन को कभी ग्रहण नहीं करेंगे—फिर वह चाहे अमृत के समान ही क्यों न हो। इसी

प्रकार हे पृथ्वीपति ! उम्र में बड़ा और गुण में श्रेष्ठ मेरा त्र राम, अपने छोटे भाई भरत के भोगे हुए उच्छिष्ट राज्य को भला कैसे स्वीकार करेगा ?

प्राणनाथ ! बड़ी बड़ी मछलियां जिस प्रकार अपने से पैदा हुए छोटे छोटे मगरों (मत्स्य) को मारती हैं वैसे ही तुमने राज्यभ्रष्ट करके मेरे पुत्र को मारा है। महाराज ! प्राचीन ऋषियों ने अपने दिव्य ज्ञान से वेदों में जो निर्णय किया है उसे अगर तुम सच मानते होते, तो इस प्रकार अपने बड़े लड़के का त्याग न करते। अरे ! इस प्रकार धर्म की उपेक्षा करके तुमने मुझे भी निराधार कर दिया है। क्योंकि शास्त्रों में स्त्री के लिए तीन ही गति बताई है—पति, पुत्र, और जाति। इसके सिवा चौथी कोई गति हुई नहीं। पहली गति तो तुम हो, जो कैकेयी के वश में होने से मेरे नहीं रहे; फिर दूसरी गति रूप राम को तुमने जंगल में भेज दिया है; रही तीसरी गति, सो जाति-सगे-सम्बन्धी यहां मेरे कोई हुई नहीं। अतः सब तरह से तुमने मुझे निराधार कर दिया है।

शोकातुर कौशल्या के ऐसे उचित उपालम्भ (ताने) को सुनकर दशरथ के हाथ-पाँव धूजने लगे। उसे बड़ा पछतावा होने लगा। यहाँ तक कि नीचा मुँह करके और हाथ जोड़ कर वह कौशल्या से कहने लगे—"कौशल्या ! इसके लिए मैं हाथ जोड़ता हूँ। दूसरों पर भी तू हमेशा स्नेह और दया रखती है, फिर मैं तो तेरा पति हूँ। और पति धर्मज्ञ हो या गुणहीन, परन्तु स्त्री के लिए तो वह साक्षात् देवता ही है। तु सदैव धर्म में लगी रही है। अच्छे और बुरे को समझती रही है; इसलिये यद्यपि इस

समय तुझे बड़ा धक्का लगा है, तथापि मेरे दुःखी जी को ऐसी दशा में जले पर नमक लगाना तुझे उचित नहीं।"

कौशल्या जैसी सती को पति की ऐसी दीन और करुणा पूर्ण बात सुनकर पिघलते क्या देर लगे? मोरी में से जैसे बरसात का पानी पड़ता है, उसी प्रकार उनकी आँखों से टपाटप आँसू पड़ने लगे। स्वामी के जोड़े हुए हाथों को प्रेम और भक्ति के साथ अपने सिर पर रख कर गद्गद् स्वर से वह कहने लगी—"देव! मैं ज़मीन पर पड़ कर साष्टांग प्रणाम करके आप से क्षमा माँगती हूँ। आप मुझसे क्षमा माँगने लगे, इससे मेरे पातिव्रत धर्म को लाञ्छन लगा है, क्योंकि आपके लिए मुझसे क्षमा माँगना उचित नहीं। इस लोक और परलोक दोनों में स्त्री के लिए स्वामी बड़े गौरव की चीज़ है। स्वामी जिस स्त्री की इस प्रकार दीनता करे वह कभी अच्छे घर की कन्या नहीं कहला सकती। हे धर्मज्ञ स्वामी! मैं इस धर्म को जानती हूँ, साथ ही मैं यह भी जानती हूँ कि तुम सत्यवादी हो; मेरे मुँह से यह जो अनुचित बातें निकल पड़ी हैं, वे सिर्फ पुत्र के शोक में विकल होने ही के कारण। देखो, शोक से धीरज और ज्ञान का नाश हो जाता है। ज्यादा क्या कहूँ? शोक से सर्वनाश तक हो जाता है। शोक सरीखा अत्याचारी शत्रु दूसरा कोई नहीं। आदमी शत्रु के प्रहार को सह सकता है, पर एकाएक आ पड़नेवाले शोक के ज़रा से प्रहार को वह नहीं सह सकता। नदियों के प्रवाह से समुद्र का जल जैसे उमड़ जाता है, वैसे ही राम के वियोग से मेरे हृदय का शोक भी प्रति क्षण बढ़ता ही जाता है।"

रानी कौशल्या के इस प्रकार क्षमा माँगने से राजा दशरथ

के हृदय को कुछ शान्ति मिली, और स्वस्थ चित्त होकर वह सो गये। वाद में पुत्र-विरह से वीमार पड़े हुए राजा ने अपना आखरी वक्त कौशल्या के महल में ही विताया। पति की वीमारी में उनकी सेवा शुश्रूषा करने में कौशल्या ने कोई कमी न रक्खी। पुत्र-शोक से व्याकुल होकर मृत्यु-शय्या पर पड़े पति को कौशल्या ने धैर्य धारण करने की भी सलाह दी। उन्होंने कहा:—

नाथ समुझि मन करिय विचारू। राम-वियोग पयोधि अपारू॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥
धीरज धरियत पाइय पारू। नाहित बूड़िहि सव परिवारू॥
जौं जिय धरिय विनय पिय मोरी। राम लखन सिय मिलहिं वहोरी॥

अर्थात्, हे नाथ! तुम मन में समझ कर सोंचो तो सही। रामचन्द्र का वियोग-रूपी यह अपार समुद्र है और तुम अयोध्या-रूपी नाव के कर्णधार हो। इसमें सव प्रिय जन वैठे हुए हैं। अगर धीरज रक्खोगे तव तो पार पहुँच जायेंगे नहीं तो तमाम कुटुम्व डूव कर मर जायगा। हे प्राणनाथ! मेरी प्रार्थना पर ध्यान दोगे तो राम, लक्ष्मण और सीता फिर से मिल जावेंगे।

राजा दशरथ पर पुत्र के वियोग का वड़ा गहरा असर हुआ था। इसलिए कौशल्या के आश्वासन का असर उनपर कुछ ही देर रहा, और अन्त में सवको शोकसागर में डुवाकर उन्होंने शरीर त्याग दिया—मर गये। जिस रात को राजा दशरथ मरे, उस समय कौशल्या को नींद आ गई थी। इससे उसी वक्त उन्हें पति के मरने का पता न चला। सुवह जव उन्हें इस शोकमय अवस्था का पता लगा, तो उनका मुँह फीका पड़ गया। निस्तेज,

विवर्ण और शोक से भरी हुई कौशल्या अन्धकार से छाये हुए तारों की नाईं शोभाहीन हो गई। इसी समय और रानियाँ भी वहाँ आ पहुँची। कौशल्या ने रोते हुए स्वामी का सिर अपनी गोद में ले लिया और कैकेयी की तरफ देखकर कहने लगी—"कैकेयी! तेरी इच्छा पूरी हो गई। अब तू बेखटके राज्य भोगना। राम बनवासी हो गये, राजा का शरीरान्त हो गया; अब हम क्या करेंगी?

'इदं शरीरमालिंग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्' इस प्यारे शरीर को आलिंगन करके मैं आग में अपने शरीर को जला दूँगी। पर इसी समय भरतजी वहाँ आ पहुँचे। अभी तक जो कुछ हुआ, उसकी उन्हें कुछ खबर न थी। कौशल्या ने स्त्री-स्वभाव के अनुसार पहले तो भरत को भी खूब ताने दिये; पर जब राम के प्रति भरत के प्रेम का उन्हें पता लगा, तो बड़े स्नेह के साथ भरत को उन्होंने अपनी गोद में बैठा लिया और जोर-जोर से रोने लगीं! फिर तो अयोध्यावासियों को साथ लेकर जब भरत राम को वापिस लिवाने के लिए गये, उस वक्त भी कौशल्या उनके साथ ही थीं। शृङ्गवेरपुरी में जिस जगह रामचन्द्रजी घास के बिछोने पर सोते थे उसे देखकर भरत बेहोश हो गये थे। तब कौशल्या ने ही शुश्रूषा की थी और प्रेम के साथ पूछा था, कि "बेटा! तुम्हें कोई बीमारी तो नहीं है? लक्ष्मण को लेकर राम तो बन में चले गये हैं; अब तो तुम्हारा ही मुँह देखकर जी रही हूँ।"

इसके बाद चित्रकूट पर्वत पर रामचन्द्रजी के साथ जब इनका मिलाप हुआ, तो सीता को देखकर इन्होंने इस प्रकार विलाप किया था, कि जो मिथिलाधिपति जनक की कन्या और

अयोध्यापति महाराज के वेटे की वहू और रामचन्द्र की पत्नी है, हा! वह एकान्त वन में इतना अधिक दुःख भोग रही है! वेटी! धूप से कुम्हलाये हुए कमल और धूल से विगड़े हुए सोने के समान तेरे मुख का तेज कैसा मन्दा पड़ गया है! तेरा यह मलीन मुख देखकर मेरा हृदय जलकर राख हुआ जाता है।

रामचन्द्रजी ने इंगुदी फल से पिता का पिण्डदान किया था। उस समय दूव के ऊपर इंगुदी का पिण्ड देखकर सती कौशल्या का हृदय भर आया था। यहाँ तक कि विलाप करते हुए उन्होंने यह कहा भी था कि आज राम ने इंगुदीफल से पिता का पिण्डदान किया है, यह दृश्य मुझसे नहीं देखा जाता; क्योंकि जो इंद्र के समान पराक्रमी महाराजा दशरथ समुद्र पर्यन्त राज्य कर चुके हैं, वह भला इंगुदीफल कैसे खावेंगे? रामचन्द्र ने पिता को इंगुदी फल का पिण्डदान किया है, यह मेरे लिए वड़े दुःख की वात है। कौशल्या के इस मामूली विलाप से ही साफ़ ज़ाहिर है कि पति के वियोग से इस साध्वी को कितना असह्य दुःख हो रहा था।

कौशल्या का चरित्र मानों भारत की आदर्श जननी एवं आदर्श रमणी का चरित्र है। क्योंकि आज भी हर एक गाँव में हिन्दू वालक माता से यह स्नेह और आत्मत्याग पाकर कृतार्थ होते हैं। आज भी भारतवर्ष में सैकड़ों कौशल्याएँ हैं। भगवान करें कि श्रीरामचन्द्र की तरह कर्त्तव्य-पालन का कठिन प्रसङ्ग आ पड़ने पर आजकल की माताएँ भी अपने पुत्रों को यही उपदेश दें कि—

"न शक्यते वारयितुं गच्छेदानि रघूत्तम।
शीघ्रञ्च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतांक्रमे॥

त्र्यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
सर्वं राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु।"

'हे पुत्र! तुझे मैं किसी तरह रोक नहीं सकती। अब तो तू जा; पर वापिस जल्दी आना; और सत्पुरुषों के मार्ग पर चलना। प्रेम और नियम के साथ तू जिस धर्म का पालन करने में प्रवृत्त हुआ है, वही धर्म तेरी रक्षा करेगा।'

सुमित्रा

जिस सुमित्रा ने लक्ष्मण जैसे पुत्र को जन्म दिया उसके असाधारण आत्म-विस्मरण और आत्म-त्याग का भी कभी किसी ने विचार किया है? रामायण पढ़ कर कौशल्या और सीता की कथाओं पर तो हम अनेक बार विचार करते हैं; पर मनुष्य के रूप में देवी स्वरूप महानुभाव सुमित्रा की कथा पर जितना चाहिये उतना ध्यान कौन देता है?

सुमित्राजी तो अपने महत्व को अपने तक ही रक्खे हुए रामायण के एक कोने में ऐसी छिपी पड़ी हैं जैसे लक्ष्मी जी समुद्र-तल में हैं। वाल्मीकि मुनि तक उन्हें भूल गये हैं। परन्तु सच तो यह है कि राम के सुख में सुखी, दुःख में दुःखी और उनके भले में अपना भला एवं अनिष्ट में अपना अनिष्ट माननेवाले लक्ष्मण ने जिस प्रकार अपने आपको भुला कर जीवन-भर अपने बड़े भाई राम की सेवा की है, वैसे ही उनकी जननी सुमित्राजी ने भी अपने स्वार्थ या सुख की जरा भी परवाह न करते हुए अपनी सौत और सौत के पुत्र के लिए ही अपनी जिन्दगी बितायी है।

राजा दशरथ कौशल्या का तो पटरानी और गृहिणी के रूप में सन्मान करते थे, और कैकेयी को सुन्दरी समझ कर चाहते थे, पर बेचारी सुमित्रा पर उन्होंने भी कभी कोई खास प्रेम प्रकट नहीं किया। मगर पति के स्नेह से वंचित होने पर भी सुमित्रा ने अपनी सौत कौशल्या और कैकेयी के साथ कभी ईर्षा न की। उनके प्राणों से प्यारे दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न सदा दास की नाई राम और भरत की सेवा में रहते; पर सुमित्रा इस पर कभी बुरा न मानती। यही नहीं, बल्कि अपने पुत्रों को उपदेश जो करतीं वह भी यही कि बड़े भाइयों की हमेशा सेवा करना चाहिये।

अहा! सुमित्रा जैसी जननी न होती तो क्या लक्ष्मण और शत्रुघ्न जैसे पुत्र उत्पन्न होते?

और सुनिये। रामचन्द्रजी के वनवास की खबर जब कौशल्या ने सुनी, तो शोक से वह ज़मीन पर गिर पड़ीं और दशरथ की निन्दा करने लगीं; यहाँ तक कि उनके रुदन से राजधानी भर में हाहाकार मच गया। लक्ष्मण भी इसी के (सुमित्रा के) पुत्र थे। पर वन जाते वक्त जब वह माता से विदा होने लगे, तो उनकी माता सुमित्राजी ने क्या कहा, वह भी सुनिये। उन्होंने कहा—"बेटा! तू बचपन से ही राम पर बड़ा प्रम करता रहा है। इसलिए आज राम के साथ वन में जाने को, मैं तुझे बड़ी खुशी से इजाज़त देती हूँ। बड़े भाई की सेवा करना ही छोटे भाई का धर्म है और मैं चाहती हूँ कि इस धर्म—कर्त्तव्य—को निभाकर तू अपने जीवन को सफल करे। अतः वन में राम की सेवा और रक्षा करने में तू कभी आनाकानी मत करना। धर्म का पालन करना और युद्ध में प्राण विसर्जन करना, तो इक्ष्वाकु-वंश में जन्म

लेनेवाले वीर पुरुषों का वंश-परम्परा से ही व्रत और कर्त्तव्य रहा है। इस व्रत और कर्त्तव्य को तू निभाना। राम को दशरथ के समान मानना, सीता को मेरे समान, और घोर बन को भी अयोध्या ही समझना। जा, बेटा! सुख से बन जा।"

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथा सुखम्॥

यह सुन्दर श्लोक लक्ष्मण के साथ सुमित्रा की आख़री बात थी।

सुमित्रा ने लक्ष्मण को जो उपदेश किया, भक्त कवि तुलसीदासजी ने उसे किन सुन्दर शब्दों में वर्णन किया है, वह भी सुनिये। देखिये, सुमित्राजी लक्ष्मण से कहती हैं:—

तात तुम्हारी मातु वैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम-निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानुप्रकासू॥
जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥
गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहि सकल प्रान की नाईं॥
राम प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ-रहित सखा सब ही के॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहि राम के नाते॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जगजीवन लाहू॥

भूरि भाग भाजन भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ॥
जौं तुम्हरे मन छांडि छल, कीन्ह रामपद ठाऊँ॥

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघु-पति-भगत जासु सुत होई॥
सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम-सीय-पद सहज सनेहू॥
राग, रोष ईर्षा मद मोहू। जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू॥

सकल प्रकार विकार विहाई । मन क्रम वचन करेहू सेवकाई ॥
तुम कहँ वन सब भाँति सुपासू । संग पितु मातु राम सिय जासू ॥
जेहि न राम धन अहहि कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥

उपदेश यह जेहि जात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवारु पुर सुख सुरति वन विसरावहीं ।

इस प्रकार उपदेश देकर माता सुमित्रा ने अपने पुत्र लक्ष्मण को राम के साथ वन में जाने की आज्ञा दी और यह आशीर्वाद दिया—

रति होउ अविरल अमल सिय-रघु-बीर पद नित-नित नई ॥

अर्थात्, सीता और राम के चरणों में तेरा अत्यन्त, शुद्ध और नित्य नया प्रेम बढ़े ।

राम के वन में चले जाने पर कोशल्या ज़मीन में पड़कर रात-दिन रोने और विलाप करने लगीं । यहाँ तक कि नगर की अन्य स्त्रियाँ भी उनके पास आ इकट्ठी हुई और हाहू करने लगीं। नगर भर में कुहराम मच गया । पर सुमित्रा को देखिये, उन्होंने इसके विपरीत कौशल्या को ढ़ाढ़स वन्धाया । वह बोली— "जीजी ! तुम्हारे सर्वगुण-सम्पन्न वेटे पुरुषश्रेष्ठ राम अपने पिता की बात को निभाने ही के लिए, हाथ में आये हुए राज्य को छोड़ कर, वन गये हैं । उनके इस महान कार्य से, सारी दुनिया में उनकी अक्षय कीर्ति होगी । उनके नाम से रघुवंश धन्य होगा । वहन ! इससे ज्यादा राम का तुम और क्या कल्याण चाहती हो ? ऐसे पुत्र के भाग्य से तो तुम्हें भाग्यवान होना चाहिये, पुत्र के महत्व से खुश होना चाहिये । इसके वजाय, दीन मनुष्य की तरह

तुम क्यों रो रही हो ? रही पतिव्रता सती, सो वह भी बनवास में होनेवाले अनेक कष्टों को जानते हुए अपनी खुशी से स्वामी के साथ गई है; उसके लिए भी शोक क्यों ? तुम तो सबसे बड़ी हो, फिर इस राज्यगृह की गृहिणी भी हो, तुम्हें तो सब को धीरज बँधाना चाहिये; इसके विपरीत तुम खुद ही आकुल-व्याकुल होकर रोने बैठी हो ! भला जीजी ! क्या यह बात तुम्हें शोभा देती है ?

"फिर तुम्हें भय क्या है ? रामचन्द्र महा पराक्रमी हैं। हथियार चलाने में उनके समान होशियार दूसरा कोई नहीं। फिर महावीर धनुर्धारी लक्ष्मण उनके साथ हैं। ऐसी हालत में बन में उन्हें किसी तरह का कष्ट होने की संभावना नहीं। एक सूरज से दूसरा सूरज तेज़ हो सकता है, एक आग से दूसरी आग श्रेष्ठ हो सकती है, एक ज़मीन से दूसरी ज़मीन बड़ी हो सकती है, एक देवता से दूसरा देवता बड़ा हो सकता है, लक्ष्मी, कीर्ति और क्षमा में एक प्राणी से दूसरा प्राणी श्रेष्ठ हो सकता है; पर तुम्हारे राम से बढ़ कर श्रेष्ठ मनुष्य पृथ्वी में नहीं हो सकता। अतः राम के ऐसे महात्याग से मुग्ध होकर सूर्य अपनी गरम किरणों से उन्हें नहीं तपावेगा, वायु सर्दी में गर्म और गर्मी में ठण्डी बन कर उनकी सेवा करेगी, और चन्द्रमा की किरनें निद्रित राम का पिता की तरह आलिङ्गन कर के उन्हें सुख पहुँचावेंगी। अतएव तुम रोओ मत, न किसी भी तरह का भय या फ़िक्र ही करो। पुत्र के महत्व का स्मरण करके धीरज रक्खो। चौदह वर्ष के बाद तुम्हारे राम सजधज कर आवेंगे और तुम्हारी गोद में बैठेंगे।"

रामायण में सुमित्रा के काम के बारे में इसके आगे और

कोई कथा नहीं मिलती। परन्तु उनके चरित्र की महत्ता प्रकट करने के लिए यह दो कथाएँ ही कुछ कम नहीं हैं। रामायण की इन दो कथाओं से ही इस संसार में सुमित्रा का नाम और गौरव चिरस्थायी रहेंगे। क्योंकि इन दो बातों से ही यह तो स्पष्ट है कि वह लक्ष्मणजी की सुयोग्य जननी थीं।

कैकेयी

हमें भारत के स्त्री-रत्नों में कैकेयी की गिनती करते देख कर हमारी कितनी ही बहिनों को आश्चर्य होगा। क्योंकि श्री रामचन्द्रजी जैसे सदगुणों के भण्डाररूप पुत्र का जीवन दुःखमय कर देनेवाली रानी के कैकेयी के प्रति भारत के स्त्री-पुरुषों में साधारणतः एक प्रकार का तिरस्कार भाव बना हुआ है और इसलिये उसके कारण कैकेयी के गुणों की ओर वे उपेक्षा-भाव रखते हैं। कैकेयी कोई देवी न थीं; मनुष्य ही थी; मनुष्य स्वभाव में दुर्वलता एवं कमजोरियाँ रहती हैं; कैकेयी के स्वभाव में भी एक तरह की दुर्वलता थी, ये सब बातें हम भी स्वीकार करते हैं। परन्तु हमारे विचार में इस दुर्वलता के कारण भारत की वर्तमान बहिनों के लिये उसका चरित्र और भी मनन करने योग्य हो जाता है। महर्षि वाल्मीकि ने अपनी प्रवाहपूर्ण सुन्दर वाणी से रामायण में जिन चरित्रों का वर्णन किया है, उनमें हरेक से हमें कुछ न कुछ शिक्षा मिलती है; वैसे ही कैकेयी के चरित्र से भी बहुत कुछ शिक्षा मिल सकती है।

रामायण पढ़नेवाले सब कोई इतना तो अवश्य जानते हैं कि रानी कैकेयी केकय राजा की स्त्री और अयोध्यापति राजा दशरथ की छोटी रानी थी। महाराजा दशरथ इसका स्वयंवर-विवाह कर लाये थे। उसके प्रेम में महाराजा दशरथ लीन हो गये थे, और वह केवल उसके अनुपम सौन्दर्य के ही कारण नहीं; वरन् उसकी असाधारण बुद्धिमत्ता, चतुरता, निर्भयता आदि गुणों के कारण। उसके पिता ने उसे उच्च कोटि (ऊंचे दर्जे) की शिक्षा देने में कोई कमी न रक्खी थी। घर गृहस्थी के काम में तो वह बड़ी प्रवीण थी, इसके सिवाय वह बड़ी पति-वत्सला थी, और अपने प्रेम तथा कार्य-कुशलता से ही इसने राजा दशरथ के हृदय पर इतना अधिक आधिपत्य अर्थात् अधिकार जमा लिया था कि वे बड़ी रानी कौशल्या तथा सुमित्रा से भी अधिक इसका मान रखते थे।

एक बार देवता तथा राक्षसों में बड़ा भारी युद्ध हुआ। उस समय देवता राजा दशरथ के पास सहायता माँगने आये और इस पर वे अपनी बड़ी भारी सेना लेकर उनकी सहायता को चले। उस समय की स्त्रियां इस समय की स्त्रियों की तरह घर के कौने में सकुच कर बैठ जाने एवं पर्दे में रहनेवाली न थीं। वे पति के साथ घूमने फिरने तथा अवश्यकता पड़ने पर शिकार खेलने के लिये भी जाती थीं। उसी तरह कैकेयी भी सकुच कर बैठ रहनेवाली न थी। पति को युद्ध में जाते देखकर उसे भी इस भयङ्कर युद्ध को अपनी आंखों देखने की स्वाभाविक इच्छा उत्पन्न हुई। राजा दशरथ भी उसकी बात मान कर उसे अपने साथ युद्धक्षेत्र में लेगये। राक्षसों के साथ राजा दशरथ का भीषण

संग्राम शुरु हुआ। एकवार रात को दशरथ और शंबरासुर के बीच युद्ध हो रहा था, उस समय राक्षसों ने ऐसी माया रची कि जिस से राजा को जरा नींद आगयी। यह अवसर ताक कर शत्रुओं ने राजा दशरथ का सारथी मार डाला; सारथी के मरजाने से घोड़े उत्पात करने और रथ को इधर उधर टेढ़ा-मेढ़ा लेजाने लगे। यह दशा देख कर वीरांगना कैकेयी ने तुरन्त ही घोड़ों की लगाम अपने हाथ में लेली और इस होशियारी से सारथी का काम किया कि राजा को कुछ मालूम तक न हुआ। इतना ही नहीं, कैकेयी ने अपने वाणों से अनेक वीर राक्षसों को भी मारकर पृथ्वी पर सुला दिया।

उसके वाद युद्ध करते करते राजा के रथ की एक धूरी टूट गयी जिससे रथ के एक तरफ का पटिया निकल गया और रथ नीचे झुकने लगा। रानी कैकेयी ने इस समय वड़ी दूरदर्शिता से काम लेकर रथ के उस तरफ के हिस्से को अपने कन्धे के ऊपर टिका लिया और युद्ध के समाप्त होने तक रथ को उसी तरह सम्भाले रही। इस समय यदि इसने इतनी दूरदर्शिता एवं समय-सूचकता से काम न लिया होता तो राजा दशरथ अवश्य ही रथ से नीचे गिर जाते और शत्रु उन पर धावा कर देते।

इस युद्ध में महाराजा दशरथ विजयी हुए—जीत गए और आड़े समय अपनी सहायता करने के लिये रानी कैकेयी पर वड़े प्रसन्न हुए और उसे अनेक धन्यवाद देकर कहने लगे—"प्रिये! इस युद्ध में तैने मेरे प्राण बचाये हैं, यदि तू न होती तो मैं कभी का शत्रुओं के हाथ मारा गया होता। इससे मैं तुझसे वड़ा प्रसन्न

हूँ, तुझे आज यदि कुछ बरदान माँगना हो तो माँग, तू जो कुछ माँगेगी, वह सब कुछ देने को मैं तैयार हूँ।"

कैकेयी ने विनयपूर्वक कहा—"प्राणनाथ ! मैंने जो कुछ सेवा की है वह बदले की आशा से नहीं की है। आप की सहधर्मिणी होने के नाते मेरा जो कर्तव्य था, उसीका मैंने पालन किया है। फिर मुझे कमी ही किस बात की है? अयोध्या के राज्य में ऐसी कौनसी वस्तु है, जिस पर मेरा अधिकार नहीं ? आप ने मेरी इच्छा पूरी करने में कभी भी विलम्ब नहीं किया है ? अयोध्यापति महाराजा ने जब अपना सर्वस्व ही मुझे सौंप रखा है, तब फिर मुझे दूसरी क्या वस्तु चाहिये ? स्वामिन् ! सच पूछिये तो मुझे आप के अखण्ड प्रेम के सिवाय अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं।"

परन्तु राजा दशरथ न माने, उन्होंने दो बरदान माँगने का बड़ा आग्रह किया। इस पर कैकेयी ने कहा—"स्वामिन्, यदि आप का यही आग्रह है कि मैं दो बरदान मागूँ, तो मेरी आप से प्रार्थना है कि आप अभी मेरे इन दो बरदानों को अपने पास जमा रखें, मुझे जब आवश्यकता होगी, तभी मैं आप से माँग लूंगी।" इसके बाद राजा और रानी कैकेयी घर लौट आये और पहिले की तरह गृहस्थाश्रम चलाने लगे।

यथा समय राजा दशरथ की तीनों रानियों ने पुत्र रत्न उत्पन्न किये। रानी कौशल्या ने रामचन्द्र को जन्म दिया। और सब से बड़े होने के कारण वही राजगद्दी के अधिकारी हुए। रानी सुमित्रा के लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न नामक दो पुत्र तथा रानी कैकेयी के भरत नाम का एक पुत्र हुआ।

जब राजा दशरथ वृद्धावस्था को पहुँच गये, तब उनकी इच्छा हुई की रामचन्द्रजी को अपनी आँखों के सामने ही युवराजपद पर गद्दी पर बिठा दिये जायँ। इस विचार से उन्होंने कुलगुरु वशिष्ठ को बुलाया और एकान्त में ले जाकर अपना उद्देश्य उन पर प्रकट किया। राजकुमार भरत इस समय अपनी ननहाल गये हुए थे। राजा ने अपने ज्येष्ठ अर्थात् बड़े पुत्र रामचन्द्र के गुणों की चर्चा करते हुए भगवान वसिष्ठ से कहा—"भगवन्! मेरे नगर की समस्त प्रजा तथा नीतिकुशल मन्त्री राम की अत्यन्त प्रशंसा करते हैं। मैं भी अब वृद्ध हो गया हूँ, अतः मेरी एक मात्र यही इच्छा है कि कमल-नयन राम को गद्दी पर बिठाऊँ और जितनी शीघ्र हो सके यह शुभ कार्य हो जाय। आप कृपा कर इस प्रस्ताव पर अपनी अनुमति वा स्वीकृति दीजिये।"

राजा की इच्छानुसार राजतिलक की सब तैयारियाँ होने लगी। धर्मात्मा महाराजा दशरथ ने योग्य मुहूर्त देख कर अपनी सारी प्रजा तथा आसपास के राजाओं को निमन्त्रण पत्र भेजे, परन्तु न मालूम क्यों कैकय राजा को उन्होंने निमन्त्रित नहीं किया। उनके हृदय में राजतिलक के लिये बड़ी उतावली मच रही थी। उन्होंने अपने मंत्री से कहा—"मैं स्वर्ग में और पृथ्वी पर महा भयङ्कर उत्पात के चिन्ह देख रहा हूँ। मेरा शरीर भी बुढ़ापे के कारण जर्जर हो गया है, इसलिये राम को राजगद्दी पर बिठाने में ज़रा भी देर करना उचित नहीं है!"

चैत्र का महीना था। 'चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पि-काननः' के अनुसार यह महीना रमणीक अर्थात् सुन्दर होता है। सारे पुष्प-वृक्ष एवं लताएँ इस मास में पुष्पों से खिली रहती हैं।

इसी प्रकार सब तरह के शुभ कामों के अनुष्ठान के लिये यह महीना बड़ा अच्छा समझा जाता है।

युवराज्याभिषेक (राज-तिलक) की सब तैयारियाँ होने लगीं। राजा की यज्ञ-शाला में स्वर्ण, रत्न, औषधि, सफेद मालाएँ घी, शहद, धुले हुए वस्त्र, चँवर, सोने के सो कलश तथा अखण्ड व्याघ्र चर्म आदि वस्तुएँ यथा स्थान इकट्ठी कर दी गयीं। रथ, ध्वजा, छत्र, आयुध (हथियार) चतुरंगिणी सेना तथा शुभ लक्षणयुक्त चार दाँतोंवाला एक ऐरावत हाथी भी वहाँ ले आया गया।

अन्तःपुर और नगर के द्वार पर चन्दन चुपड़ा गया और सुन्दर पुष्पों के वन्दनवार बाँधे गये। एक लाख ब्राह्मण इच्छानुसार भोजन कर सकें, इतना अन्न तथा तथा दूध-दही आदि के पदार्थ तैयार किये गये। चन्द्रमा पुनर्वसु नक्षत्र से पुष्य नक्षत्र में जा रहा था। सारांश यह कि बड़ा शुभ मुहूर्त आ पहुँचा था।

प्रातःकाल सूर्योदय होते ही लाख लाख ब्राह्मणों ने स्वस्ति वाचन किया। चारों ओर उनके लिये आसन बिछा दिये गये। दूसरी ओर राजमार्ग पर पानी का छिड़काव कराया गया। ध्वजा पताकाएँ उड़ने लगी। मधुर अर्थात् मीठे स्वरवाली नृत्यकाएँ (नाचनेवाली) सुन्दर वस्त्राभूषण से सजकर अन्तःपुर (रंग महल) में एक ओर बैठी थीं। महाराज के अन्तःपुर के आँगन में सैकड़ों वीर योद्धा स्वच्छ वस्त्र पहन कर लम्बी लम्बी नंगी तलवारें हाथ में लिये सावधान चित्त से चारों ओर घूम रहे थे। अयोध्या नगर के सब देवमन्दिरों में पूजा की सामग्री और नैवेद्य लिये हजारों लोग तैयार खड़े थे।

राज्याभिषेक के पहिले दिन राजा दशरथ ने सुमन्त को राम को अपने पास बुलालाने के लिये भेजा। उस समय राजा अपने कैलास पर्वत जैसे ऊँचे महल में विराजमान थे। पूर्व, पश्चिम और उत्तर, दक्षिण देश के आर्य तथा म्लेच्छ जाति के अनेक महिपाल (राजा लोग) तथा पहाड़ी देश के अनेक राजा उनके पास बैठे थे। पिताजी के दर्शनों के उत्सुक रघुनन्दन राम सुमन्त के साथ इस महल में आ पहुँचे।

जिन सब सद्‌गुणों के प्राप्त करने की सब कोई इच्छा करते हैं, किन्तु आसानी से उन्हें पा नहीं सकते, श्रीरामचन्द्रजी उन सब सद्‌गुणों से सम्पन्न थे। लोगों से मीठी वाणी से बोलना और किसी के आचारण पर दोषारोपण न करना, ये सद्‌गुण उनमें पूर्ण रूप से थे। वे 'मधुरभाषी स्मित पूर्वभाषी प्रियंवदा' थे। वे जब बोलते तब मुस्कुरा कर ही बोलते। वे कभी भी अभिमान नहीं करते थे। वे स्वयं सब के साथ मीठे वचनों से बोलते ही न थे, वरन यदि कोई उन्हें कड़वे शब्द कह देता तो ये उसे चुपचाप सह जाते—उसका कुछ उत्तर ही न देते। उन पर यदि कोई किसी प्रकार का जरा सा भी उपकार करता तो वे उसे सदैव याद रखते और सैकड़ों बुराइयें करनेवाले पर जरा भी अप्रसन्न न होते। यदि कोई व्यक्ति दण्ड पाने योग्य होता, तो उसे उचित रीति से दण्ड देते। वे कभी भी मिथ्या वचन एवं झूठ नहीं बोलते थे। किसी की निन्दा सुनने में उनका मन कभी न लगता। गरीब पर वे सदा दया करते रहते। इस प्रकार समस्त गुणों के भण्डार होते हुए भी वे विनय एवम् नम्रता की साक्षात् मूर्ति थे।

राम ने पिता के पास जाकर हाथ जोड़ कर साष्टांग दण्डवत प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़ कर उनके पास खड़े रहे। राजा ने प्रिय पुत्र का हाथ पकड़ कर अपने पास बुलाया और पास के मणि-कांचन भूषित मनोहर आसन पर बैठाया।

राम शीघ्र ही राजा बननेवाले थे, इसलिये दशरथजी ने उन्हें कुछ राज्योचित उपदेश दिये। उन्होंने कहा—"पुत्र ! तुम स्वभाव से ही परम गुणवान हो, फिर भी तुम्हारे कल्याण के लिये दो शब्द कहना चाहता हूं, उन्हें ध्यानपूर्वक सुनो।

" काम क्रोध को तुम बिलकुल छोड़ देना, स्वयं घूम फिर कर तथा दूतों द्वारा प्रजा की सच्ची दशा का पता लगाना और मन्त्रियों तथा प्रजावर्ग की अपने पर प्रीति बढ़ाना। राजधर्म यही है कि राजा लोग अपना खजाना, शस्त्रागार तथा रत्नागार भर पूर रख कर प्रजा को सन्तुष्ट रक्खें अर्थात् सब तरह ऐसा प्रयत्न करें जिससे प्रजा सन्तुष्ट हो सुख भोग करे। अवश्य ही तुम स्वभाव से ही बिनयी अर्थात् नम्र हो, फिर भी इससे अधिक नम्र होकर जितेन्द्रिय बनना।"

भावी राजा के लिये यह कितना सुन्दर एवं उपयोगी उपदेश है !!

राम राजा होंगे, यह बात जानते ही उनके मित्रों ने तुरन्त ही यह समाचार माता कौशल्या को जा सुनाया। कोशल्या ने इस शुभ समाचार के लानेवाले को खूब इनाम देकर सन्तुष्ट किया।

राम को उपदेश देकर राजा अन्तःपुर (रनिवास) में गये, परन्तु उन्हें चैन नहीं पड़ा। उन्होंने राम को फिर बुलालाने के लिये सुमन्त को भेजा। राम ने आकर हाथ जोड़ कर पिता को

प्रणाम किया, इतने में राजा दशरथ उनसे कहने लगे—"पुत्र, अब तुम राजा बनो, प्रजा की यही अभिलाषा है। इसलिये मैं कल ही तुम्हें युवराज पद पर अभिषिक्त करूंगा अर्थात् राजगद्दी पर बिठाऊँगा। ज्योतिषियों का कहना है कि मेरे जन्म नक्षत्र में दारुणगृह सूर्य, मंगल और राहु आ पड़े हैं, और आज मैं तरह तरह के अशुभ स्वप्न भी देख चुका हूँ। आकाश से तारे टूट टूट कर गिर रहे हैं, और अत्यन्त भयङ्कर गड़गड़ाहट हो रही है। प्रायः देखने में आया है कि इस प्रकार के सब अपशकुन राजाओं के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं। इसलिये मुझे मेरे जीवन के सम्बन्ध में बड़ा सन्देह उत्पन्न हो गया है। फिर मनुष्यों की मनोवृत्ति भी सदा एक सी नहीं रहती, इसलिये मैं चाहता हूँ कि तुम अब शीघ्रही राजगद्दी पर बैठ जाओ।" इस प्रकार राजा के हृदय में भावी विपत्ति की आशङ्का उत्पन्न हो गयी थी। समय समय पर उनके प्रेमी हृदय में यह आशङ्का तो होने लगी कि हो न हो राम के राज्याभिषेक (राज-तिलक) में कहीं कुछ विघ्न न आ पड़े, किन्तु यह विघ्न किस की ओर से और किस रूप में आवेगा, इसकी उन्हें कल्पना तक न थी।

चटपट सब तैयारियाँ हो गयीं। राजा दशरथ के पुरोहित भगवान वशिष्ठ ने राजा को बुला कर कहा—'राम निर्विघ्न राज्य करें, इसके लिये आप उन्हें पत्नी (सीता) सहित उपवास करने के लिये कहिये।' तदनुसार राजा ने सूचना देकर रानी कैकेयी के महल में जाने का विचार किया।

रानी कैकेयी के साथ उसके पीहर से मन्थरा नाम की एक कुबड़ी दासी आयी थी। इस दासी ने राजमहल की ऊँची

अटारी पर से नगर में राम के राजतिलक के लिये होनेवाली सब तैयारियाँ देखीं। इन तैयारियों को देख कर उसके मन में एक अजब तरह की वृत्ति उत्पन्न हुई और वह दौड़ती दौड़ती रानी कैकेयी के पास आयी !!

कैकेयी ने अपने जीवन में कितना बड़ा अपराध किया है, यह सब को मालूम है। राम को वन में जाने की आज्ञा दिलाना यह उसका बड़े से बड़ा और कभी क्षमा न किया जा सकने योग्य अपराध है। हमें उसका यह अपराध स्वीकार है और इसके लिये उसकी झूठी तरफदारी न कर, ऐसी सरल हृदया और समझदार कैकेयी उनके करने पर कैसे उतारू हो गयी, इसके सम्बन्ध में यदि हम यहाँ जरा गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो अप्रासंगिक एवं अस्थानीय या अनुचित न होगा। कैकेयी जन्म से ही कोई राक्षसी न थी। कौन कह सकता है कि दया और मनुष्यता का अंश उसमें जन्म से ही न था? वास्तव में देखा जाय तो वह राम को बहुत ही अधिक चाहती थी। राम उसे 'माँ' कह कर पुकारते थे और रामचन्द्र जैसे गुणवान पुत्र के मुँह से 'माँ' का मधुर शब्द सुन कर वह आनन्द मग्न हो जाती थी। परन्तु मन्थरा रात दिन उसके (कैकेयी के) पास बनी रहती थी। यह मन्थरा किस जाति एवं कुल की थी और उसके माता पिता कैसे थे, इसका हमें कुछ पता नहीं, किन्तु इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि वह स्वयं बड़ी इर्षालु और ओछे स्वभाव की स्त्री थी। कैकेयी ने राम के राज्याभिषेक के समाचार पहिले पहल इस मन्थरा के मुँह से ही सुने थे। इस कुबड़ी ने बड़े ही कर्कश शब्दों में उक्त समाचार सुनाते हुए कहा था:—

किं शेषे दुर्भगे मूढ़े महद् भयमुपस्थितम् ।
न जानीषेऽति सौन्दर्यमानिनि मत्तगामिनी ॥

अर्थात् हे सौन्दर्य का अभिमान रखनेवाली, मत्त गामिनी, अभागिनी ! तेरा सर्वनाश होने का समय आ पहुँचा है, परन्तु हे मूढ़ ! फिर भी तुझे किसी बात की सुधि नहीं । तू किस तरह निश्चिन्त होकर सो रही है । क्या तू नहीं जानती कि अयोध्या में आज यह सारा उत्सव किसलिये हो रहा है ? किसलिये सारे शहर में ध्वजा और पताकाएं फहरा रही हैं ! सुन ! कल राजा दशरथ प्रातःकाल ही राम को युवराज पद अर्थात् राजगद्दी पर बिठावेंगे ! किन्तु सरल हृदया कैकेयी पर मन्थरा के ऐसे कठोर वचनों का कुछ भी असर नहीं हुआ । उसके ऐसे कठोर शब्दों से उसे अपनी स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी खेद नहीं हुआ—उल्टे वह यह शुभ समाचार सुनकर कि राम राजा होंगे, उसने मन्थरा से कहा "तू भूल करती है, मेरे तो राम और भरत दोनों समान हैं ।"

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये ।

तूने जो अमृत समान प्रिय समाचार मुझे सुनाये हैं, मेरे लिये उससे बढ़ कर प्रिय वस्तु और कोई नहीं है । अतः इन शुभ समाचारों के लिये तू जो माँगेगी वही मैं तुझे दूंगी ।

परन्तु इतने पर भी मन्थरा के मुंह पर क्रोध और विरक्ति के चिन्ह देख कर पहिले तो यह निर्दोष और सरल चित्तवाली रानी कुछ भी न समझी और उससे पूछने लगी "आज तो तुझे प्रसन्न होना चाहिये, इसके बदले तू मुझे यह किसलिये कहती है

'कि भय आ पहुंचा है ?' प्रियवादी राम तो मुझे भरत से भी अधिक प्यारे हैं—भरतादधि को रामः प्रिय कन्मे प्रियंवदः। राम तो सदा मुझे कौशल्या की तरह ही समझ कर मेरी सेवा करते हैं। अतः हे मूढ़! बोल तो सही कि राम की ओर से मेरे लिये किस बात का डर आ पहुँचा है ?"

दुष्टमना मन्थरा अब धीरे धीरे सरल हृदया रानी के हृदय में विष भरने लगी। उसने कहा 'राजा तेरे मुंह पर तो तेरा आदर करते हैं, किन्तु हृदय से वे कौशल्या के प्रेमी हैं।' इसकी पुष्टि में उसने कहा—"तू जानती है राम के अभिषेक के समय राजा ने इसकी खबर भरत को क्यों नहीं दी ? तू देखती नहीं कि राजा कितना जाल रच रहे हैं ? वास्तव में तुझे तो वे बिलकुल चाहते ही नहीं। यदि चाहते होते तो फिर इतना छल कपट किस-लिये रचते ?"

यह क्या दशरथ का प्रम बनावटी था ? नहीं, वास्तव में कैकेयी भी राजा को बहुत चाहती थी; पर उसका प्रेम प्रवृत्ति मूलक अथवा सकाम था, निवृत्ति मूलक निष्काम नहीं। राजा उसी पर मोहित हो गये थे। राजा दशरथ राम के राजतिलक के सम्बन्ध में मन्त्रियों को आवश्यक सूचना देकर सबसे पहिले कैकेयी के महल में गये थे। यह हम पहिले ही देख चुके हैं कि दशरथ का मन शङ्काशील हो गया था। अब उन्हें कैकेयी के महल में भी तरह तरह की शङ्कायें होने लगीं। वे अपने मन में सोचने लगे—"आज मैं यह क्या देखता हूँ ? यह क्या ? जो रानी मेरे लिये सदा शृंगार किये तैयार रहती थी, महल के द्वार में घुसते ही जो हँसती हँसती सामने दौड़ आती और हाथ पकड़

कर मुझे घर में ले जाती थी, वह आज मुझे दिखाई नहीं देती, यह क्यों ?

या पुरा मन्दिरे तस्याः प्रविष्टे मयि शोभना ।
हसन्ती मामुपायाति सा किं नैवाद्य दृश्यते ॥

राजा दशरथ कैकेयी के प्रेम में मुग्ध हो गये थे । 'हसन्ती मामुपायाति' इसीमें प्रवृत्ति-मूलक प्रेम का प्रकट स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है; परन्तु आज तो कुवड़ी मन्थरा ने कैकेयी के सरल हृदय में विष भर दिया था । उसने निश्चय करा दिया था कि राजा का प्रेम विलकुल वनावटी है, उसे छलने के लिये सब ऊपरी दिखावा है । प्रवृत्ति-मूलक प्रेम और तो सव सहन कर लेता है, किन्तु छल कपट उससे नहीं सहा जाता । परन्तु जो प्रेम सच्चा होता है, वह इन वातों पर ध्यान नहीं देता । 'दूसरा व्यक्ति मुझे चाहे, तभी मैं भी उसे प्यार करूं' यह भाव यथार्थ एवं सच्चे प्रेम में नहीं होता । 'तुम मेरे साथ कितना ही वुरा वर्ताव क्यों न करो, फिर भी मैं तुम्हारी ही हूँ' कैकेयी का राजा दशरथ पर ऐसा प्रेम नहीं था । राजा पर ऐसा प्रेम तो था कौशल्या का । पति ने मेरे साथ छल किया है, मुझ पर उनका प्रेम झूठा और दिखावटी है, कैकेयी के मन में यह वात वैठ जाने से आज उसका रूप विलकुल वदल गया । आज उसने सुन्दर वस्त्राभूषण से अपने आपको नहीं सजाया था,—न आज उसके मुख पर मधुर मुसकान ही थी ।

मंथरा की वात सुनकर कैकेयी का मुँह लाल हो गया, क्रोध के आवेश में वह गर्म उसांस लेने लगी । न मालूम इस समय उसकी सारासार बुद्धि कहां जाती रही । मंथरा जो समझाती,

वही वह सच मान लेती। अनुचित को वह उचित समझाने लगी। वाल्मीकि के 'सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता' के अनुसार उस कुब्जा अर्थात् कुबड़ी की बातें सुनकर वह किशोरी (कैकेयी) अपनी बुद्धि गँवा बैठी—वह उल्टे रास्ते पर चल पड़ी।

पाठिका बहनो! एक कुबड़ी मन्थरा ने कैकेयी जैसी समझदार और पढ़ी लिखी स्त्री के जीवन में कितना अधिक फेरफार कर दिया, उसे कितना अधोगामी (नीचे गिरनेवाला) बना दिया, ज़रा इसका विचार करो। और सोचो कि आजकल भी कुब्जा सहेलियों की सलाह से तुममें की कितनी युवतियें एवं वृद्धाएं उत्पथगामी एवं अधोगामी होती है? तुममें से कितनियों के घर बिना राम की अयोध्या जैसे हो जाते हैं? बड़े भाई की बहू अपने देवर को घर में से निकलवा देती है, वह मन्थरा जैसी सहेली की सलाह से नहीं तो दूसरे किस की सलाह से करती है? देवर का तिरस्कार करना यह कुछ बड़ी भावज के लिये स्वाभाविक नहीं होता? इसके विपरीत प्रारम्भ में देवर तो बड़े लाड़की वस्तु होता है। परन्तु जब वह अपने इसी लाड़ले देवर पर द्वेष करने लगे, तब समझ लेना चाहिये कि वह किसी मन्थरा की कुसंगति में पड़गयी है। कितनी कुलवधुएं माता की अनुचित सलाह से पति के सुख और गृहस्थी को मिट्टी में मिला देती हैं, और उससे भी अधिक अपनी खुशी और अपनी ही पसन्द से लायी हुई बालिका बहुओं को, सासुएँ कितनी बार मंथरा जैसी किसी कुब्जा दासी, सहेली एवं सम्बन्धी के उल्टे सीधे कान भरने से दुःख देकर क्लेश कराती हैं? हिन्दू बहिनो! रामायण को फिर एक बार ध्यानपूर्वक पढ़ कर उस पर विचार

करो और देखो कि मंथरा जैसी एक कुबड़ी की सलाह से राजा दशरथ का राज्य और गृहस्थी किस तरह धूल में मिल गयी थी? इस एक दुष्टा ने ही उनकी सुखी गृहस्थी में किस तरह दुःख का दावानल सिलगा दिया था, इसका जरा शान्त चित्त से विचार करो। कैकेयी के उदाहरण से शिक्षा ग्रहण कर दासी एवं सहेली के रूप में आई हुई मंथरा को मुंह लगाने में सावधान रहना—उसका उपदेश एवं सीख ग्रहण करने में सावधान रहना; नहीं तो याद रक्खो, एक बार यदि तुम मंथरा रुपी कुब्जा के जाल में फंस गयीं तो तुम्हारा अधःपात कहां जाकर रुकेगा, तुम कहां से कहां जाकर कहां गिरोगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं है।

रानी कैकेयी का कुब्जा मंथरा पर एक बार विश्वास जम जाने पर उस पर उसका प्रेम सौ गुणा बढ़ गया; इस कुबड़ी के शरीर में उसे सौन्दर्य दिखाई देने लगा। वह उससे कहने लगी—'हे वक्र सुन्दरी! तेरी बुद्धि का कुछ पार ही नहीं। तू मेरी बड़ी हित चाहनेवाली है। यदि तैने आज मुझे न बताया होता तो मैं राजा का छल किस तरह जान सकती थी? संसार में कुरूप—जिन्हें देख कर जी उकता जावे ऐसी अनेक स्त्रियाँ हैं, परन्तु तू तो हवा के झोके से नीचे नम जानेवाली कमिलिनी की तरह अत्यन्त प्रिय दर्शना अर्थात् सुन्दर है। जब मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, तब उसे चाहे जितना कुरूप, सुन्दर दिखाई देने लगता है। इसी तरह कैकेयी भी आज कुब्जा के प्रत्येक अंग की प्रशंसा कर कहने लगी—तेरे सम्पूर्ण शरीर में मुझे सौन्दर्य दिखाई देता है। राम बन में जावेंगे, तब मोतियों की माला से मैं तेरा श्रृंगार करूँगी। वक्र-

सुन्दरी! तेरे मुख कमल की तो कोई उपमा दी ही नहीं जा सकती'। पाठकवृन्द! आप ने देखा? इस समय कैकेयी इस कुब्जा के शरीर में कैसी सुन्दरता देख रही थी? आह कैकेयी! स्वामी की प्यारी से प्यारी वस्तु को बन में भेज कर तू किस सुख की आशा रखती है? राम को बन में भेज कर तू स्वामी के सुख के बिनाश का कारण बन रही है, इसकी तुझे कुछ खबर नहीं, न तुझे इसी बात का पता है कि जिसे तू सुख समझ रही है उसमें कितना अधिक दुःख भरा हुआ है।

कुछ भी हो, कैकेयी ने राम को बन में भिजवाने की प्रतिज्ञा कर ली। अपने शरीर पर, अमूल्य मोतियों का हार तथा अन्य अत्यन्त सुन्दर सुन्दर आभूषण उतार कर वह जमीन पर लोट गयी। कुब्जा इस समय भी उसके पास ही थी।

कैकेयी कहने लगी—'कुब्जे! अब मुझे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। महाराज ने मेरे साथ इतना कपट किया? अब या तो राम को बन भिजवा कर रहूँगी अथवा प्राण त्याग दूँगीं। यदि राम वन को न जायँगे तो मैं उत्तम वस्त्र, चन्दन, माला, पान, भोजन आदि सब का त्याग कर दूँगी। अधिक क्या कहूँ, मैं जीवित ही न रहूँगी'।

मन्थरा का मनोरथ सिद्ध हुआ। वह आधी खड़ी होकर चुपके से देख रही थी कि कैकेयी के महल में प्रवेश करते ही उसकी ऐसी दशा देख कर महाराज दशरथ बड़े व्याकुल हो गये थे। वह अपने मन में डरे और बैठ कर धीरे से कैकेयी के शरीर को छुआ। फिर उन्होंने उसे बहुत कुछ उपदेश दिया। और अन्त में राम की शपथ (सौगन) खाकर कहा—'राम मुझे प्राणों से

भी अधिक प्यारा है, उसीकी शपथ खाकर मैं कहता हूँ कि तू जो कहेगी मैं वही करूँगा।'

जिस कैकेयी ने अबतक राजा की इतनी दीनता देखकर भी एक भी उत्तर न दिया था, वही अब राजा के मुंह से राम की शपथ निकलते ही आँख खोल कर बैठ गयी। उसके हृदय में छल कपट और बाहर मुंह पर दारुण क्रोध टपक रहा था। आज वह साक्षात् क्रोध की मूर्ति बन गयी थी। राजा मरे या जिये इसकी उसे ज़रा भी परवाह न थी। आज राक्षसी कैकेयी ने कई तरह से राजा को अपनी पहली प्रतिज्ञाओं की याद दिलाई और युक्तिपूर्वक कहा कि राम को चौदह वर्ष के लिये वनवास देना होगा। प्रातःकाल ही उन्हें वन को भेज देना होगा; इसमें यदि ज़रा भी विलम्ब हुआ तो मैं आपके सामने प्राण त्याग दूँगी।

ये हृदयवेधक शब्द सुनकर राजा दशरथ मूर्छित हो गये। बड़ी देर बाद उन्हें होश आया। वे भयभीत होकर ज़रा ज़रा आँख खोलते थे और मन ही मन सोचते थे कि इस समय मैं यह कोई बुरा स्वप्न देख रहा हूँ; मुझ पर किसी की परछाहीं पड़ गयी है अथवा मेरा भाग्य ही फिर गया है? आख़िर यह है क्या? उन्होंने बड़ा विलाप किया। कैकेयी से उन्होंने बहुत ही विनती एवं प्रार्थना की; परन्तु उसके पाषाण हृदय पर इसका कुछ भी असर न हुआ। उसने आज पति को न कहे जाने योग्य शब्द तक कह डाले। अन्त में उन्होंने सुमित्रा को बुलाकर रामचन्द्र को वन जाने की आज्ञा सुनायी। रामचन्द्र ने पिता के मुंह से आज्ञा सुने बिना ही, केवल कैकेयी के मुंह से उनकी उक्त इच्छा जानकर बिना किसी क्रोध या शोक के अत्यन्त सहन

शीलतापूर्वक बन में जाना स्वीकार किया। इसके बाद भाई लक्ष्मण और पत्नी सीता भी उनके साथ जाने को तैयार हुई और राक्षसी एवं निर्दय कैकेयी ने अपने हाथों से ही उन तीनों को वल्कल (छाल के) वस्त्र पहना कर किस तरह उन्हें बिदा किया यह कथा सब कोई जानते हैं। यह दृश्य देखकर महर्षि वसिष्ठ जैसे साधु तक को क्रोध चढ़ आया था और उन्होंने बड़े ही कठोर शब्दों में कैकेयी का तिरस्कार किया था। जब उनकी यह दशा हुई तब हमारा तो कहना ही क्या ? हमारे लिये तो यह करुणाजनक दृश्य देखकर रामचन्द्र और पतिपरायण कोमल युवती सीता के लिये अश्रुपात तथा कैकेयी के प्रति हृदय में अत्यन्त तिरस्कार के भाव उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक ही है।

परन्तु कैकेयी को उसके दुष्ट कृत्य का फल मिले बिना न रहा। रामचन्द्रजी जैसे पुत्र के वियोग से राजा दशरथ की मृत्यु हो गयी। कैकेयी विधवा हो गयी। स्त्री के लिये विधवा हो जाने से बढ़ कर और क्या दुःख हो सकता है ? परन्तु राजमाता होने की लालसा में अधम कैकेयी को इसकी ज़रा भी परवाह नहीं हुई। किन्तु जिस पुत्र भरत को राज्य दिलाने के लिये उसने ये नीच छल प्रपंच किये थे, उसी सुपुत्र भरत ने राजगद्दी पर बैठने से साफ़ इनकार कर दिया और ऐसे अधम कृत्यों के लिये माता का अत्यन्त तिरस्कार किया। तब जाकर कहीं कैकेयी को अपनी सच्ची स्थिति का बोध हुआ। तभी उसके अंतःकरण में पश्चात्ताप की अग्नि जलने लगी। अब उसे सुधि हुई। अब वह पहिले जैसी नीच कैकेयी न रही। राज महिषी होने पर भी आज वह अपने को अत्यन्त दुःखी मानने लगी। लज्जा के मारे

वह किसी को अपना मुंह नहीं बता सकती थी। भरत, रामचन्द्रजी की खोज में बन में जाने को तैयार हुए। कैकेयी के हृदय में रामचन्द्र को देखने की इच्छा हुई, किन्तु भरत के डर के मारे वह कुछ बोल न सकी। वह कौनसा मुंह लेकर बोलती ? उसीने तो उन्हें वन में भेजा था ? स्त्री होकर भी उसने स्वामी का वध किया था। इस पाप का प्रायश्चित्त क्या हो सकता था ? क्या मृत्यु ? नहीं, कदापि नहीं। राम के दर्शन किये विना अब वह मर भी नहीं सकती थी। उसके मन में एक के बाद दूसरा इस तरह लगातार विचार उत्पन्न होने लगे। राम किस तरह मुझे फिर 'मा' कह कर बुलावेंगे ? मैं तो पापी हूँ, अब वे मुझे किस लिये 'मा' कहेंगे ? स्वयं मेरा भरत ही मुझे 'मा' नहीं कहता। भरत चाहे न कहे, पर राम तो अवश्य मुझे 'मा' कह कर ही बुलावेंगे। मेरे राम क्षमाशील हैं। 'मेरे राम' यह शब्द कहते हुए कैकेयी का हृदय काँपने लगा। उसका अहंकार चूर चूर हो गया। सबसे श्रेष्ठ रानी कैकेयी आज दासी की तरह सुमित्रा की शरण में गयी। सुमित्रा ने भरत से सब बातें कह सुनायीं। भरत ने पहिले तो माता को अपने साथ रामचन्द्रजी के दर्शन कराने को लेजाने से साफ़ इनकार कर दिया पर फिर विचार किया कि राम तो मातृ-भक्त हैं, वे तो कभी किसी के दोष देखते ही नहीं। वे कैकेयी के प्रति भक्ति रखते हैं। यह सोचकर फिर उन्होंने उसे साथ ले जाना स्वीकार कर लिया। सबने चित्रकूट में जाकर रामचन्द्रजी के दर्शन किये, परन्तु कैकेयी को उनके सामने जाने का साहस नहीं हुआ। वह कौनसा मुँह लेकर उनके सामने जाती ? वह एक वृक्ष की आड़ में जाकर खड़ी हो गयी और आँखों से लगा-

तार आँसुओं की झड़ी बहाने लगी। वह मन ही मन कहने लगी 'राम क्या मेरे अपराध क्षमा नहीं हो सकते हैं? क्या तुम मुझे दर्शन न दोगे? मैं तुमसे मिलने आयी हूं, फिर भी तुम्हारे सामने आने का साहस नहीं होता। मैंने बड़ा भारी अपराध किया है; एकबार मुझे बताओ तो सही इस पाप का प्रायश्चित है या नहीं? मैं तुम्हारे मुँह से ही सुनना चाहती हूँ। आज तुम्हारे मुंह से इसका निर्णय सुनकर तुम्हारे सामने ही प्राण विसर्जन करूँगी। तुम्हारी सुन्दर मूर्ति देखते देखते ही मरने की इच्छा है। एक बार तुम मुझसे इतना कहो कि तुमने मुझे क्षमा कर दिया है, नहीं तो मृत्यु से भी मुझे शान्ति नहीं मिल सकेगी। राम! क्या इस पापी माँ को तुम फिर दर्शन नहीं ही दोगे? मैं जानती हूँ कि मैं बड़ी अपराधिनी हूँ। मैंने नन्दन वन जैसी अयोध्या को श्मशान जैसी कर दी है, मैं पति की हत्यारी बनी हूँ। मैंने तुम्हें और अपनी अत्यन्त लाड़ली बहू जानकी को अपने हाथ से छाल के वस्त्र पहना कर वन को भेजा है। अब बाकी क्या रहा है? सब दोष मेरा ही है। मेरा अपराध आज मूर्तिमान होकर मेरे हृदय को वेध रहा है। मेरा दुःख अब दूसरा कोई नहीं जान सकता। मैं जिसके सामने अपना दुःख रोने जाती हूँ, वही मेरी हँसी उड़ाता है। मेरा दुःख मुझे मन ही मन में अत्यन्त सता रहा है। राम! मैंने तुम्हें सैकड़ों तरह के दुःख दिये हैं, उनके बदले में आज मैं हजारों तरह के दुःख भोग रही हूँ। मुझे मालूम होता है कि अभी मुझे इससे भी अधिक दुःख सहने पड़ेंगे। किन्तु तुम्हारे सिवाय मेरे दुःख को कोई समझ नहीं सकेगा। तुम्हारे सामने मैं बड़ी अपराधिनी हूँ, फिर भी मैं तुम्हीं को अपना

दुःख सुनाना चाहती हूँ। क्या तुम मेरा दुःख सुनना नहीं चाहते? यदि तुम मेरी सुनवाई न करोगे तो मैं कहाँ जाऊँगी? कहो, मेरे लिये दूसरा कौन सा आश्रय-स्थान—या सहारा है? मेरा अपना पुत्र भी अब मुझे नहीं चाहता। हे राम! आज सब मुझे देखते ही कह उठते हैं 'इस राक्षसी ने ही सर्वगुण सम्पन्न राम को वन में भेजा है और इसी के पाप से दशरथ राजा की मौत हुई है।' आज संसार मुझसे घृणा करता है। किन्तु तुम? क्या तुम भी मुझसे घृणा करते हो? नहीं, नहीं, तुम तो बड़े क्षमाशील हो, तुम तो बड़े दयालु हो; तुम तो किसी को दुःखी नहीं होने देना चाहते; फिर मेरी अन्तर्वेदना तुम्हारे बिना दूसरा कौन जान सकता है? मैंने सुना है कि तुम तो अन्तर्यामी हो; परम पुरुष हो; तब क्या मेरे हृदय की बात न सुनोगे?"

इस प्रकार विलाप कर कैकेयी बहुत रोयी। उसने बड़ी तेजी से राम का नाम स्मरण किया। आज विपत्ति के समय पश्चात्ताप की अग्नि में कैकेयी के पाप-कर्म जलकर भस्म हो गये। पश्चात्ताप से जलते हृदय से आकुल व्याकुल होकर कैकेयी आज राम को पुकार रही थी। तब राम किस तरह स्थिर बैठे रह सकते थे? वे भी उसे ढूंढ़ ही रहे थे। एकाएक उन्होंने स्वयं ही माता कैकेयी के समाचार पूछे; किन्तु भरत ने कोई उत्तर न दिया। अन्त में राम घूमते घूमते, जिस वृक्ष के आगे कैकेयी खड़ी थी वहां आ पहुँचे, और उसे देखते ही प्रफुल्ल चित्त हो उसके पैरों में गिर पड़े। कैकेयी चौंक पड़ी; दुःख, लज्जा और पश्चात्ताप से उसका हृदय जलने लगा। इन्हीं राम को अभिषेक (राज तिलक) के दिन अपने हाथ से वल्कल वस्त्र पहनाने का साहस उसे कैसे हो गया था?

राम ने पूछा—'मा ! सब जने तो मुझ से मिलने आये और अकेली तुम्ही यहां कैसे खड़ी रह गयी ? आज कितने दिनों बाद कैकेयी ने 'मा' शब्द सुना। आज यह 'मा' शब्द उसके अन्तरतम में जा पहुँचा। दिग दिगन्त में आज उसे इसी शब्द की प्रतिध्वनि सुनायी देने लगी। आज राम ने उसे 'मा' कह कर बुलाया, इससे उसे ऐसा प्रतीत होने लगा, मानों उन्होंने सारे जगत को मा कह कर बुलाया हो। उसकी आँखों में से अविरल आँसुओं की धारा बहने लगी। राम की सुमधुर वाणी से निकले हुए 'मा' शब्द ने उसकी रगरग में अर्थात् नसनस में अमृत का संचार कर दिया। परन्तु दूसरी ओर, पश्चात्ताप का दुःख उसे सौ बिच्छुओं के डंक की तरह सताने लगा। कैकेयी ने राम को गोद में लेकर हृदय की ज्वाला मिटाने के लिये हाथ फैलाये। अन्तर्यामी राम उसके मन की बात समझ गये। दीनवत्सल झट से हँसते हुए कैकेयी की गोद में बैठ गये। इस समय वह सब दुःख भूल गयी। उसके नयन जल से रामचन्द्रजी की छाती धुल गयी। राम उसे बहुत दिलासा दे रहे थे, इतने में सीताजी वहां आ पहुंची। कैकेयी उन्हें देखकर मूढ़ जैसी बनकर खड़ी रह गयी। राम के समझाने बुझाने से कैकेयी के आंसू जरा थमे थे; सीताजी को देखते ही वे फिर बहने लगे। बड़े आग्रह और आदर से उन्हें गोद में बिठाकर वह बड़े उच्च स्वर से रोते हुए कहने लगी—'हाय! मैंने इस आँखों की पुतली को निकाल कर कहां फैंक दिया ?' इस से अधिक वह कुछ बोल न सकी। उसके मन में अब किसी तरह का कपट न रहा था। अब भरत को भी उसके विचारों के विषय में किसी तरह की शङ्का न रही। वह अब पहिले की तरह ही स्नेहमयी

दिखायी देती थी। अब वह लोक संहारिणी राक्षसी न थी। आज सब उसके हृदय की शुद्धता देख कर मुग्ध हो गये। आज सबके नेत्रों में आंसू भर आये। आज कैकेयी ने राम और सीता को हृदय में धारण किया, इससे उसके सब बुरे कर्मों का नाश हो गया। सीता को गोद में लेकर वह बहुत रोयी और रोते रोते कहने लगी–"बेटी, मेरी इस सोने की पुतली को वन में भेजने का मुझे साहस कैसे हुआ ? चल बेटी चल, अब घर चलकर सुनसान अयोध्या को बसा, मेरे राम ने मुझे क्षमा करदी है, चल, अब तू चल और मेरे घर और राज्य की लक्ष्मी बन। राम और सीता रहित अयोध्या का स्मरण करते ही मेरा हृदय फटने लगता है। सीता ! आज तुम्हारी ओर से मैं बनवास करुंगी, तुम्हारी प्रतिज्ञा का पालन मैं करूँगी। तुम लोग अयोध्या को वापिस जाओ। कैकेयी इस प्रकार बोलती जाती थी, सीताजी उस के आंसू पोंछती जाती थी।

सब थोड़ी देर में शान्त हो गये। कैकेयी को राम से एकान्त में कुछ कहने की इच्छा हुई। भक्त-आधीन प्रभु कैकेयी की अन्त-वेंदना (हृदय का दुःख) समझ गये, और वे उसे ले कर एकान्त में चले गये।

एकान्त में कैकेयी ने अश्रुपूर्ण हाथ जोड़ कर कहा—"राम ! साधु बड़े क्षमाशील होते हैं। तुम साधुओं के भी साधु हो। अतः कहो, मेरा अपराध तुमने क्षमा किया, या नहीं ? राम ! कहो कि मेरे दुष्ट कर्मों के लिये तुम अपने मन में जरा भी बुरा न मानोगे।"

श्री भगवान ने कृपा दृष्टि की। कैकेयी निर्मल हो गयी। उसका मोह दूर हो गया और वह कहने लगी—

यथा कृत्रिमनर्त्तक्यो नृत्यन्ति कुहकेच्छया।
त्वादधीना तथा माया नर्तकी बहुरूपिणी ॥

'प्रभु तुम्हारी माया के वशीभूत होकर मैं मोहान्ध से अन्धी हो गयी थी। क्या अच्छा है और क्या बुरा है, इसका मुझे ज्ञान न रहा था। आज मुझे मालूम हुआ कि तुम्हारा आश्रय या सहारा लिये बिना माया अथवा अज्ञान दूर नहीं हो सकते। अतः आज मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ। तुम मेरी रक्षा करो। तुम्हीं मेरे प्रभु हो, तुम्ही मेरी आत्मा हो और तुम्ही मेरे प्राण हो इस तरह भगवान् की स्तुति करती हुई वह कहने लगी—'हे प्रभु! हे विश्वेश्वर! हे अनन्त! हे जगदीश्वर। मैं तुम्हें नमस्कार करती हूँ। प्रभो! मैं तुम्हारी शरण आयी हूँ, तुम कृपाकर अपने निर्मल ज्ञान रूपी खड्ग से मेरे कुटुम्ब और धनादि के आसक्ति-मय बन्धनों को काट डालो।' कैकेयी के इस समय के पश्चात्ताप का वर्णन सुप्रसिद्ध लोकप्रिय कवि राधेश्याम ने इस प्रकार किया है—

"छाती से लगो, ऐ मेरे आराम, (टेक)
मैं नहीं जानती थी तुमको, तुम ऐसे हो, तुम इतने हो,
उसका पासंग भी नहीं हूँ मैं, गम्भीर कि तुम जितने हो।
कौशल्या! तेरा राम नहीं, यह राम तो मेरा बेटा है,
मेरा यह धन है, जीवन है, मेरा यह प्राण कलेजा है।
मन्थरा रांड की संगति से, हा! मैंने क्या उत्पात किया,

अपने ही हाथों, अपने ही बेटे पै वज्राघात किया।
अय दुनिया की बहनो, सीखो, नीचों को मुंह न लगाना तुम,

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

अय बहू बेटियो ऐसों की संगति में फंस मत जाना तुम।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

घर में जो दुष्टा दासी हैं, वे स्वाँग नित नये भरती हैं,
बरबाद घरों की बहुओं को, नाना प्रकार से करती हैं।
हो मुझ से घृणा तुम्हें, तो मेरे जीवन से शिक्षा लो तुम,
दुष्ट अनुचरी सहचरी को घर में भी मत घुसने दो तुम।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀

हे राम ! आज व्याकुल भैया, बेटे की कृपा चाहती है,
तुम बेटे हो तो क्षमा करो, देखो मां क्षमा चाहती हैं।

इस समय रामचन्द्रजी ने कैकेयी पर सच्चा रहस्य प्रकट किया। वे कहने लगे 'देवकार्यार्थ सिद्ध्यर्थं कृतं सर्वं मयानघे' अर्थात् हे निष्पाप कैकेयी ! देव कार्य की सिद्धि के लिये ही मैंने यह सब कुछ किया है, इसमें तुम्हारा कुछ भी दोष नहीं।

गच्छ त्वं हृदि मां नित्यं भावयन्ती दिवानिशम्।
सर्वत्र विगतस्नेहा मद्भक्त्या मोक्ष्यसेऽचिरात्॥

अर्थात् 'हृदय में सदा मेरा ध्यान रखना, किसी पर स्नेह न रखना, इससे ही थोड़े समय में ही तुम्हारी मुक्ति हो जायगी।"

पाठिका बहनो ! हमने आपका बहुत समय ले लिया है, किन्तु हम कैकेयी के इस चरित्र से आपके हृदय में यह बात बैठाना चाहते हैं कि संसार में सब पाप अज्ञान के कारण ही होते हैं। और

बिना अज्ञान का कभी नाश नहीं होता। कदाचित अज्ञान के वश होकर मन्थरा जैसी कुब्जाओं की सलाह में पड़कर तुम्हारे हाथ से भी कभी कुछ अनुचित कर्म हो गया हो तो अपने कर्म के विषमय फल स्वरूप पश्चात्ताप से हृदय में आकुल व्याकुल होकर शुद्ध अन्तःकरण से क्षमा-सागर भगवान से क्षमा माँगना। जिस प्रकार कैकेयी राम के दर्शनों के लिये बन में गयी, उसी प्रकार तुम भी घटघट में व्याप्त भगवान की उपासना-भक्ति करना और वे दयासागर तुम पर अपनी अपार करुणा की दृष्टि करेंगे और तुम्हें सच्चा मार्ग बताकर तुम्हारे पापों को शुद्ध कर देंगे। पाठिका बहनो! कैकेयी का चरित्र पढ़ कर आज से ही पिछली भूलों के लिये प्रभु से क्षमा माँगकर आत्मा को निष्कलङ्क बनाओ। अस्तु!

पतिव्रता कौशिकपत्नी

कौशिक की पत्नी पतिव्रता बड़ी साध्वी थी। इसके सतीत्व-बल से मृत पति भी जीवित हो गया था।

प्रतिष्ठान नगर में एक पापाचारी ब्राह्मण रहता था, जो कौशिक-वंश में पैदा हुआ था, उसकी यह पत्नी थी। ब्राह्मण को पूर्व जन्म के पापों के फल स्वरूप कोढ़ का रोग हो गया था। पर ऐसा रोगी होने पर भी यह स्वामी के पैर में तैल की मालिश करती, पाँव वगैरा दाबती, स्नान कराती, कपड़े पहनाती, उसका पाखाना-पेशाब भी उठाती और एकान्त में उसके पास बैठी रह कर उपदेश (सीख) की बातें कहकर तथा मीठी-मीठी बातें करके आनन्द में उसका समय बिताती। यह तो इस प्रकार

देवता की तरह पति की पूजा करती थी, पर पति सदा इसका तिरस्कार ही करता रहता। इतने पर भी यह पतिव्रता उस पर अपने मन में कुछ भी बुरा न मानती। पति में चलने-फिरने की ताकत नहीं थी, पर उसकी पाप-वृत्ति बड़ी प्रबल थी। एक दिन उसने अपनी पत्नी से कहा—"मैंने एक बड़ी सुन्दर वेश्या देखी है, जो राजमार्ग के पास के एक घर में रहती है। तू मुझे उस मनमोहनी वेश्या के घर ले चल। हे धर्मज्ञे! इस समय वह वेश्या ही मेरे हृदय में रम रही है, इसलिये मुझे जल्दी से ले चल। जब से मैंने उस सुन्दर बालिका को देखा है; तबसे अब तक मेरा जी उसी में अटक रहा है। और वह भुवनमोहनी सुन्दर पयोधरा नाज़ुक स्त्री मुझे आलिंगन नहीं करेगी, तो मैं अवश्य ही अपना प्राण त्याग दूँगा। अनेक सुन्दर मनुष्य उसे पाने के लिए उत्सुक हैं, ऐसी दशा में वह मुझ जैसे रोगी को भला क्यों पूछेगी? फिर मुझ में चलने-फिरने की भी ताकत नहीं हैं, इससे मुझे बड़ी चिन्ता लग रही है।" कामातुर पति की ऐसी बातें सुनकर पतिव्रता उसकी इच्छा पूरी करने को तत्पर हो गयी। भीख माँग कर उसने धन इकट्ठा किया, और फिर पति को कन्धे पर विठाकर धीरे-धीरे वेश्या के घर ले जाने लगी। यह रात का समय था, और आस्मान पर बादल छा रहे थे। अन्धेरे में कुछ न दीखता था। इससे रास्ते में बैठे हुए माण्डव ऋषि को, भूल से, उसके पति की लात लग गई। लात का लगना था कि ऋषि गुस्से से आग-बबूला हो गये और शाप दिया कि जिसने मेरे ठोकर मारी है वह सूरज के निकलने पर असह्य वेदना भुगत कर मर जायगा!

ऋषि का ऐसा कठोर शाप सुनकर पतिव्रता बड़ी निराश हुई। अन्त में उसने यह संकल्प किया कि 'अब सूर्य उदय ही न होगा।' तब इस शोकातुर ब्राह्मण-पत्नी की इच्छानुसार सूर्य निकला ही नहीं। इसी प्रकार जब बहुत दिन हो गये, तो देवता भी डरने लगे। उन्होंने सोचा कि सूर्य के विना पृथ्वी की रक्षा ही नहीं हो सकती, अतः जैसे भी हो सृष्टि को तो बचाना ही चाहिये। ब्रह्मा ने कहा—"तेज से तेज का और तप के द्वारा तप का नाश होता है। सती पतिव्रता के माहात्म्य से ही तो सूर्य नहीं निकलता। और सूर्य के न निकलने से तुम्हारा सबका बड़ा नुकसान हो रहा है। इसलिये जो तुम सूर्य के दर्शनों की इच्छा रखते हो, तो एक मात्र पतिव्रता अत्रि मुनि की पत्नी अनुसूया को तृप्त करो।" तब देवताओं ने जाकर अनुसूया से अपना दुःख कहा, उन्होंने कहा—"पतिव्रता स्त्री का बचन मिथ्या नहीं होता, पर तुम सब कष्ट उठाकर यहाँ आये हो, तो मैं ऐसा प्रयत्न करूँगी कि जिससे सूर्य भी उदय हो और इस साध्वी पत्नी का पति भी जिन्दा रहे।" इसके बाद अनुसूया कौशिक पत्नी के घर गई। वहाँ अनेक प्रकार से पतिव्रता को समझा कर उन्होंने कहा—"हे कल्याणी! तू तो पति का मुख देख कर प्रसन्न होती है और पति को सब देवताओं से भी अधिक श्रेष्ठ मानती है। मैंने भी तेरी तरह पति की सेवा टहल करके ही सब तरह के फल पाये हैं, और इन सिद्धियों के कारण मेरे तमाम संकट दूर हो गये हैं। अतः स्त्रियों के लिए जो बड़े से बड़ा कर्त्तव्य है, वही तू कर रही है। स्त्रियों के लिये यज्ञ या उपवास की कोई ज़रूरत नहीं, एकमात्र स्वामी की सेवा ही उनका तो परम धर्म है, क्योंकि स्वामी ही उनकी परम गति

है। पुरुष, देवता, अतिथि और पुरखों की जो सेवा करते हैं, उन सेवाओं में पत्नी, एक मात्र पति की सेवा की ही वजह से आधे भाग की हिस्सेदार—अर्धाङ्गिनी कहलाती है।" इस प्रकार उत्तेजना मिलने से पतिव्रता कौशिक पत्नी बड़ी खुश हुई और सती अनुसूया से पूछने लगी कि पति के कल्याण के लिए अब मुझे क्या करना चाहिये? अनुसूया ने कहा—"हे साध्वी! तेरी इच्छा से दिन और रात एकसा हो गये हैं। जिससे लोगों के काम-काज रुक गये हैं संसार के नष्ट हो जाने का समय आ गया है। इसलिये देवताओं ने मुझे तेरे पास प्रार्थना करने के लिए भेजा है। हे तपस्विनी! दिन के अभाव से संसार का नाश हो जाने का मौका आ गया है, इसलिये सब पर दया कर के तू सूर्य को उदय होने की आज्ञा दे दे।" पतिव्रता ने कहा—"माण्डव ऋषि ने बड़े गुस्से में आकर मेरे पति को शाप दिया है कि सूर्योदय होते ही तू मर जायगा।" अनुसूया ने कहा—"तू चाहेगी तो मैं तेरे पति को फिर से ही जिन्दा कर दूँगी और उन्हें नया कलेवर प्राप्त हो जायगा। मेरे लिये तो पति-व्रता स्त्री सदैव आराधना-योग्य है, इसलिये मैं तो सदा तेरा आदर करूँगी।" इस पर पतिव्रता ने 'तथास्तु' कहा, और उसके कहने के साथ ही सूर्य उदय हो गया। जगत् को तो नव चैतन्य प्राप्त हुआ, पर कौशिक का प्राणान्त हो गया। ब्राह्मण के मरने से उसकी पत्नी शोक-विह्वल होकर छाती कूट-कूट कर रोने लगी। तब अनुसूया ने उसे धीरज बन्धाते हुए कहा—"पतिव्रता! तू मत घबरा। तू व्याकुल मत हो। पतिव्रता स्त्री कभी विधवा नहीं हो सकती। पति की सेवा से मैंने जो तपोबल पाया है, वह तुझे

अभी मालूम पड़ेगा। हे भगवन्! रूप, शील, बुद्धि, और मधुरता आदि सद्गुणों के द्वारा अगर कभी भी किसी पर पुरुष पर मुझे मोह न हुआ हो, तो उस पुण्यबल से आज इस साध्वी ब्राह्मणी का पति रोगमुक्त होकर फिर से जिन्दा हो जाय और साध्वी पत्नी के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहे। अपने स्वामी को मैंने देवता से भी अधिक पूज्य माना हो तो उस पुण्यबल से यह ब्राह्मण नीरोग हो जाय। वचन और शरीर से मैं सदा अपने पति की आराधना में ही तत्पर रही होऊँ, तो उस पुण्य बल से यह ब्राह्मण जी उठे।" अनुसूयाजी का ऐसा कहना था कि व्याधिमुक्त होकर फिर से जवानी प्राप्त करके वह ब्राह्मण जी उठा। तब आकाश से फूलों की वर्षा हुई और देवताओं ने दुन्दुभी बजाई। इसके बाद अनुसूयाजी तो चली गईं और पतिव्रता अपने तरुण स्वामी की सेवा तथा उसके साथ सुखपूर्वक भोग-विलास करने में प्रवृत हो गई।

द्रौपदी

द्रौपदी बड़ी तेजस्वी क्षत्राणी थी। वह कभी हीनता, अन्याय अविचार और अत्याचार सहन नहीं कर सकती थी और यदि दूसरा कोई इस प्रकार की बातें सहन कर लिया करता था तो उसे वह मनुष्यत्व से हीन समझती थी।

इस प्रकार की हीनता के लिए वह अपने पिता, भाई, स्वामी या दूसरे गुरुजनों को भी क्षमा नहीं कर सकती थी। वह जब कभी न्याय की रक्षा और अन्याय के दमन में किसी प्रकार की

तेजोहीनता देखती थी तो वह अपने बड़ों को भी कठोर वाक्य कहने में संकोच नहीं करती थी। परन्तु इतना होने पर भी उस के चरित्र में कभी किसी प्रकार का अहंकार दाम्भिकता या निष्ठुरता का लेश भी देखने में नहीं आता था।

बलगर्वित शत्रु का दमन करने के लिए यह अग्नि का रूप धारण कर लिया करती थी पर जब वह शत्रु पराजित होकर उसकी शरण में आता था तब वह उसे निर्मल चित्त से क्षमा भी कर दिया करती थी। वह अपने आश्रित दुर्बलों की रक्षा स्नेहमयी माता के समान किया करती थी। यद्यपि वह पांडवों के राजगृह की गृहिणी थी तथापि वह आश्रितों की सेवा सुश्रूषा दासियों के समान किया करती थी। वह अपनी सपत्नियों को भी सगी बहन के समान आलिंगन किया करती थी। सपत्नी के पुत्रों का अपने पुत्रों के समान पालन किया करती थी। वह जितनी ही तीक्ष्ण बुद्धिवाली थी, उतनी ही अपने समय की धर्मनीति, राजनीति आदि विषयों में भी प्रवीण थी! एक अवसर पर इसने कहा था कि जिस समय पंडित लोग मेरे भाइयों को अनेक प्रकार के नीति-शास्त्रों की शिक्षा दिया करते थे, उस समय मैं भी पिताजी के पास बैठकर ध्यानपूर्वक उन सब लोगों की बातचीत सुना करती थी और इस प्रकार शिक्षा प्राप्त किया करती थी।

इस सर्वगुण सम्पन्न आर्य रमणी का जीवनचरित्र महत्व पूर्ण बातों से परिपूर्ण है।

द्रौपदी पांचाल देश के राजा द्रुपद की कन्या थी। अपने पिता के नाम के कारण ही द्रौपदी कहलाती थी। इसका वास्तविक नाम कृष्णा था। यह श्याम वर्ण की थी इसीलिए पिता ने

इसका नाम कृष्णा रखा था। गौर वर्ण न होने पर भी कुछ स्त्रियां वहुत अधिक सुन्दर हुआ करती हैं, इस वात का कृष्णा एक बहुत अच्छा दृष्टान्त है। राजा द्रुपद की यह इच्छा थी कि प्रसिद्ध धनुर्विद् अर्जुन के साथ इसका विवाह किया जाय। परन्तु जिस समय द्रौपदी विवाह के योग्य हुई उस समय लाक्षागृह में आग लगजाने के कारण पांडव लोग गुप्तवेश में कहीं छिपे हुए थे। इसलिए द्रुपद ने वहुत ही कठिन लक्ष्यवेध की प्रतिज्ञा करके द्रौपदी के स्वयंवर की घोषणा की। भारत के भिन्न भिन्न देशों के राजा लोग परम सुन्दरी द्रौपदी को प्राप्त करने की आशा से उस स्वयंवर सभा में आ पहुंचे।

पांडव उस समय एक चक्रानगर में एक ब्राह्मण के वेश में रहा करते थे और भिक्षा मांग कर किसी प्रकार अपना निर्वाह किया करते थे।

इसी वीच में एक दिन महर्षि वेद व्यास उन लोगों के पास जा पहुंचे। वहां उन्होंने पांडवों को आशीर्वाद देकर कहा कि तुम लोग बहुत दिनों से इस नगर में निवास कर रहे हो। इस प्रकार गुप्तवेश में एक ही स्थान पर वहुत दिनों तक रहना ठीक नहीं है इसलिए अब तुम लोग यह स्थान छोड़ कर पांचाल चले जाओ।

जब पांडवों ने महर्षि से उनकी इस आज्ञा का कारण पूछा तव महर्षि ने कहा, याज्ञसेनी द्रौपदी अब विवाह के योग्य हो गई है और उसके लिए स्वयंवर रचा गया है। कहीं ऐसा न हो कि ऐसी अपूर्व सौन्दर्यमयी और लक्ष्मी स्वरूपा कन्या किसी अयोग्य वर के हाथ में जा पड़े। इसी आशंका से राजा द्रुपद ने यह प्रतिज्ञा की है कि जो कोई स्वयंबर में मत्स्यवेध करेगा उसी

के साथ इस कन्या का विवाह किया जायगा। देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए ही इस कन्या का जन्म हुआ है। भगवान का ऐसा विधान है कि वह कार्य सिद्ध करने के लिए उसे योग्य और वीर पति के घर जाना पड़ेगा। द्रुपद राजा ने जिस मत्स्य-वेध का आयोजन किया है वह कोई ऐसा वैसा वेध नहीं है। उस मत्स्य को वेधने की शक्ति संसार में दो एक आदमियों को छोड़कर और किसी में नहीं है। इसीलिए इस बात में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता कि कृष्णा का विवाह किसी बहुत ही योग्य वर के साथ होगा। तुम लोग तुरन्त पांचाल देश में जाओ और वहां द्रौपदी के स्वयंवर में उपस्थित हो। साथ ही तुम लोग अर्जुन के हाथों यह मत्स्य-वेध कराके कृष्णा को प्राप्त करो। मैं तुम लोगों को आशीर्वाद देता हूं कि तुम लोगों का यह प्रयत्न सफल होगा।

स्वयं वेद व्यासजी के मुँह से द्रौपदी का पूरा वृत्तान्त सुनकर पांडवों के मन में भी द्रौपदी को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न हुई। व्यास देव के चले जाने के उपरान्त पांडवों ने अपनी माता कुन्ती को साथ लेकर पांचाल देश की ओर प्रस्थान किया। उस समय अर्जुन के आनन्द का पारावार न था। उसने मन ही मन श्री कृष्ण को स्मरण कर के भक्तिपूर्वक गद्गद चित्त से अपने मन की इच्छा प्रकट की और उन से प्रार्थना की कि आप मुझे यशस्वी करें।

रास्ते में प्रयाग तीर्थ में अंगार्पण नामक एक गन्धर्व के साथ अर्जुन की लड़ाई हुई। उस लड़ाई में गन्धर्व राज अर्जुन से हार गया और उसे अर्जुन ने कैद कर लिया! उस यात्रा में गन्धर्व की स्त्री भी उसके साथ ही थी। वह अपने पति की यह दशा देखकर

रोने और अर्जुन से क्षमा करने के लिए प्रार्थना करने लगी। युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन ने उस गन्धर्व को छोड़ दिया।

जब गन्धर्व के इस प्रकार प्राण बच गए तब उसने पांडवों का बहुत उपकार माना। उसने मित्रता के चिन्ह स्वरूप उन्हें बहुत से घोड़े, रथ तथा अस्त्र, शस्त्र आदि देने की इच्छा प्रकट की।

पांडवों ने कुन्ती के साथ आनन्दपूर्वक गंगा स्नान किया और सन्ध्या वन्दन करके वे लोग उत्कोच तीर्थ में गए। वहां उन लोगों ने धौम्य ऋषि को अपना पुरोहित बनाया और अपने सारे दुःख उन्हें कह सुनाए। धौम्य ऋषि ने उन्हें आशीर्वाद दिया और वे भी उन लोगों के साथ पांचाल देश को चलने के लिए तैयार हो गए।

ये सब लोग बहुत जल्दी जल्दी चलते हुए पाँचाल देश की राजधानी में जा पहुँचे। रास्ते में इन लोगों को बहुत से राजा महाराजा मिलते थे। वे सब भी स्वयंवर में जा रहे थे। राजधानी में पहूँचने पर उन लोगों ने कृष्णा की बहुत प्रशंसा सुनी। जिस प्रकार वर्षा होने पर सूखे हुए वृक्ष तथा लताएं आदि पत्तों और फूलों से सुशोभित हो जाती हैं उसी प्रकार एक सुसन्तान के जन्म लेने से सारा घर उज्ज्वल और सुख तथा सौभाग्य से पूर्ण हो जाता है। जबसे कृष्णा घर में आई थी तब से द्रुपदराज का भी इसी प्रकार मंगल और कल्याण हो रहा था। कृष्णा के जन्म के बाद से ही मानों लक्ष्मी उनके राज्य में निवास करने लग गई थी। सारा पांचाल राज्य धनधान्य और सुख तथा वैभव से पूर्ण हो गया था। पहले द्रुपदराज को सदा नए नए प्रदेश जीतने की

चिन्ता लगी रहती थी पर जब से कृष्णा ने जन्म लिया था तब से उनके चित्त को बहुत शान्ति मिलने लगी थी।

सब प्रकार से सुलक्षण तथा असाधारण लावण्यवाली इस कन्या को देखकर केवल द्रुपदराज ही नहीं, बल्कि राजमहल के सब नौकर चाकर तक बहुत अधिक प्रसन्न हुआ करते थे।

कृष्णा का रंग श्याम था। परन्तु उसका रूप इस संसार में दुर्लभ था। वह काला रंग मानो सारे संसार को प्रकाशित और उज्ज्वल करनेवाला था। यह काला रंग ऐसा था कि उसे एक बार देखने पर फिर उस पर से आँख हटाने या इधर उधर देखने की इच्छा ही नहीं होती थी। यह ऐसी श्यामता थी जिसके आगे प्रकाश भी मलीन जान पड़ता था। केवल द्वारकापति श्रीकृष्ण तथा पाँडु के तीसरे पुत्र अर्जुन को छोड़कर सारे संसार में ऐसा और कोई व्यक्ति नहीं था जिसकी श्यामता के साथ कृष्णा की श्यामता की तुलना हो सकती।

द्रौपदी में सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जैसा उसका असाधारण रूप था वैसे ही उसमें असाधारण गुण भी थे। उसमें तेजस्विता और नम्रता, गर्व और विनय, कठोरता और मधुरता, गृहस्थी के कामों की कुशलता और बुद्धिमत्ता, आदि परस्पर विरोधी गुणों का एक अपूर्व समावेश था। इन सब गुणों के अपूर्व मिलन के कारण ही कृष्णा सारे संसार की स्त्रियों की शिरोमणि मानी जाती थी। इसके असाधारण रूप और गुण से प्रसन्न होकर कुछ ऋषि मुनियों ने इसके पिता से कहा था 'कृष्णा का पति होनेवाला पुरुष साधारण नहीं होगा। स्वयं नारायण अथवा

उन्हीं के समान किसी और नररत्न को छोड़कर दूसरा कोई इस रत्न को धारण न कर सकेगा।

राजा पाँडु के साथ द्रुपद की मित्रता थी परन्तु जब राजा पाँडु की मृत्यु हो गई तब द्रोणाचार्य ने द्रुपद से अपने अपमान का बदला लेने के लिए गुरु दक्षिणा में अर्जुन को पाँचाल देश पर चढ़ाई करने के लिए भेजा और राजा द्रुपद को पकड़वा मँगाया। यद्यपि अर्जुन की अवस्था उस समय बहुत ही कम थी तथापि उसने जो अद्भुत पराक्रम दिखलाया था उसके कारण राजा द्रुपद उस पर मुग्ध हो गया था। उस समय तक द्रौपदी का जन्म नहीं हुआ था। परन्तु जब द्रौपदी का जन्म हुआ तब अर्जुन के उस पराक्रम का स्मरण करके द्रुपद की यह इच्छा हुई कि मैं अपनी कन्या का विवाह अपने स्वर्गीय मित्र के इसी पुत्र के साथ करूं। इसी उद्देश्य से उसने कृष्णा को ऐसी शिक्षा दी थी जिसमें वह अर्जुन सरीखे वीर की सहधर्मिणी होने के लिए उपयुक्त हो। परन्तु इसी बीच में जब उसने सुना कि वारणावत के लाक्षागृह में सब पाँडव जल मरे तब उसकी निराशा का ठिकाना न रह गया। अब उसकी समझ में यही नहीं आता था कि अब मैं क्या करूं और किसके साथ कृष्णा का विवाह करूं? उसी समय उसने शास्त्रदर्शी और त्रिकालज्ञ मुनि की सहायता से कृष्णा के स्वयंवर में लक्ष्यवेध कराने की योजना की थी। उसने सोचा था कि अर्जुन तो अब इस संसार में है ही नहीं परन्तु फिर भी जो व्यक्ति इतना विकट लक्ष्यवेध कर सकेगा वह अवश्य ही बहुत बड़ा शास्त्र-विशारद और वीर होगा और ऐसा ही वीर पुरुष कृष्णा के लिए उपयुक्त वर भी होगा।

स्वयंवर मंडप की उत्तम रचना तथा अतिथियों के स्वागत तथा सत्कार आदि के प्रवन्ध में राजा द्रुपद ने अपनी ओर से कोई वात उठा नहीं रखी थी। उन दिनों के स्वयंवर मंडपों की रचना का कुछ परिचय पहले के जीवन चरित्रों में दिया जा चुका है। इसलिए यहां उसका विशेष विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ यही कह देना यथेष्ट होगा कि अपनी धात्री तथा सखियों के साथ कृष्णा स्वयंवर में आ पहुँची। उस समय वह वहुत ही सुन्दर वस्त्र और आभूषण आदि पहने हुए थी। उसके हाथ में माला और चन्दन था। वह आते ही धृष्टद्युम्न के पास खड़ी हो गई। उसे देखते ही सारी सभा स्तब्ध हो गई। सव लोग मुग्ध चित्त से टक लगा-कर सुन्दरी कृष्णा के मुख की ओर देखने लगे। कृष्णा का वह अलौकिक और अपूर्व रूप देखकर सव राजा लोग उस पर मोहित हो गए। उनमें अच्छे बुरे की परख करने की शक्ति न रह गई। इस रमणी रत्न को प्राप्त करने के लिये वे सव लोग उतावले होने लगे। सभा में गड़वड़ी मच गई। यह दशा देखकर द्रौपदी के भाई धृष्टद्युम्न ने ऊँचे स्वर से सव लोगों को सूचित किया कि आप लोग इस प्रकार आकुल न हों। आप सव लोगों में से जो क्षत्री राजा सवसे अधिक वीर होगा और जो अपने वाहुवल से यह धनुष चढ़ाकर सामने की ओर देखता हुआ ऊपर के चक्र के छेद में से वाण पार करके मछली की आँख वींधेगा, वही मेरी वहन को वरण कर सकेगा। नीचे यह जो पानी का कुंड है उसी में लक्ष्य का प्रतिविम्व देखकर वाण चलाना पड़ेगा। जिसमें ऐसी शक्ति हो, वह इस प्रकार मत्स्यवेध करके द्रुपद-नन्दिनी को प्राप्त करे।

धृष्ठद्युम्न की यह वात सुनते ही सव राजा तथा राजकुमार

आदि एक दूसरे को धक्का देकर अपनी धनुर्विद्या की परीक्षा करने के लिए आगे आने लगे। पहले जरासन्ध आया पर धनुष की डोरी न चढ़ा सका। अन्त में निराश होकर वह पीछे हट गया। उसके उपरान्त बिराटरान, कीचक, सुशर्मा, शिशुपाल आदि अनेक प्रसिद्ध राजाओं ने मत्स्यवेध करने का प्रयत्न किया पर सब का प्रयत्न निष्फल हुआ। और वे सब लोग भी लज्जित होकर अपने अपने आसन पर जा बैठे। अनेक क्षत्रियों को इस प्रकार विफल होते देख कर भीष्म से न रहा गया। उन्होंने जोर से चिल्ला कर कहा 'क्षत्रियों की इतनी बड़ी सभा के लिए यह बहुत ही लज्जा की बात है कि इतने लोगों में से कोई ऐसा शक्तिमान नहीं निकला जो यह धनुष चढ़ा कर मत्स्यवेध कर सके। मैं आप लोगों का यह कलंक दूर करूँगा। परन्तु आप सब लोग जानते हैं कि मैंने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की है। इसलिए मैं इस कन्या को ग्रहण न कर सकूँगा। यदि मैं मत्स्यवेध कर दूँगा तो मेरे पौत्र दुर्योधन के साथ कृष्णा का विवाह करना होगा।

इतना कहकर भीष्म पितामह आगे आए परन्तु अपने सामने ही शिखंडी को खड़े देखकर वे स्तब्ध होकर खड़े हो गए। सामने नपुंसक का आना बहुत बड़ा अपशकुन था इसलिए उन्होंने धनुष हाथ से रख दिया और वे फिर पीछे हटकर अपने स्थान पर जा बैठे।

धृष्टद्युम्न बार बार ललकार कर क्षत्रियों को लक्ष्यवेध करने के लिए आमन्त्रित करने लगा परन्तु किसी ने उठने का साहस नहीं किया। जब धृष्टद्युम्न ने देखा कि कोई क्षत्रिय वीर इस काम के लिए आगे नहीं बढ़ता तो उसने ऊँचे स्वर से पुकार कर कहा

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य या शूद्र किसी जाति का पुरुष यदि मत्स्य को वेधेगा तो उसके साथ मेरी कन्या का विवाह होगा। इसके उत्तर में द्रोणाचार्य ने भी इस शर्त पर लक्ष्यवेध करने का प्रयत्न किया कि कृष्णा का विवाह दुर्योधन से होगा। पर उनका प्रयत्न भी निष्फल हुआ। उनके बाद अश्वत्थामा की भी वही दशा हुई। इसके उपरान्त अंग देश का राजा कर्ण सामने आया। धनुर्विद्या में वह अर्जुन के समान ही था। उसके हाथ से लक्ष्यवेध होना सम्भव था। परन्तु वह सूत जाति का था। और द्रौपदी उसे वरण करना नहीं चाहती थी। इसलिए ज्योंही कर्ण ने लक्ष्यवेध करने के लिए धनुष की प्रत्यंचा चढ़ानी चाही त्योंही द्रौपदी ने भरी सभा में निर्भयतापूर्वक गरज कर कह दिया कि मैं सूतपुत्र को वरण नहीं करूँगी।

राजा द्रुपद का तो यही प्रण था कि जो कोई लक्ष्यवेध कर सकेगा उसी के साथ मैं द्रौपदी का विवाह कर दूँगा। परन्तु द्रौपदी की यह साहसपूर्ण बात सुनकर सब राजा लोग स्तब्ध हो गए। कर्ण अब क्या करता? उसने लज्जित होकर धनुषबाण रख दिया और वह अपने आसन पर जा बैठा।

अन्त में ब्राह्मण सभा में से अर्जुन ने उठकर लोगों को सूचित किया कि मैं लक्ष्यवेध करूँगा। इसपर सब चौंक पड़े पर अर्जुन ने किसी की परवाह नहीं की और तुरन्त लक्ष्यवेध किया। द्रौपदी ने भी प्रसन्नतापूर्वक उस वीर ब्राह्मण युवक के गले में वरमाला पहना दी।

जो काम क्षत्रिय राजाओं से नहीं हो सका वही काम करके एक गरीब ब्राह्मण राजकन्या द्रौपदी को वर ले गया, यह देखकर राजाओं को बहुत क्षोभ हुआ और वे यह बात सहन न कर सके।

वे सब मिलकर अर्जुन पर टूट पड़े। पर भीम और अर्जुन ने अपने अतुल पराक्रम से सबको हरा दिया और वे द्रौपदी को लेकर अपनी माता कुन्ती के पास अपनी झोंपड़ी में जा पहुँचे।

घर के द्वार पर पहुँचकर पांडवों ने अपनी माता को आवाज देकर कहा कि माता आज हम लोग एक रत्न लाए हैं। माता ने द्रौपदी को बिना देखे ही अन्दर से उत्तर दिया, पाँचो भाई बाँट लो।

माता की बात सुनकर सब लोग चौंक पड़े। युधिष्ठिर ने क्षुब्ध होकर कहा 'माँ ! यह तुम क्या कह बैठीं ? अर्जुन आज लक्ष्यवेध करके पाँचालराज की कुमारी कृष्णा को ले आया है।

अभी तक कुन्ती ने कृष्णा को नहीं देखा था। क्योंकि वह सब लोगों के पीछे बहुत ही विनयपूर्वक खड़ी हुई थी। युधिष्ठिर की बात सुनकर कुन्ती बहुत ही चिन्तित हुई। उसने सोचा कि आज अनर्थ हो गया ! इतने में पुत्रों और पुत्रवधू ने उसे प्रणाम किया। कुन्ती ने उन सब लोगों को आशीर्वाद दिया और बहुत ही दुःखित भाव से कहा 'हाय ! तुम लोगों की बुद्धि क्यों मारी गई थी ? यदि तुम लोग इस अमूल्य रत्न के सम्बन्ध में यह न कहते कि इसे हम लोग भिक्षा में माँगकर लाए हैं तो मैं यह क्यों कहती कि तुम सब लोग मिलकर इसे बाँट न लो। अपने जीवन भर में मैं आजतक मिथ्या वचन नहीं बोली। पर क्या आज मेरा वह वचन मिथ्या हो जायगा ? जब अनजान मेरे मुँह से यह बात निकल गई है तो तुम लोग इस बात का विश्वास रखो कि मेरे हृदय में भगवान ने ही यह बात मेरे से कहलाई है। परन्तु आखिर अब इसका उपाय क्या हो ? इसके उपरान्त कुछ देर तक चुपचाप सोच कर उसने युधिष्ठिर से कहा, बेटा

तुम धर्मपुत्र हो; धर्मवीर हो, सब वेद विधियों के जाननेवाले हो। अब तुम्हीं कोई ऐसा उपाय ढूँढ़ निकालो जिसमें मेरा यह क्षोभ दूर हो। तुम कोई ऐसा रास्ता बतलाओ जिसमें मेरा यह वचन भी मिथ्या न होने पावे और धर्म की भी किसी प्रकार हानि न होने पावे।

माता के मन का यह क्षोभ देखकर युधिष्ठिर ने कहा, माता: एक दिन महर्षि वेद्व्यास ने हम लोगों को कृष्णा के पूर्व जन्म की कथा सुनाई थी। क्या तुमने वह कथा सुनी है? इसे पूर्वजन्म में जो शाप मिला था उसीके कारण आज तुम्हारे मुँह से यह वचन निकला है। विधाता की ही यह इच्छा है कि तुम्हारा यह वचन कदापि मिथ्या न हो। युधिष्ठिर ने माता से इस प्रकार कहा और उधर अपने भाई की इच्छा जानने के लिए उन्होंने अर्जुन से कहा, भाई, स्वयंवर मंडप में तुम्हीं ने अद्भुत कौशल से लक्ष्यवेध करके द्रौपदी को प्राप्त किया है। इसके ऊपर तुम्हारा ही अधिकार है। चलो, हम लोग धौम्य पुरोहित को बुलाकर विवाह की तैयारी करें।

अर्जुन ने हाथ जोड़ कर कहा, भइया!! आपका इस प्रकार बातें करना ठीक नहीं है। यदि मैं द्रौपदी के साथ विवाह करूँगा तो मैं धर्मशास्त्र के अनुसार भी निन्दित होऊँगा और संसार भी मेरी निन्दा करेगा। आप बड़े हैं। पहले आप का विवाह होना चाहिए। आप के उपरान्त भइया भीम का और तब मेरा विवाह होना चाहिए। अर्जुन की यह बात सुन कर युधिष्ठिर को बहुत अधिक आनन्द हुआ। उसी दिन से कृष्णा ने घर का सारा भार अपने ऊपर ले लिया और एक कुशल गृहणी की भाँति वह सब लोगों की परिचर्या करने लगी। उसके आजाने से इन सब लोगों के

को दरिद्रता और पराए घर में रहने का दुःख कुछ मालूम ही न होता था। घर गृहस्थी की व्यवस्था तथा भोजन आदि बनाने में कोई कृष्णा की बराबरी नहीं कर सकता था। उसके हाथ के बने हुए भोजन में अमृत का सा स्वाद आता था। पांडवों को तो उसी दिन से यही जान पड़ने लगा कि मानो लक्ष्मी और अन्नपूर्णा दोनों के साथ मिल कर कृष्णा देवी के रूप में हम गरीबों की झोंपड़ी में आ बिराजी हैं।

जब भोजन करने के उपरान्त पाँचों भाई सो गए तब द्रौपदी भी उन सब लोगों के पैरों के पास सो गई।

अपने स्वामी के वीरत्व पर मुग्ध विरांगना द्रौपदी को इस दरिद्रावस्था में भी राजवैभव से बढ़कर आनन्द मालूम होता था।

ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन के पराक्रम से राजा द्रुपद बहुत ही अधिक प्रसन्न हुआ था। परन्तु उसे यह नहीं मालूम हुआ था कि यह कौन हैं? इसीलिए उसका ठीक ठीक पता लगाने के विचार से उसने एक ब्राह्मण को उन लोगों के पीछे पीछे भेजा। पांडवों ने उस ब्राह्मण का बहुत अधिक आदर सत्कार किया। पर जब उन्होंने यह सुना कि राजा द्रुपद हम लोगों का परिचय जानना चाहते हैं तब युधिष्ठिर ने कुछ हँसते हुए उत्तर दिया कि हमारे परिचय की क्या आवश्यकता है? लक्ष्यवेध के समय तो राजा ने यही प्रतिज्ञा की थी कि हम जातपाँत की कोई परवा नहीं करेंगे और जो कोई लक्ष्यवेध करेगा उसीके साथ कृष्णा का विवाह किया जायगा। अर्जुन इस परीक्षा में पूरा उतरा और वह कृष्णा को बर लाया। अब जातपाँत पूछने से क्या लाभ? आप राजा से जाकर कह दें कि अब सब बातों की चिन्ता करने से कोई

लाभ नहीं है। ऐसा कठिन लक्ष्यवेध करना किसी ऐसे वैसे आदमी का काम नहीं है। ब्राह्मण ने ज्यों की त्यों बातें जाकर राजा से कह दीं। दूसरे दिन राजा ने बड़े समारोह के साथ पांडवों को अपने राजमहल में बुलवाया। वहाँ जब उसने युधिष्ठिर के मुंह से उनका वास्तविक परिचय सुना तब उसके आनन्द का ठिकाना न रहा। परन्तु जब धर्मराज ने यह बतलाया कि कृष्णा का विवाह हम पाँचों भाइयों से होगा तब राजा को बहुत अधिक आश्चर्य और दुःख भी हुआ। अन्त में वेदव्यास तथा दूसरे अनेक ऋषियों ने आकर राजा का अच्छी तरह समाधान किया। तब राजा द्रुपद ने पाँचों पांडवों के साथ कृष्णा का विवाह किया। क्षत्रियों में इस प्रकार का यह पहला ही विवाह था और बिलकुल अपवाद रूप था। सभी लोग धर्म की रक्षा करना चाहते थे, इस लिए यह व्यवस्था कर दी गई कि जिस समय एक पांडव द्रौपदी के घर में हो उस समय और कोई पांडव उस घर में प्रवेश न कर सके और यदि कोई पांडव इस नियम का उल्लंघन करे तो उसे तीन वर्ष तक वनवास भोगना पड़े।

विवाह हो जाने के उपरान्त पांडव के गुप्तवास की बात प्रकट हो गई। धृतराष्ट्र ने पांडवों को बुलाकर राज्य का आधा भाग उन्हें दे दिया। अब इन्द्रप्रस्थ नगर में अपनी राजधानी बना कर युधिष्ठिर राज्य करने लगे।

एक दिन युधिष्ठिर के घर में द्रौपदी थी कि इतने में किसी काम से अर्जुन वहाँ जा पहुँचे। नियम का भंग करने के कारण अर्जुन को तीन वर्ष तक वन में जाकर रहना पड़ा। उस समय अर्जुन ने श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा के साथ विवाह किया। जब तीन

बरस बीत गए तब सुभद्रा को साथ लेकर अर्जुन इन्द्रप्रस्थ में आए। सुभद्रा ने द्रौपदी के पास पहुँच कर और उसे प्रणाम करके कहा, आज से मैं आपकी दासी हूँ। द्रौपदी ने भी सुभद्रा को स्नेहपूर्वक गले लगा लिया और प्रसन्नतापूर्वक कहा, तुम्हारा स्वामी निःसपत्न हो अर्थात् वह तुम्हारे सिवा और किसी स्त्री का स्वामी न हो। सुभद्रा ने हँसते हुए द्रौपदी की ओर देखकर कहा, तथास्तु।

तबसे जन्म भर सुभद्रा और द्रौपदी में इतना अधिक दृढ़ प्रेम रहा कि यह कोई नहीं कह सकता था कि ये दोनों सौते हैं।

इसके थोड़े दिनों के बाद कौरवों ने युधिष्ठिर को जूआ खेलने के लिए हस्तिनापुर में बुलवाया। युधिष्ठिर यद्यपि परम धर्मात्मा थे तथापि जूआ खेलने के समय वे अपने आपे तक को भूल जाया करते थे। दुर्योधन का मामा शकुनि पासा फेंकना बहुत अच्छा जानता था। उसे पासा फेंकने की तरकीबें भी बहुत सी आती थीं। उसके दावपेच के कारण युधिष्ठिर हार गए। धन, रत्न, राज्य, दास दासी, जो कुछ उनके पास था वह सब वे हार गए। यहाँ तक वे एकएक करके अपने चारों भाइयों को और अन्त में स्वयं अपने आपको भी हार गए और कौरवों के दास बन गए। हारते, हारते युधिष्ठिर की मूर्खता यहाँ तक बढ़ गई कि अन्त में द्रौपदी को भी हार गए।

स्वामी की बुद्धि के दोष से द्रौपदी को भी दुष्ट कौरवों की दासी होना पड़ा। पापी दुर्योधन को द्रौपदी के साथ यथेष्ठ दुर्व्यवहार करने का अधिकार मिल गया। क्रूर दुर्योधन पहले से ही पांडवों के साथ ईर्ष्या और द्वेष किया करता था। पांडवों का

अपमान और अनिष्ट करने में ही उसे सब से अधिक आनन्द आता था। और केवल इसीलिए उसने दुष्ट पांडवों को जूआ खेलने के लिए अपने यहाँ बुलवाया था और इस प्रकार अपनी दुष्ट वासना पूरी की थी। वीर श्रेष्ठ पांडव आज उसके जीते हुए दास थे। परन्तु इतने पर भी उसकी पाप वासना पूरी नहीं हुई थी। उसकी यह प्रबल इच्छा थी कि जूए में जीती हुई द्रौपदी को राजसभा में बुलाकर सब के सामने उसका अपमान किया जाय, पांडवों पर लांछन लगाया जाय और उनके व्यथित हृदय को और भी अधिक व्यथित किया जाय।

पापिष्ठ दुर्योधन ने अपने चाचा विदुर को आज्ञा दी कि आप जाकर द्रौपदी को पकड़कर सभा में ले आवें। इस पर धर्मात्मा विदुर ने बहुत कुछ क्रुद्ध होकर दुर्योधन को बहुत धमकाया और उसकी इस आज्ञा की अवज्ञा की। इसलिये दुर्योधन ने अपनी सभा के प्रतिकामी को यह काम करने के लिये भेजा।

प्राचीन काल में क्षत्रिय वीर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझते थे। अपने इस धर्म पालन के लिए वे मृत्यु तक का दारुण दुःख शान्तिपूर्वक सह लिया करते थे। इसीलिए पांडव लोग अपना प्रण पूरा करने के विचार से चुपचाप यह असह्य अत्याचार सहन करने के लिए तैयार हुए थे। केवल इसीलिए महा तेजस्वी वीर श्रेष्ठ भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि सभा में उपस्थित रह कर भी यह अत्याचार रोकने का प्रयत्न न कर सके। वे लोग जानते थे कि युधिष्ठिर जूए में द्रौपदी को हार चुके हैं इसलिए द्रौपदी पर दुर्योधन का पूरा पूरा अधिकार है। वह उसके साथ जैसा जी चाहे वैसा व्यव-

कर सकता है । त्र-स्नेह से दुर्वल और पुत्रभय से भय-भीत धृतराष्ट्र से भी इसके प्रतिकार की कोई आशा नहीं थी।

प्रतिकामी ने द्रौपदी के पास जाकर उसे सब बातें सुनाईं। सब कुछ सुन चुकने पर अन्त में द्रौपदी ने बहुत ही विस्मित होकर कहा, प्रतिकामी ! क्या तू पागल हो गया है ? भला, जूए में स्त्री को भी दांव पर कोई लगाया करता है ? और यदि यह बात ठीक भी हो तो यही समझना चाहिए कि युधिष्ठिर पागल हो गए हैं। क्या उनके पास दांव पर लगाने के लिए और कुछ नहीं था ?

प्रतिकामी ने फिर जूए की सब बातें विस्तारपूर्वक कह सुनाईं। द्रौपदी सब बातें चुपचाप सुनती रही। दुर्वल चित्त स्त्रियों की तरह वह भयभीत या अस्थिर नहीं हुई। पर वह मन ही मन दुर्योधन के हाथ से अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा करने का उपाय सोचने लगी।

वह जानती थी कि जबतक मैं कोई युक्ति न निकालूंगी तब तक मेरे बचने का कोई उपाय नहीं है। बुद्धिमती द्रौपदी ने युधिष्ठिर के प्रण में एक बहुत बड़ी बारीकी ढूंढ निकाली।

युधिष्ठिर ने पहले अपने आपको दांव पर लगाया था या द्रौपदी को। यदि उन्होंने पहले अपने आपको दांव पर लगाया हो और इस प्रकार वे हार कर दुर्योधन के दास हुए हों तो दूसरे के दास हो चुकने के उपरान्त उन्हें द्रौपदी को दांव पर लगाने का कोई अधिकार ही नहीं था। ऐसी दशा में वे द्रौपदी को दाँव पर लगाकर हार ही क्योंकर सकते थे ? और फिर द्रौपदी केवल युधिष्ठिर की ही स्त्री तो थी ही नहीं। वह पाँचों भाइयों की समान रूप से पत्नी थी। यही सब बातें सोच विचार कर द्रौपदी

ने प्रतिकामी से कहा, प्रतिकामी ! तुम पहले जाकर युधिष्ठिर से मेरी कुछ बातें पूछ आओ। उन बातों का उत्तर पाकर यदि फिर आवश्यकता हो तो तुम मेरे पास आना। तुम उनसे यह पूछना कि युधिष्ठिर पहले अपने आपको हारे थे या मुझे ? वे उस समय स्वयं किसी वस्तु के मालिक भी थे या पराधीन अवस्था में ही रहकर उन्होंने मुझे दांव पर लगाया था।

प्रतिकामी ने राजसभा में जाकर युधिष्ठिर को द्रौपदी के वे प्रश्न कह सुनाए। उन प्रश्नों का भाव समझ कर युधिष्ठिर चुप रहे। इस पर दुर्योधन ने कहा कि यदि द्रौपदी को कुछ पूछना हो तो वह यहां आकर पूछे।

प्रतिकामी फिर द्रौपदी के पास गया। द्रौपदी ने कहा, धर्म का जो कुछ विधान हो वह मैं करने के लिए तैयार हूँ। कुरुवंशी कभी धर्म का उल्लंघन नहीं करते। तुम जाओ और राजसभा में बैठे हुए सब सभासदों से पूछो कि ऐसी अवस्था में मेरा क्या कर्तव्य है ? वे लोग मुझे जैसी आज्ञा देगें उसीके अनुसार मैं काम करूंगी।

प्रतिकामी ने फिर सभा में जाकर द्रौपदी का प्रश्न निवेदन किया।

इस कठिन प्रश्न का उत्तर कोई न दे सका। यह बात भी ठीक थी कि जिस समय युधिष्ठिर स्वयं दासत्व ग्रहण कर चुके थे, उस समय वे द्रौपदी को दांव पर लगाने का अपना अधिकार खो चुके थे और शास्त्र का यह विधान भी सत्य था कि सभी अवस्थाओं में स्त्री को अपने स्वामी की अनुवर्तिनी होना चाहिए। अतः द्रौपदी के प्रश्न का कोई उत्तर न हो सकता था और इसीलिए सब लोग चुप थे।

जब दुर्योधन ने देखा कि द्रौपदी बराबर मेरी आज्ञा का उल्लंघन कर रही है तब उसने दु:शासन को आज्ञा दी कि तुम जाकर द्रौपदी को पकड़ कर सभा में ले आओ। दु:शासन भी आखिर दुर्योधन का ही भाई था और उसी के योग्य भाई था। बड़े भाई की आज्ञा मिलते ही वह तुरन्त दौड़ा हुआ गया और द्रोपदी के क्रोध, आग्रह तथा प्रार्थना पर बिना कुछ भी ध्यान दिए वह पापी एकवस्त्रा रज:स्वला द्रौपदी को उस के सिर के बाल पकड़ कर राजसभा में खींच लाया जहाँ उसके अनेक शुभ-चिन्तक और भिन्न भिन्न देशों के अनेक राजा बैठे हुए थे। जब द्रौपदी ने देखा कि सब लोगों के सामने इस प्रकार मेरी प्रतिष्ठा जा रही है तब उसने कहा कि यह क्या हो रहा है? आज मेरे ससुराल के पक्ष के सम्बन्धियों और कुरुवंश के वीर पुरुषों के सामने मेरा इतना अपमान। आप सब लोग बैठे हुए चुपचाप इस अपमान का अनुमोदन कर रहे हैं। निर्दोष कुलवधू की प्रतिष्ठा बचानेके लिए आप लोगों मे से कोई एक शब्द भी नहीं बोलता। क्या आज सबका क्षात्र-धर्म नष्ट हो गया है? भीष्म, द्रोण, विदुर आदि में से किसी में भी मनुष्यत्व नहीं रह गया है। आज ये लोग किस प्रकार, ऐसा अधर्म अपनी अपनी आँखों से देख रहे हैं।

इतना कहकर द्रौपदी ने रोषभरे नेत्रों से पांडवों की ओर तीव्र कटाक्ष किया। उस तीव्र कटाक्ष का विष पांडवों की रग रग में प्रवेश कर गया और उन्हें असह्य पीड़ा होने लगी। परन्तु वे क्षत्रिय अपनी प्रतिज्ञा से बंधे हुए थे इसलिए वह मर्मघातक वेदना चुपचाप सहने लगे।

भीष्म ने कहा, पांचालि! जो मनुष्य स्वयं किसी दूसरे के

अधिकार में चला जाता है वह पराई चीज दांव पर नहीं लगा सकता। परन्तु दूसरी ओर स्त्री भी स्वामी की अधीनता में ही होती है। इसलिए तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देना बहुत ही कठिन काम है। धर्मात्मा युधिष्ठिर अपनी इच्छा से पासा फेंककर तुम्हें हारे हैं। वे तुम्हारे स्वामी हैं। केवल प्रण से बंधे होने के कारण ही वे इस समय चुपचाप तुम्हारा यह अपमान देख रहे हैं। ऐसी अवस्था में हम लोग अपना मत किस प्रकार बतला सकते हैं?

द्रौपदी ने कहा, युधिष्ठिर कभी अपनी इच्छा से जूआ खेलने के लिए यहाँ नहीं आए थे। कूटबुद्धि, पापी कौरवों का निमन्त्रण पाकर ही वे विवश होकर यहां जूआ खेले थे। उनके साथ कपट-पूर्वक जूआ खेला गया था इसीलिए वे हार गए थे। जो हो सभा में कुरुवंश के सभी मुख्य लोग विराजमान हैं। आप सब लोग विचार करके मेरे प्रश्न का उत्तर दीजिए। आप लोग मुझे जो उचित आज्ञा देंगे उसे मैं शिरोधार्य करूंगी।

परन्तु किसीने भी उसके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण आदि अनेक प्रकार के कटु वाक्य कहकर और हँसी मजाक करके द्रौपदी को दुःखित और अपमानित करने लगे। दुर्योधन की आज्ञा से द्रौपदी को अन्दर लेजाने के लिए दुःशासन खींचने लगा। द्रौपदी ने क्रोधपूर्वक कहा, पापिष्ठ! तू मुझे मत छूना। तू जानता है कि अभी मुझे अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला है। जबतक मुझे इस प्रश्न का उत्तर न मिलेगा तब तक तुझे मेरे ऊपर किसी प्रकार का अधिकार न होगा। परन्तु दुरात्मा दुःशासन ने उसकी बात पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और वह द्रौपदी को खींचने लगा।

उस समय सभा में बैठे हुए सब राजाओं और दूसरे लोगों को सम्बोधन करके द्रौपदी ने कहा, मैं सती स्त्री हूं। युधिष्ठिर की सवर्णा भार्या हूँ। द्रुपदराज की कन्या और श्रीकृष्ण की सखी हूँ। आज मैं इस भरी सभा में सब लोगों के सामने एक अनाथ स्त्री की तरह अपमान सह रही हूँ। राजाओ! आज आप लोगों का राजधर्म कहां चला गया? कुरुवंशियो! आज आप लोगों का वह कुल धर्म कहां चला गया? आज इस सभा में कोई ऐसा नहीं है जो मेरा यह भीषण अपमान रोक सकता हो। यदि कोई इतना भी नहीं कर सकता है तो क्या किसी में इतना साहस भी नहीं है कि वह मेरे प्रश्न का उत्तर दे सके। वीर पतियों के सामने, ससुरालवाले महात्माओं के सामने, भारत के राजाओं के सामने, मैं निर्दोष कुल-वधू आप लोगों से यह पूछती हूँ कि धर्म की दृष्टि से देखते हुए क्या मैं वास्तव में जूए में हार ही गई हूँ? आप सब लोग यह बतलावें कि जब युधिष्ठिर दूसरे के दास हो गए तब फिर उन्हें मुझे दांव पर लगाने का अधिकार था या नहीं? आप लोग जो कुछ कहें, वह मैं करने को तैयार हूँ।

द्रौपदी की इस बात का और किसीने तो कोई उत्तर नहीं दिया, केवल भीष्म ने इतना कहा, हममें से कोई इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ नहीं है। तुम जूए में हारी गईं या नहीं हारी गईं इस सम्बन्ध में स्वयं युधिष्ठिर जो कुछ कहें, वही प्रमाण माना जायगा।

परन्तु युधिष्ठिर ने कुछ भी नहीं कहा। निर्लज्ज कौरवों का हंसी मजाक धीरेधीरे असह्य होने लगा। पांडवों के पास जो कुछ धन आदि था वह सब कौरवों का हो चुका था। इस कपट

व्यवहार से उन लोगों ने पांडवों के सब आभूषणों आदि के अति रिक्त उनके पहनने के कपड़े लत्ते तक छीन लिए। द्रौपदी के वस्त्र उतारने के लिए भी दुःशासन तैयार हो गया। निरुपाय होकर द्रौपदी अपनी लाज वचाने के लिए लज्जानिवारक मधुसूदन श्रीकृष्ण के शरणापन्न हुई। उसने कातर वचनों से उन्हीं से आश्रय के लिए प्रार्थना की।

श्रीकृष्ण की कृपा से द्रौपदी की लाज रह गई। दुःशासन ज्यों ज्यों वस्त्र खींचता गया त्यों त्यों वह वढ़ता गया। अन्त में लाचार होकर दुःशासन ने सती लक्ष्मी द्रौपदी को भरी सभा में वेइज्जत करने का विचार छोड़ दिया।

इस वीच में दुर्योधन ने द्रौपदी को अपनी वाईं जांघ पर वैठने का संकेत किया। महातेजस्वी भीमसेन से यह वात नहीं सही गई। उन्होंने उसी भरी सभा में प्रतिज्ञा की कि मैं दुःशासन की छाती चीरकर उसका लहू पीऊंगा और गदा मारकर दुर्योधन की वह जांघ तोड़ डालूंगा। परन्तु उस समय वड़े भाई प्रतिज्ञा से वंधे हुए थे इसलिए इस समय शरीर में यथेष्ट वल रहते हुए भी भीम ने उस पापिष्ठ को किसी प्रकार का दंड नहीं दिया। कहते हैं कि भीमसेन की यह प्रतिज्ञा सुन कर द्रौपदी ने भी प्रतिज्ञा की कि चोटी से पकड़कर भरी सभा में खींच लाकर दुःशासन ने मेरा जो अपमान किया है उसके वदले में मैं भी यह प्रतिज्ञा करती हूँ कि जवतक भीमसेन अपनी इस प्रतिज्ञा के अनुसार दुःशासन की छाती का लहू न पीएगा और उन्हीं खूनभरे हाथों से आकर मेरा जूड़ा न वांधेगा तवतक मैं अपने इस अपमान के स्मरण-

अपने बाल यों ही खुले रखूंगी और कभी जूड़ा न बाधूंगी। मैं अपने बाल बराबर खुले ही रखूंगी।

धीरे धीरे द्रौपदी के अपमान की बात अन्तःपुर में जा पहुंची। गान्धारी देवी ने तुरन्त उस भरी राजसभा में पहुंचकर धृतराष्ट्र से द्रौपदी का यह अपमान रोकने के लिए आग्रह किया। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन का तिरस्कार करके द्रौपदी को धैर्य दिलाते हुए कहा, देवी ! जो कुछ हो गया उसके लिए तुम क्षमा करो। अब कोई तुम्हारा किसी प्रकार का अपमान न कर सकेगा। तुम्हारी तेजस्विता और धर्मपरायणता से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। इस समय तुम मुझसे जो वरदान चाहो, वह मांग लो।

द्रौपदी ने कहा, आर्य ! यदि आप प्रसन्न हैं तो युधिष्ठिर को दासत्व से मुक्त कीजिए।

इस पर धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर को दासत्व से मुक्त कर दिया और द्रौपदी से दूसरा वर माँगने के लिये कहा। तब द्रौपदी ने भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के छुटकारे की प्रार्थना की। उन चारों को दासत्व से मुक्त करने के उपरान्त धृतराष्ट्र ने द्रौपदी से कहा कि अच्छा अब तुम और कोई वर माँगो। परन्तु द्रौपदी ने कहा, आर्य ! बहुत अधिक लोभ तो पाप का मूल हुआ करता है। अब मैं कोई वर नहीं माँगना चाहती। मेरे स्वामी दासत्व से मुक्त हो गए हैं। ये लोग अपने धर्म-बल और बाहुबल से सब कुछ पैदा कर सकते हैं। इसलिए मुझे अब और कोई वर माँगने की आवश्यकता नहीं रह गई।

धृतराष्ट्र ने पांडवों का सब कुछ उन्हें लौटा दिया और मीठे वचनों से उन्हें सन्तुष्ट करके इन्द्रप्रस्थ भेज दिया।

इस बात से दुर्योधन और उनके सब भाई बहुत नाराज हुए। उन लोगों ने धृतराष्ट्र से फिर यह आग्रह किया कि आप वनवास का प्रण करके फिर से युधिष्ठिर को बुलवाइए। धृतराष्ट्र का निमन्त्रण पाकर युधिष्ठिर फिर जूआ खेलने के लिए आए। इस बार भी वे जूए में हार गए और प्रण के अनुसार निश्चय हुआ कि वे अपने चारों भाइयों के साथ बारह वर्षों तक वनवास और एक वर्ष तक गुप्तवास करेंगे। इसी प्रण के अनुसार उन्हें वनवास से लिए घर से निकलना पड़ा। कुन्तीदेवी की आज्ञा लेकर द्रौपदी भी उन लोगों के साथ वन को चली गई। पांडवों की जो दूसरी स्त्रियाँ थीं, वे अपने अपने मैके चली गईं।

पांडव लोग प्रजा को बहुत अधिक प्रिय थे। इसलिए बहुत से लोग उनके साथ वन को जाने को तैयार हो गए। युधिष्ठिर ने उन सब लोगों को बहुत समझा बुझाकर वापस किया। परन्तु जो ऋषि और ब्राह्मण उनके साथ चलने के लिए तैयार हुए थे, उनको वे किसी प्रकार समझा बुझा कर वापस न कर सके। वे स्वयं तो बहुत ही दीन हो गए थे। उनके पास कुछ भी नहीं था। इसलिए सब पांडवों को और विशेषतः कृष्णा को इस बात की बहुत अधिक चिन्ता हुई कि इन ब्राह्मणों और ऋषियों आदि का भरण पोषण किस प्रकार होगा? कृष्णा गृहस्थाश्रम का धर्म बहुत अच्छी तरह जानती थी। वह यह बात अच्छी तरह समझती थी कि अतिथियों को अन्न, जल, आदि देना गृहस्थ का परम धर्म है और यदि इस धर्म का पालन न किया जाय तो दान, यज्ञ, तप आदि सब अनुष्ठान व्यर्थ होते हैं। यही प्राचीन आर्य सिद्धान्त था। वह पांडवों के साथ गृहिणी के रूप में थी

इसलिए वह यह सोचकर बहुत ही चिन्तित होने लगी कि यदि मैं इन ब्राह्मणों और ऋषियों का पालन न कर सकूंगी तो मेरे गृहिणी धर्म की हानि होगी। वनवास का दुःख उसके लिए कुछ भी दुःखदायक नहीं था। वह दिन रात अपने पतियों की सेवा करती थी और निरन्तर उन्हें उत्साहित करके उनका कष्ट हलका करती थी। परन्तु केवल गृहस्थाश्रम के धर्म के पालन की चिन्ता ही उसे सदा व्याकुल किए न रहती थी। युधिष्ठिर उसके मन का यह भाव समझ गए और उन्होंने धौम्य पुरोहित के परामर्श से उसे बतलाया कि तुम सूर्यदेव की आराधना किया करो। उसकी आराधना से सूर्यदेव प्रसन्न हो गए और उन्होंने उसे आशीर्वाद दिया कि पांडव लोग फल फूल आदि जो कुछ थोड़ी बहुत चीजें रसोई में लावेंगे वे तब तक समाप्त न होंगी जबतक स्वयं तुम भोजन न कर लोगी। इस अक्षय भंडार में से तुम जितने आदमियों को चाहोगी, बहुत अच्छी तरह भोजन करा सकोगी। यह वरदान पाकर कृष्णा के आनन्द का ठिकाना न रहा। बढ़िया रसोई बनाने में तो उनका मन पहले से ही अधिक लगता था इसलिए वह साधारण सामग्री से भी ऐसे स्वादिष्ट भोजन बनाया करती थी कि जो कोई उसके हाथ की रसोई खाता था वह कभी उसका स्वाद न भूलता था। अब वह बहुत ही यत्न और आनन्दपूर्वक गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करने लगी। पांडव लोग जंगल में भी मंगल करने लगे।

बनवास में भी द्रौपदी के सहवास से युधिष्ठिर को अपूर्व सुख मिलने लगा और वे बहुत ही निश्चिन्त होकर दिन बिताने लगे।

जिस दुष्ट शत्रु की कुटिल नीति के कारण उन्हें राज्यभ्रष्ट हो

कर अपने छोटे भाइयों तथा स्त्री के साथ वनवास ग्रहण करना पड़ा था उस दुष्टके प्रति कभी उनके मन में किसी प्रकार का क्रोध या वैरभाव नहीं उत्पन्न हुआ। युधिष्ठिर के मन की स्थिति को देखते हुए यही जान पड़ता था कि वे कभी इस वैर का कोई बदला नहीं लेंगे। परन्तु द्रौपदी से यह बात नहीं सही गई। उसने युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए एक दिन कहा, महाराज! आप राजा हैं और आपके भाई राजकुमार हैं। मैं भी राजकन्या और राजमहिषी हूँ। आप लोग इस समय किसलिए इस पर्णकुटी में इतना दुःख भोग रहे हैं? आपने धर्म का उल्लंघन नहीं किया है। कौरव विना कारण ही आपके शत्रु हो रहे हैं। उन्हीं की कुटिल नीति और चालबाजी के कारण आप आज इस आपत्ति में पड़े हुए हैं। तो फिर क्या कारण है कि अब भी आपके मन में इन शत्रुओं के प्रति तिरस्कार का संचार नहीं होता? लोग कहते हैं कि क्षत्रिय कभी तेज और क्रोध से हीन नहीं हो सकता। परन्तु मैं केवल आपको ही इस नियम के अपवाद के रूप में देख रही हूँ। तेज ही क्षत्रियों का मुख्य धर्म है, जो क्षत्रिय तेजोहीन होता है, वह सदा अपने शत्रुओं से अपमानित होता रहता है। वह कभी इस संसार में किसी प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता। उसे सदा बिलकुल अधर्म और हीन दास की भाँति जीवन व्यतीत करना होता है।

मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं क्षमा गुण की निन्दा कर रही हूँ। मनुष्य को अपने मनुष्यत्व की रक्षा करने के लिए क्षत्रियों को अपने क्षात्र-धर्म की रक्षा करने के लिए कुछ विशिष्ट अवस्थाओं में क्षमा की आवश्यकता हुआ

करती है। इसी प्रकार कुछ विशिष्ट अवसरों पर क्रोध और तेज के उपयोग की भी आवश्यकता हुआ करती है। यदि कभी कोई उपकारी मनुष्य किसी प्रकार का अपराध करे तो उसे क्षमा करना पड़ता है। यदि किसी से अनजान में कभी कोई अपराध हो जाय तो उसे भी क्षमा करना पड़ता है। यदि इच्छापूर्वक भी कोई अपराध करे तो उसे भी दो एकवार क्षमा करना पड़ता है। परन्तु यदि कोई कुटिल चरित्र अभिमानी शत्रु किसी को दिन रात कष्ट दिया करे तो उसे क्षमा करना मानो उस दुष्ट चरित्र को आश्रय देने के ही समान होता है। विशेषतः जो क्षत्रिय राजा हो, जिसे लोगों का पालन करना हो और जिसे राज्य चलाना हो, उसे केवल क्षमा ही हमेशा शोभा नहीं देती। यदि वह उपयुक्त अवसर पर दुष्टों का शासन करने में क्रोध और तेज प्रकट न करे तो फिर वह आगे चलकर अपनी प्रजा की रक्षा किस प्रकार करेगा और अपना राज्य किस प्रकार चलावेगा?

इसके वाद युधिष्ठिर के वैराग्य और निश्चेष्टता को देखकर द्रौपदी ने कहा, इस संसार में आकर कर्म करने में ही पुरुष का पुरुषत्व है। जो पुरुष निश्चेष्ट होता है वह कभी किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर सकता। दैव चाहे कितना ही अधिक बलवान क्यों न हो परन्तु पुरुष के लिए उसका पुरुषत्व ही मुख्य आधार हुआ करता है। जो व्यक्ति केवल भाग्य पर ही निर्भर रहता है वह कभी इस संसार में अपना गौरव नहीं दिखला सकता। कर्म ही जीवन है, कर्म ही सुख का मूल है और संसार में कर्म ही मनुष्य का मुख्य धर्म है। मनुष्य को

कर्म ही करना चाहिए। जिसका जीवन कर्महीन है वह जड़ पदार्थ के समान असार है। इस संसार में उद्यमहीन मनुष्य का जीवन उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार जल में कच्चा घड़ा नष्ट हो जाता है। इस बात का विचार करना कभी ठीक नहीं है कि कर्म सफल होगा अथवा निष्फल जायगा। कर्म चाहे सफल हो और चाहे निष्फल जाय परन्तु कर्माधीन मनुष्य सदा कर्म ही में प्रवृत्त रहता है। जो व्यक्ति सदा कर्म के अनुष्ठान के लिए सब प्रकार के प्रयत्न करता रहता है, यदि उसका प्रयत्न निष्फल भी हो तो भी वह किसी प्रकार दोष का भागी नहीं हो सकता। यदि उसका कर्म निष्फल भी चला जाय तो भी उसे इतना तो सन्तोष रहता है कि मैंने अपने कर्त्तव्य का पालन करने में कोई त्रुटि नहीं की। हे महाराज! मैं इसीलिए आप से कहती हूँ कि आप अपना बदला चुकाने के लिए क्षात्र तेज से उद्दीप्त हों। आप इस प्रकार शान्त और आलसी बनकर न बैठे रहें। आप क्षत्रियों की भाँति, राजाओं की भाँति अपने उपयुक्त कर्म करने के लिए उद्यमशील हों। नहीं तो आप को सदा इसी प्रकार हीन और असार जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। आपके भाइयों का देवताओं से भी बढ़ा चढ़ा बल बिलकुल व्यर्थ जायगा।

परन्तु शान्त प्रकृति और अमानुषिक क्षमाशील युधिष्ठिर के हृदय में क्रोध का संचार करने में द्रौपदी जैसी तेजस्वी स्त्री भी असमर्थ ही रही।

पांडवों के वनवास काल में एक दिन श्रीकृष्ण अपनी रानी सत्यभामा के साथ उनसे मिलने के लिए बन में गए। सत्यभामा

के साथ द्रौपदी की बहुत अधिक मित्रता थी। दोनों सखियां मिल कर एकान्त में बैठकर बातें करने लगीं और बहुत सी बातों के उपरान्त सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा, क्यों सखी! तुम्हारे तो सिंह के समान महा तेजस्वी पाँच स्वामी हैं। फिर भी वे पांचों तुम्हारे वश में हैं। क्या तुम्हें कोई मन्त्र आता है जिसके द्वारा तुमने इन सबको इस प्रकार अपने वश में कर लिया है। जरा मुझे भी वह उपाय बतलाओ जिससे मैं भी श्रीकृष्ण को इसी प्रकार अपने वश में कर सकूं।

द्रौपदी ने हँसते हुए कहा, सखी! भला मन्त्र और औषध आदि से भी कभी कोई अपने स्वामी को वश में करता होगा। जिन स्त्रियों में किसी प्रकार का कोई गुण नहीं होता ही मन्त्र और औषध आदि का प्रयोग करके उलटे अपने स्वामी को हानि पहुँचाया करती हैं। मैं तुम्हें बतलाती हूँ कि मेरे स्वामी किस प्रकार मेरे वश हुए हैं। सुनो! मैं सदा यही समझती हूँ कि एक मात्र स्वामी ही स्त्रियों के देवता और एकमात्र गति होते हैं और यही समझ कर मैं मन, वचन और कर्म से दिन और रात उनकी सेवा किया करती हूँ। एकमात्र स्वामी-सेवा ही मेरे जीवन का व्रत और वही मेरे जीवन का धर्म है। मैं उन लोगों को कभी कोई कटु वचन नहीं कहती और न कभी कोई ऐसा काम करती हूँ जो उन्हें कभी बुरा मालूम हो। उनके भोजन करने से पहले मैं कभी भोजन नहीं करती। उनके बैठे बिना मैं कभी बैठती नहीं। उनके सोने से पहले मैं कभी सोती नहीं। जो चीज उन्हें पसन्द नहीं होती उसका मैं त्याग कर देती हूँ। जिन लोगों के साथ बातचीत करने की उनकी इच्छा नहीं होती उन लोगों के साथ मैं कभी बात-चीत

नहीं करती। जो मेरे स्वामी का प्रीतिपात्र होता है वह यदि मेरा अप्रीतिपात्र भी हो तो भी मैं उसका मान रखती हूँ और बहुत ध्यान-पूर्वक उसकी सेवा करती हूँ। जिस समय मेरे स्वामी बाहर का काम काज करके थके हुए घर आते हैं उस समय मैं उन्हें आसन और जल देकर उनकी थकावट दूर करती हूँ। ज्यों ही मैं बाहर उनकी आवाज सुनती हूँ त्यों ही मैं आगे बढ़कर दरवाजे पर पहुँच जाती हूँ और उनका सत्कार करती हूँ। यदि वे कभी दासी से कोई वस्तु माँगते हैं तो मैं स्वयं उठ कर उन्हें वह वस्तु ला देती हूँ। जिस समय मैं रानी थी उस समय भी उन्होंने घर बार का कुल भार और दास-दासियों का सब भार मुझ ही पर छोड़ा हुआ था। मैं नित्य अपने हाथ से स्थान आदि साफ करके रसोई बनाती थी और यथासमय सब लोगों को भोजन कराया करती थी। धान्य और घर की दूसरी बहुतसी चीजें मैं बहुत ही होशि-यारी के साथ सजा और सँभाल कर रखा करती थी। अपने घर के नौकरों और गड़रियों और ग्वालों आदि की भी खोज खबर रखा करती थी। मैं अपनी गृहस्थी के खर्च आदि का हिसाब भी रखा करती थी। महल के आश्रितों की सेवा करने में मुझे इस बात का भी पता न लगता था कि कब दिन चढ़ा और कब रात हुई। नित्य जब सब लोग भोजन कर लिया करते थे तब मैं भोजन किया करती थी। जब सब लोग सो जाते थे तब मैं भी जाकर सो रहती थी और सब लोगों के उठने से पहले ही उठकर घर के कामकाज में लग जाया करती थी।

मैं अपनी सास कुन्ती को भी नित्य भोजन कराके उनकी सेवा किया करती थी। मैं कभी उन पर यह प्रकट ही न होने

देती थी कि मैं क्या क्या काम करती हूँ। वे जैसे वस्त्र पहनती थीं उनसे अच्छे वस्त्र मैं कभी नहीं पहनती थी। गृहधर्म में मैं सदा उन्हींकी अनुवर्तिनी होकर रहा करती थी। इसके सिवा मैं अपनी सौतों को भी अपनी प्रतिष्ठित बहनों के समान ही समझा करती थी। मैं कभी किसी प्रकार उनका निरादर या अपमान नहीं करती थी, न कभी उनके साथ किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार करती थी, न उनसे कभी कड़ुआ वचन कहती थी और न कभी किसी प्रकार किसी का दिल दुखाती थी।

हे सखी! अपने स्वामी को अपने वश में करने का इससे अच्छा उपाय और कोई नहीं है यही स्वामी को अपने वश में करने का मन्त्र और औषध है। तुम भी इसी मन्त्र और इसी औषधि का उपयोग कर देखो। बस, इतने से ही श्रीकृष्ण पूर्ण-रूप से तुम्हारे वश में हो जायँगे।

अब हम द्रौपदी के जीवन के एक ऐसे प्रसंग का उल्लेख करेंगे, जिससे उसके नारी-गौरव का यथार्थ परिचय मिलेगा।

जब दुर्योधन को हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ दोनों राज्य मिल गए तब उसके मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि मैं किसी प्रकार सारी पृथ्वी का स्वामी बन जाऊँ। कर्ण आदि के दुष्ट परामर्श से उसने पांडवों को अपना ऐश्वर्य दिखलाने के लिए यह निश्चय किया कि खूब ठाठ-बाट से यात्रा करने के लिए निकलना चाहिए और यही सोच कर वह एक दिन प्रभास तीर्थ में स्नान करने के बहाने से अपने सब कुटुम्बियों और घर की सब स्त्रियों तथा बहुत से सैनिकों आदि को लेकर बड़े समारोह से यात्रा करने के लिए निकल पड़ा।

प्रभास तीर्थ में गन्धर्वराज चित्रसेन का एक बहुत ही रम-णीय प्रमोद वन था। उस दिन गन्धर्वराज उसी बगीचे में हवा खाने के लिए आया हुआ था। उसने सुना कि कौरवों की सेना बहुत आडम्बर के साथ इसी ओर आ रही है। वह यह जानने के लिए उन सब लोगों की प्रतीक्षा करने लगा कि ये लोग कौन हैं, किस लिए इधर आ रहे हैं और कहाँ जाना चाहते हैं। पर उसे बहुत अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। उच्छृंखल कौरव तुरन्त ही गन्धर्वराज के प्रमोद वन में घुस आए और उस सुन्दर वन के फल, फूल आदि तोड़कर उसे नष्ट-भ्रष्ट करने लगे। मना करने पर भी अधिकार और मद से भरे हुए उन सैनिकों ने किसी की बात नहीं सुनी। यह उद्दंडता गन्धर्वराज से नहीं सही गई। वह कौरवों के साथ युद्ध करने को तैयार हो गया। दोनों पक्षों में घोर युद्ध हुआ और कौरवों की सेना परास्त होकर भाग गई। दुर्योधन के प्रधान सेनापतियों ने वहाँ से भाग कर अपने प्राण बचाए और सब कौरव अपनी स्त्रियों के साथ गन्धर्वराज के कैदी बने। कौरवों का सारा अहंकार चूर चूर हो गया। भय और अपमान से उनका मुख मलीन हो गया। कौरव-स्त्रियों के मर्म-भेदी रोने से वायु-मंडल काँपने लगा।

यह समाचार तुरन्त ही पांडवों के कानों में पहुँच गया क्योंकि वे लोग भी उस समय कहीं पास ही ठहरे हुए थे। कौरव-स्त्रियों का हृदय बिदा कर रोना चिल्लाना सुनकर कृष्णा का कोमल हृदय भी रो पड़ा। स्त्रियों में सहानुभूति का जो स्वाभा-विक गुण हुआ करता है वही गुण उस समय कृष्णा में जागृत हो उठा। कौरवों ने उसका और उसके पतियों का जो अपमान

किया था और कौरवों के साथ पांडवों की जो शत्रुता थी उसे उसने उस समय बिलकुल भुला दिया और वह घबराई हुई भीम और अर्जुन के पास जा कौरवों का उस दुर्दशा से उद्धार करने के लिए आग्रह करने लगी।

परन्तु भीम और अर्जुन को कौरवों की इस दुर्दशा से आनन्द हो रहा था। इसलिए उन्होंने कृष्णा का आग्रह न माना। यह देखकर कृष्णा की आँखों में मारे क्रोध और अभिमान के आँसू भर आए और वह बोली यदि शत्रुपक्ष के ये लोग कुल की स्त्रियों को पकड़ ले जायँगे तो हम लोगों की नाक कट जायगी और सदा के लिए हम लोगों पर बड़ा भारी कलंक लग जायगा। अपने कुल की इस प्रकार की बदनामी तो केवल कुलांगार ही देख और सह सकते हैं। भला तुम लोगों से और मुझ से यह कलंक कैसे सहा जायगा।

इतना कह कर कौरवों की स्त्रियों के कष्ट का अनुमान करके कृष्णा बहुत घबराई। जो स्वयं स्त्री होकर भी दूसरी स्त्रियों के दुःख से दुःखी न हो उसके स्त्री-जन्म को ही धिक्कार है। धन्य है गुणवती कृष्णा।

जब द्रौपदी ने देखा कि भीम और अर्जुन पर मेरे कहने सुनने का कुछ भी असर नहीं हुआ तब वह दौड़ी हुई धर्म-राज के पास गई और करुणा-पूर्ण हृदय से तथा अश्रु-पूर्ण नेत्रों से उसने कौरवों की स्त्रियों की दुर्दशा का सब हाल उन्हें कह सुनाया और अन्त में प्रार्थना की, कि हे स्वामिनाथ, यह ठीक है कि कौरव आपके अपराधी हैं परन्तु आज तो आपके कुल में कलंक लगने की बरबारी आ गई है। आप अपने गुणों तथा

बल से आपत्ति में फँसे हुए अपने भाइयों और उनकी स्त्रियों की सहज सहायता करके उनका इस कष्ट से उद्धार कीजिए। आप-के कुटुम्बी स्त्रियों को गन्धर्व हर ले गए हैं। आप तुरन्त आगे बढ़कर उन लोगों को पकड़ लीजिए जिसमें वे बहुत दूर न निकल जाँय और जहाँ तक हो सके आप उचित उपायों का अवलम्बन करके अपने कुल की स्त्रियों को बचाइए और अपने कुल-धर्म की रक्षा कीजिए।

कृष्णा की ये बातें सुन कर धर्मराज के मन में इस बात से बहुत अधिक आनन्द और अभिमान हुआ कि हम लोगों को ऐसे उन्नत विचार की वधू प्राप्त हुई है। उन्होंने तुरन्त भीम और अर्जुन को आज्ञा दी कि तुम लोग जल्दी जाओ और कौरवों तथा उनकी स्त्रियों को शत्रुओं के हाथों से छुड़ा लाओ। द्रौपदी की सम्मति बहुत ठीक है। जिस समय हम लोग आपस में लड़ते हों उस समय कौरव तो सौ भाई हैं और हम लोग पाँच भाई हैं। परन्तु जिस समय और किसी के साथ लड़ने भिड़ने का प्रसंग आवे उस समय हम लोग एक सौ पाँच भाई हैं, यह बात हम लोगों को सदा स्मरण रखनी चाहिए।

युधिष्ठिर के इस प्रकार के उपदेश से भीम और अर्जुन ने भी अपने मन में से कौरवों के प्रति वह पहला द्वेष दूरकर दिया। वे तुरन्त हथियार लेकर गन्धर्वों के पीछे पहुँचे। वहाँ वे लोग उनसे लड़े और उन्हें पराजित करके दुर्योधन सहित सब कौरवों को और उनकी स्त्रियों को छुड़ा लाए। शत्रुओं के प्रति कृष्णा का इतना सौजन्य सचमुच ही बहुत प्रशंसनीय है।

यदि साँप को दूध पिलाया जाय तो उससे केवल उसके विष

की ही वृद्धि होती है और अन्त में वह अपने दूध पिलानेवाले को ही काटता है। खलों और दुष्टों की बुद्धि भी ठीक इसी प्रकार की हुआ करती है। कृष्णा और पांडवों ने दुर्योधन आदि के साथ जो यह उपकार किया था उसका उचित बदला चुकाना तो दूर रहा उलटे अब दुर्योधन के मन में हिंसा और वैर की मात्रा पहले की अपेक्षा दस गुनी तीव्र हो गई। अब वह दिनरात इस विचार में रहने लगा कि किस प्रकार पांडवों का पूर्ण-रूप से नाश कर डालना चाहिए। इसी बीच में एक दिन दुर्वासा मुनि अपने शिष्यों के साथ हस्तिनापुर में आ पहुँचे।

दुर्योधन के मन में एक प्रकार की दुष्ट कल्पना उत्पन्न हुई। उसने दुर्वासा मुनि तथा उनके शिष्यों का बहुत अधिक आदर सत्कार करके उन लोगों को बहुत सन्तुष्ट किया। जब मुनि चलने लगे तब उन्होंने दुर्योधन से कुछ वरदान मांगने के लिए कहा। उस समय उस दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन ने एक विचित्र वरदान माँगा। उसने कहा, महाराज मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप एक दिन बिलकुल औचट में रात के समय ऐसे समय कृष्णा के पास पहुँचें जब कि वह भोजन कर चुकी हो और उस समय आप अपने साथ अपने दस हजार शिष्य भी लेते जायँ और जाकर युधिष्ठिर के अतिथि बनें।

दुर्वासा मुनि दुर्योधन की इस चालबाजी का कुछ भी मतलब न समझ सके। दुर्योधन ने उनको समझाया कि सब लोग युधिष्ठिर को धर्मराज कहते हैं। मैं इस बात की परीक्षा लेना चाहता हूँ कि वे वास्तव में धार्मिक हैं अथवा कपटी हैं और इसीलिए मैंने आपसे यह प्रार्थना की है।

दुर्वासा मुनि ने मुसकराते हुए दुर्योधन की यह बात मान ली, और वहाँ से चले गए।

यह बात प्रायः सभी लोग जानते थे कि द्रौपदी के भोजन कर चुकने के उपरान्त दस हजार अतिथियों का सत्कार करने की शक्ति पाँडवों में किसी प्रकार नहीं हो सकती। साथ ही दुर्योधन तथा दूसरे कौरव भी यह बात बहुत अच्छी तरह जानते थे कि दुर्वासा मुनि महा क्रोधी हैं। इसलिए उन लोगों ने समझ लिया था कि अब पाँडवों का समूल नाश हो जायगा।

उधर वन में पांडवों की कुटी में कृष्णा नित्य अपने हाथ से भोजन बनाया करती थी और सब लोगों को भर पेट भोजन कराया करती थी। नित्य युधिष्ठिर के पास बहुत से ब्राह्मण ऋषि अतिथि और अभ्यागत आदि शास्त्र-चर्चा करने के लिए आया करते थे और वे सबके सब गृह-लक्ष्मी कृष्णा की परिचर्या और सेवा आदि से प्रसन्न होकर उसे धन्यवाद देते थे और उसके मंगल की कामना किया करते थे। सूर्य के वरदान से पाँडवों की उस झोपड़ी में दीनों-दरिद्रों और भिक्षुओं के लिए सदाव्रत सा खुला हुआ था। अकेली कृष्णा ही सब लोगों के लिए भोजन बनाती थी और उन्हें भर पेट भोजन कराया करती थी। और सबके अन्त में जो कुछ बच रहता था वही प्रसाद स्वरूप आप खाकर सो रहती थी। उस वन और कुटीर के मनुष्यों की तो बात ही क्या—जब तक वहां के पशु पक्षी आदि तक भोजन न कर लिया करते थे तब, तक द्रौपदी कभी भोजन नहीं करती थी। तात्पर्य यह कि इस प्रकार परिश्रमपूर्वक कृष्णा गृहस्थाश्रम धर्म का पालन किया करती थी।

माघ मास के शुक्ल पक्ष की रात थी। काम्यक वन में चारो ओर शान्ति विराज रही थी। पहर रात बीतने तक कृष्णा चारो ओर घूम घूम कर और ढूंढ ढूंढ कर सब लोगों को बुला बुलाकर और यहाँ तक कि पशु पक्षियों तक को बुला बुलाकर भोजन कराके तृप्त कर चुकी थी और तब सब के अन्त में वह आप भोजन करने बैठी थी। वह भोजन कर ही रही थी कि इतने में दस हजार भूखे शिष्यों को लेकर दुर्वासा ऋषि अतिथि के रूप में पाँडवों के आश्रम में आ पहुँचे और कहने लगे महाराज की जय हो। मैं हस्तिनापुर में कुरुराज से मिलने गया था। वहाँ मैंने आपका भी समाचार सुना। मैंने सोचा कि चलो इधर से आप से भी मिलता चलूं और इस अरण्य के तीर्थ में स्नान भी कर लूं।

पाँडवों ने दुर्वासा ऋषि का बहुत अधिक आदर सत्कार किया और उनकी पूजा करके उन्हें आसन पर बैठाया। मुनि ने प्रसन्न होकर उन्हें आशीर्वाद दिया और कहा कि हम लोग जाकर तीर्थ में स्नान कर आते हैं, तब तक आप लोग हमारे भोजन की तैयारी करें।

दुर्वासा ऋषि अपने साथ शिष्यों को लेकर स्नान सन्ध्या करने के लिए गए। पाँडवों के मन में बहुत अधिक चिन्ता हुई। कृष्णा उस समय भोजन कर चुकी थी। सारे वन में पशु पक्षियों तक में से कोई भूखा नहीं था। ऐसे समय में, और वह भी इतनी रात को, दस हजार आदमियों के भोजन की किस प्रकार तैयारी की जा सकती थी। अतिथि का बिना भोजन किए खाली लौट जाना ठीक नहीं और तिस पर ये दुर्वासा मुनि ठहरे। यदि ऐसे महा क्रोधी अतिथि अप्रसन्न हो गए तो वे सर्व-

नाश ही करके छोड़ेंगे। हाय, आज पाँडवों का सारा पुण्य नष्ट हो जायगा और कदाचित् उनका नामनिशान तक मिट जायगा। यदि कृष्णा ने अब तक भोजन न किया होता तो कोई चिन्ता की बात नहीं थी। पर अब क्या किया जाय। पांडव लोग उस समय भय और शोक में लीन हो गए।

कृष्णा के भय और चिन्ता का तो कोई अन्त ही नहीं था। वह गृहिणी थी और गृह-धर्म के पालन का भार उसी पर था। वह सोचने लगी कि मैं थोड़ी देर तक और भी क्यों न भूखी रही। यदि मैं सारी रात भी बिना भोजन के बिता देती तो मर थोड़े ही जाती। आज केवल मेरे ही अपराध से मेरे पति-कुल के नाश की बारी आई है। दुःख और निराशा से कृष्णा का हृदय भर आया। जब उसे कोई और उपाय न सूझ पड़ा तब उसने अन्त में भक्तवत्सल अनाथशरण दीनानाथ की शरण ली। उसने उस समय उन्हीं को पुकारा। कौरवों की सभा में जिस समय उसका वस्त्र-हरण हो रहा था उस समय भी उस महा विपत्ति से बचने के लिए उसने उन्हीं हरि की शरण ली थी। आज भी कृष्णा ने अपनी सारी अवस्था श्रीकृष्ण के चरणों में निवेदन की और बाह्य-ज्ञान से शून्य होकर उसने एकाग्रचित्त से उन्हीं का स्मरण किया।

अब भला भगवान कैसे चुपचाप बैठे रह सकते थे। जहाँ तन्मयता होती है, जहाँ एकाग्रचित्त से उनका चिन्तवन होता है, वहीं वे तुरन्त जा पहुँचते हैं। जिस समय कृष्णा को होश हुआ उस समय उसने दुःखियों की रक्षा करने वाले परम बन्धु श्रीकृष्ण को अपने सामने खड़े पाया। कृष्णा कुछ कहना ही

चाहती थी कि उससे पहले ही कृष्ण ने अधीर होकर कहा—बहन कृष्णा, मुझे बहुत भूख लगी है। पहले तुम मुझे कुछ खिला दो फिर और कोई बात करना।

कृष्णा के मुँह से एक भी शब्द न निकला। वह सोचने लगी कि मैं इनकी बात का क्या उत्तर दूँ। जिस आपत्ति से छुटकारा पाने के लिए मैंने इन्हें पुकारा था, उलटे उसी आपत्ति को और बढ़ाने का ही ये उपाय कर रहे हैं। उसके मुंह से कुछ भी बात न निकली और वह रोने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसके रोने की ओर कुछ भी ध्यान न दिया और बोले—देखो तो सही उस हाँडी में क्या है। जो कुछ थोड़ा बहुत बचा खुचा हो वही मुझे दे दो। उतने से ही मेरा सन्तोष हो जायगा।

परन्तु द्रौपदी तो पहले ही पोंछ पांछ कर सब कुछ खा चुकी थी और बरतन भी माँज चुकी थी। वह सोचती थी कि उसमें तो अन्न का एक दाना भी नहीं है। अब मैं क्या करूं और इन्हें क्या उत्तर दूँ। उसे कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था। अन्तर्यामी श्रीकृष्ण को उसके मन का भाव समझने में देर नहीं लगी। वे बिना विलम्ब रसोई घर में जा पहुँचे। कृष्णा भी चुपचाप उनके पीछे पीछे चलकर वहां पहुँच गई।

रसोई घर बिलकुल साफ और स्वच्छ था। कहीं कतवार या गन्दगी आदि का नामोनिशान भी नहीं था। वहां इतनी अधिक स्वच्छता थी कि उसे देखकर कोई यह बात सहज में मान ही नहीं सकता था कि अभी थोड़ी देर पहले यहाँ हजारों आदमियों की रसोई बनी होगी और हजारों आदमियों ने यहां बैठकर भोजन किया होगा। द्रौपदी ने धोई और साफ की

हुई हाँडी लाकर श्रीकृष्ण के सामने रख दी। श्रीकृष्ण ने जब उसमें झांककर देखा तब उन्हें एक कोने में अन्न का बहुत छोटा सा दाना और एक जगह साग के जैसी कोई चीज लगी हुई दिखाई दी। उसे देखते ही श्रीकृष्ण बहुत अधिक प्रसन्न हुए और उसी पात्र में से बहुत ही आनन्दपूर्वक भोजन करने लगे। जब सर्व भूतों के आत्मा-रूपी नारायण प्रसन्न हो गए तब फिर बाकी ही क्या रह गया। अब तो मानों सारा विश्व तृप्त हो गया। श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को आश्वासन देते हुए कहा—बहन, अब तुम किसी बात की चिन्ता मत करो। मेरा पेट भर गया है। अब मुझे डकार आ रहे हैं। अब और सब लोग भी इसी तरह तृप्त हो जायँगे, कोई भूखा न रह जायगा।

जिस समय दुर्वासा मुनि तीर्थस्थान में सन्ध्या कर रहे थे उस समय अचानक ऐसा चमत्कार हुआ कि मुनि तथा उनके शिष्यों को ऐसा जान पड़ने लगा कि मानो पेट में बहुत अधिक भोजन पहुँच चुका है। उन सब लोगों को डकार भी आने लगे और आलस्य भी मालूम होने लगा। सब लोग यही सोचने लगे कि इस तीर्थ के पानी में ही ऐसी अद्भुत शक्ति है और वे इस सम्बन्ध में आपस में बात चीत करने लगे। सब लोगों का पेट बिलकुल भरा हुआ जान पड़ता था और सब को बहुत जम्हाइयां आ रही थीं। इसलिए वे सोचने लगे कि आज यहीं पड़ रहना चाहिए और कल सवेरे उठकर पांडवों के आश्रम में चलकर भोजन करना चाहिए। अन्त में सोच विचार कर सब लोगों ने ऐसा ही किया। दूसरे दिन सवेरे दुर्वासा मुनि अपने दस हजार शिष्यों को साथ लेकर पाँडवों के आश्रम में गए। अन्नपूर्णा-रूप द्रौपदी

ने उन सब लोगों का बहुत आदर सत्कार किया और उन्हें भर पेट बहुत अच्छा और स्वादिष्ट भोजन कराया। मुनि ब त ही प्रसन्न हुए और चलते समय वे द्रौपदी और पांडवों को बहुत अधिक आशीर्वाद देते गए।

दुष्ट-बुद्धि दुर्योधन के कानों तक भी यह समाचार पहुँचा। जब उसने देखा कि मेरी यह चाल भी उलटी ही पड़ी, तब उसने एक और ही प्रपंच सोचा। इस बार उसे एक बहुत ही अधम और पैशाचिक उपाय सूझा। उसने साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा द्रौपदी का हरण कर लाने के लिए अपने बहनोई जयद्रथ को भेजा।

जयद्रथ पांडवों के आश्रम में जा पहुँचा। पांडवों ने यह सोचकर उसका बहुत अधिक आदर सत्कार किया कि जो कौरवों का दामाद है वह हम लोगों का भी दामाद ही है। द्रौपदी ने भी सच्चे मनसे उसकी उसी प्रकार सेवा शुश्रूषा की जिस प्रकार अपने किसी कुटुम्बी की की जाती है। किसी की समझ में ही नहीं आया कि जयद्रथ अपने मनमें कोई पाप-वासना रखकर यहां आया है। एक कुटुम्बी के मिलने पर जो स्वाभाविक आनन्द होता है उसी आनन्द के साथ सब लोग दिन बिताने लगे।

एक दिन पांडव भिक्षा माँगने के लिए कहीं बाहर गए हुए थे। उस समय अकेला पाकर जयद्रथ ने सोचा कि कृष्णा को बलपूर्वक हरण करके ले चलना चाहिए। पहले तो उसने द्रौपदी से अपने साथ चलने के लिए यों ही बहुत अधिक आग्रह किया, परन्तु जब द्रौपदी ने उसकी इस पाप-पूर्ण इच्छा का बहुत ही उचित शब्दों में तिरस्कार किया, तब जयद्रथ उसे बलपूर्वक अपने साथ ले चलने को तैयार हुआ। तेजस्वी सती ने लात मार कर

जयद्रथ को जमीन पर गिरा दिया। परन्तु फिर भी वह स्त्री और अबला ही थी और जयद्रथ वीर पुरुष था। वह जमीन पर से उठ खड़ा हुआ और द्रौपदी को बलपूर्वक रथ पर बैठा कर वहाँ से चलने लगा।

उस समय द्रौपदी ने समय-सूचकता दिखलाई। वह भयभीत होकर रोने न लगी। वह क्रोध भरे नेत्रों से पांडवों के रास्ते की ओर देखने लगी। थोड़ी देर में उसे पांडवों के पैरों की आहट सुनाई दी। अब द्रौपदी पास आते हुए पांडवों के पराक्रम का अभिमान-पूर्वक एक एक करके जयद्रथ को परिचय देने लगीं। जिस समय जयद्रथ के सैनिकों को मारकर पांडव उसके रथ के पास आ पहुँचे उस समय वह अपने रथ पर से उतरकर भाग खड़ा हुआ। तुरन्त ही भीम और अर्जुन उसके पीछे दौड़े और उसे पकड़कर युधिष्ठिर के सामने ले आए। जयद्रथ ने युधिष्ठिर के पैरों पड़ कर उनकी दासता स्वीकृत करते हुए क्षमा माँगी। इस पर द्रौपदी ने कहा—जब यह दुर्बुद्धि जयद्रथ आपके पैरों पर गिर कर दासत्व स्वीकृत करते हुए क्षमा माँगता है तब आप इसके प्राण न लें और इसे यों ही छोड दें। द्रौपदी के इस प्रकार आग्रह करने से जयद्रथ छोड़ दिया गया और वह वहाँ से चुपचाप चला गया। परन्तु लज्जा के मारे वह अपने घर नहीं गया बल्कि पांडवों को मार डालने की इच्छा से वन में जाकर शिवजी की तपस्या करने लगा।

द्रौपदी ने जयद्रथ को छोड़वा तो दिया, पर उसका पैशाचिक कृत्य उसके हृदय में जहरीले तीर की तरह दिन रात खटकने लगा। उस समय मुनिवर मार्कंडेय वहाँ आ पहुँचे और उसे

पुराण, इतिहास और रामायण आदि में से अनेक कथाएँ सुनाने लगे। जब द्रौपदी ने सीता-हरण की कथा सुनी तब वह सीता के दुःख का स्मरण करके अपना सब अत्याचार और दुःख भूल गई।

धीरे धीरे पांडवों के वनवास के बारह वर्ष पूरे हो गए। अब अज्ञातवास का समय आया। इसलिए उन लोगों ने अलग अलग वेष धारण करके राजा विराट के महल में रहना निश्चित किया। उन दिनों राजा महाराजाओं को जूआ खेलने का बहुत अधिक शौक था। युधिष्ठिर पासा फेंकने में बहुत प्रवीण थे, इसलिए वे ब्राह्मण का वेष धरकर और अपना नाम कंक रखकर राजा विराट के सहचर के रूप में काम करने लगे। महा बलवान और महाकाय भीमसेन का काम थोड़े आहार से नहीं चलता था और वे रसोई के काम में बहुत प्रवीण भी थे इसलिए वे अपना नाम बल्लव रखकर रसोई बनाने के काम पर नौकर होगए। अर्जुन ने किसी दैवी-शक्ति के द्वारा एक नपुंसक का रूप धारण कर लिया। वे नृत्य गीत आदि में बहुत अधिक प्रवीण थे, इसलिए वे नपुंसक का रूप धारण करके और अपना नाम बृहन्नला रखकर राजा विराट की कन्याओं को नृत्य गीत आदि की शिक्षा देने के काम पर नियुक्त हो गए। नकुल ने विराट राजा के अश्वपाल का और सहदेव ने गोपाल का पद ग्रहण किया। प्राचीनकाल के राजाओं के यहां सैरिन्ध्री नामकी एक ऊँचे दरजे की दासी रहा करती थी। उसका काम रानी और राजकन्याओं तथा राज-परिवार की दूसरी स्त्रियों का बाल गूंथना, उनके शरीर में सुगन्धित तेल लगाना, उन्हें अलंकार पहनाना,

तथा उन्हें अनेक प्रकार की ललित कलाओं की शिक्षा आदि देना होता था। द्रौपदी ने राजा विराट की रानी सुदेष्णा से प्रार्थना की कि—आप मुझे अपने यहां सैरिन्ध्री के काम पर नियुक्त कर लीजिए। परन्तु द्रौपदी का रूप देखकर सुदेष्णा को इस वात का साहस न हो सका कि वह उसे अपने यहां दासी के रूप में नियुक्त करती। उसने कहा—वेटी तुम्हें इस रूप में अपनी सेवा में रखने का मुझे साहस नहीं होता। तुम्हारा वहुत सुन्दर रूप है। तुम्हें रखकर क्या मैं अन्त में स्वयं अपना ही सत्यानाश करूँ।

द्रौपदी ने कहा माताजी आप किसी प्रकार का भय न करें। मैं कभी परपुरुष की ओर आंख उठाकर देखूंगी भी नहीं। पांच वलवान गन्धर्व मेरे स्वामी हैं। वे गुप्त रूपसे सदा मेरी रक्षा किया करते हैं। यदि कोई मनमें वुरा विचार रख कर मुझ से वात भी करेगा तो वे तुरन्त उसकी अच्छी तरह खवर लेंगे। जो कोई मुझे स्नेहपूर्वक रखेगा उसका वे गन्धर्व यथेष्ट कल्याण करेंगे। आप जरा भी भय न करें। मुझे आप अपने यहां आश्रय दें।

राजा विराट स्वयं कोई वहुत वड़े सामर्थ्यवान नहीं थे। उनका कीचक नामका एक साला था जो वहुत वड़ा वीर था। उसीके पराक्रम से राजा विराट अपने राज्य का सव काम चलाया करते थे। उस कीचक की चाल-चलन अच्छी नहीं थी। परन्तु फिर भी कोई उसका वाल तक वांका नहीं कर सकता था। राजा विराट भी कीचक से डरते थे और उसे कुछ नहीं कह सकते थे। द्रौपदी का रूप देख कर कीचक उस पर मुग्ध हो गया। पहले तो उसने द्रौपदी को अनेक प्रकार के लालच दिए पर जव कुछ भी फल न हुआ तव अन्तमें उसने एक युक्ति की। उसने रानी

सुदेष्णा से आग्रह किया कि तुम किसी अवसर पर किसी बहाने से द्रौपदी को मेरे कमरे में भेज दो। इस पर सुदेशा ने द्रौपदी को आज्ञा दी कि तुम जाकर कीचक के कमरे में से मेरे लिए पानी ले आओ। द्रौपदी ने कीचक का जो रंग ढंग देखा था, वह सब सुदेष्णा को कह सुनाया और कहा कि मैं उसके कमरे में नहीं जाना चाहती। पर जब सुदेष्णा ने नहीं माना और बहुत हठ की तब अन्त में उसे विवश होकर वहां जाना ही पड़ा।

कीचक वहां बैठा हुआ द्रौपदी की प्रतीक्षा ही कर रहा था। द्रौपदी के आते ही उस पापी ने उससे कुछ अनुचित और खराब बातें कहीं। द्रौपदी तुरन्त ही घृणा प्रकट करती हुई पीछे की ओर हटी। इतने में उस पापी ने उसका हाथ पकड़ लिया। जिस प्रकार सिंहनी छेड़ी जाने पर गरज उठती है उसी प्रकार गरजकर द्रौपदी ने जोर से अपना हाथ छुड़ा लिया और कीचक को गिरा कर वह तुरन्त दौड़ी हुई राजसभा में जा पहुंची जहां राजा विराट और कंक के वेश में युधिष्ठिर बैठे हुए थे।

कीचक भी मारे क्रोध के आपे से बाहर हो गया था। वह भी उसके पीछे दौड़ता हुआ वहाँ पहुंच गया और उसने द्रौपदी के सिर के बाल पकड़ कर उसे जमीन पर पटक दिया और ऊपर से एक लात मारी।

कीचक के भय से राजा विराट चुपचाप बैठे रहे। यह देख कर द्रौपदी ने उन्हें सम्बोधन करके कहा, महाराज! आप राजा होकर भी एक निरपराध अबला का अपमान इस प्रकार चुपचाप बैठे हुए देख रहे हैं और उसके रोकने का कोई उपाय नहीं कर रहे हैं। इस समय आपका राजधर्म क्या है? आप राजा होकर

भी दस्यु के समान हैं। आप क्या मुंह लेकर इस सिंहासन पर वैठे हैं ? सभासदो, मैं आप लोगों से न्याय करने की प्रार्थना करती हूँ। कीचक पापी है और विराट राजा अपने कर्तव्य के पालन से विमुख है। यदि आप लोग भी चुपचाप वैठे रहेंगे तो मैं यह समझूंगी कि अधार्मिक राजा के आश्रित और उपासक होने के कारण आप लोग भी अपना अपना धर्म भूल गए हैं।

राजा विराट की सभा के सभासदों और कंकवेशधारी युधिष्ठिर ने द्रौपदी को धैर्य देकर अंतःपुर में भेजा। क्रोध और अभिमान से भरी हुई द्रौपदी रोती रोती अन्तःपुर में जा पहुँची और वहां उसने रानी सुदेष्णा से सब वृत्तांत कह सुनाया। रानी सुदेष्णा ने लज्जित होकर कहा, क्या कीचक ने तुम्हारा इतना बड़ा अपमान किया ? यदि तुम कहो तो मैं अभी महाराज से कह कर उसे प्राण दंड दिलवा दूँ। परन्तु द्रौपदी ने अभिमानपूर्वक कहा, मैं आपसे अपना वदला लेनेकी प्रार्थना नहीं करती। इस दुष्ट ने जिनकी स्त्री का अपमान किया है, वे गन्धर्व ही उसे उचित दंड देंगे।

द्रौपदी जानती थी कि भीमसेन के सिवा और कोई इस अपमान का वदला लेने के लिए तैयार न होगा। और सब लोग तो अनेक प्रकार के सोच विचार करके अपना क्रोध दवा लेंगे पर भीमसेन किसी प्रकार नहीं मानेंगे।

रात के समय द्रौपदी भीमसेन के पास गई। भीमसेन को सोते हुए देख कर द्रौपदी को वहुत अधिक क्रोध आया। क्रोध आने की बात ही थी। उसने सोचा कि स्त्री का इस प्रकार का अपमान देख कर भला कौन सा तेजस्वी स्वामी होगा जो इस प्रकार सुख की नींद सोवेगा ? द्रौपदी ने कहा, वृकोदर ! तुम्हें धिक्कार

है। तुम क्या सुख से सो रहे हो ? तुम जीवित हो या मृत। किसी जीवित पुरुष की स्त्री का इस प्रकार अपमान करके कीचक इस प्रकार जीता बच सकता था।

द्रौपदी की आवाज़ सुन कर भीमसेन जाग उठे। वे द्रौपदी को धैर्य देने लगे।

परन्तु द्रौपदी का मन किसी प्रकार की सान्त्वना से शान्त होता ही नहीं था। वह रोष और क्रोध से कहने लगी, यह मेरा बड़ा भारी दुर्भाग्य है कि तुम्हारे जैसे स्वामी की स्त्री होकर भी मुझे इतना बड़ा अपमान सहना पड़ा। तुम तेजस्वी वीर होकर भी अपनी स्त्री का ऐसा अपमान इस प्रकार चुपचाप सह रहे हो। भला, मैं तुम से अब और क्या कहूँ ? तुम्हें यह हीनता और दुर्दशा दिखलाई नहीं देती। पासा फेंकने में अपना सर्वस्व गँवाकर भी युधिष्ठिर फिर वही पासा फेंकने में अपने दिन बिता रहे हैं। जिन हाथों से तुमने हिडिम्ब बक आदि राक्षसों का बध किया है, उन्हीं हाथों से तुम राजा बिराट के लिए भात पकाया करते हो। जो अर्जुन अपने वज्र जैसे कठोर हाथों में धनुष धारण किया करते थे, उन्हीं हाथों में आज उन्होंने चूड़ियाँ पहन ली हैं। जिसके हुँकार से युद्धक्षेत्र में शत्रु काँप उठते थे, वही आज अन्तः-पुर की कन्याओं को गाना सुना कर तृप्त हो रहे हैं। जिन पैरों के भार से पृथ्वी काँप उठती थी, आज वही पैर राजा बिराट की कन्याओं को नाचना सिखा रहे हैं। जिस मस्तक पर उज्ज्वल कीरीट शोभा दिया करता था, वही मस्तक आज साड़ी के नीचे ढका हुआ है। और यह सब दुर्भाग्य मैं अपनी आँखों से देख रही हूँ। मैं अपनी बात क्या कहूँ ? एक दिन वह था जब कि पृथ्वी मेरे

अधिकार में थी और एक आज का दिन है कि मैं सुदेष्णा की दासी बनी हुई हूँ। जिन हाथों से मैं केवल आर्या कुन्ती के सिर में तेल डाला करती थी, उन्हीं हाथों से मुझे सुदेष्णा के माथे पर चन्दन लगाना पड़ता है, सुदेष्णा का शरीर दबाना पड़ता है। हे भीम, और चाहे जो कुछ हो पर आज का अपमान मुझ से सहा नहीं जाता। जब तक कीचक जीता है तब तक अपने पातिव्रत्य की रक्षा के विचार से मैं इस नगर में एक घड़ी भी नहीं ठहर सकती। तुमने अपनी आँखों से सब कुछ देखा है और सारी अवस्था भी तुम समझ चुके हो। तुम इसका कोई उपाय करो। तुम जल्दी से कीचक को वध कर डालो, नहीं तो मैं जहर खाकर मर जाऊँगी। इस प्रकार का घृणित और लज्जित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा मर जाना हजार दरजे अच्छा है।

भला द्रौपदी इससे अधिक क्या कह सकती थी? भीमसेन ने कहा, द्रौपदी अब तुम और कुछ मत कहो। मैं कल ही कीचक को मार डालूँगा। तुम जाकर कीचक से कहना कि मैं कल रात को नृत्यशाला में आप से मिलूंगी। और तुम्हारे बदले में मैं स्त्री का वेश धारण करके वहाँ पहुँच जाऊँगा और उसका (दुरात्मा कीचक का) वध करके तुम्हें इस आपत्ति से सदा के लिए मुक्त कर दूँगा। भीमसेन की इस सलाह के अनुसार द्रौपदी ने कीचक से कह दिया कि मैं रात को तुमसे नृत्यशाला में मिलूंगी। तदनुसार रात के समय कीचक बहुत प्रसन्नता से नृत्यशाला में पहुँचा और वहाँ वह भीमसेन के हाथ से मार डाला गया।

कीचक का वध करके और उसके हाथ, पैर, मुंह सब शरीर

के अन्दर घुसाकर और उसे अच्छी तरह कुबड़ा बनाकर भीमसेन अपने स्थान पर चला गया। सबेरे सब लोग कीचक का मृत शरीर देख कर बहुत ही विस्मित हुए। किसी को यह पता ही नहीं चला कि किसने कीचक की हत्या की और किसने उसके मृत शरीर की यह दुर्दशा की। द्रौपदी ने सब लोगों से कह दिया कि कीचक ने मेरा जो अपमान किया था उसीका बदला चुकाने के लिए मेरे गन्धर्व स्वामियोंने उसकी यह दुर्दशा की है।

कीचक के एक सौ पांच भाई थे। उन्हें लोग उपकीचक कहा करते थे। कीचक की मृत्यु से उपकीचक बहुत ही क्रुद्ध हुए और वे कीचक के मृत शरीर के साथ जलाने के लिए द्रौपदी को भी बांध ले गए। यह सुन कर भीम ने अपना वेश बदल लिया;और गन्धर्वों के वेश में उन्होंने उपकीचकों पर आक्रमण करके उन सब का संहार कर डाला। उन लोगों के हाथों से छूटकर द्रौपदी फिर राजा विराट के महल में जा पहुँची।

जिस समय द्रौपदी ने अन्तःपुर में प्रवेश किया, उस समय अर्जुन नृत्यशाला में राज-कन्याओं को नृत्य सिखला रहे थे। द्रौपदी को देखकर अर्जुन हँस पड़े और उन्होंने उसके साथ बातें करके उपकीचकों के वध का हाल जानना चाहा। द्रौपदी ने व्यंग्यपूर्वक कहा, बृहन्नला ! तुम नाचो गाओ। सैरिन्ध्री की बात से तुम्हें क्या मतलब। मेरा दुःख तुम से सहा नहीं जाता इसीलिए न तुम हंस रहे हो।

अर्जुनद्रौपदी नेको बहुत समझाया और मीठे वचनों से उसे धैर्य बंधाया।

द्रौपदी के कारण ही कीचक और उपकीचकों का वध हुआ

था। राजा विराट ने सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि इस सैरिन्ध्री के कारण कोई और भारी आफत आ खड़ी हो, इसलिए उन्होंने रानी को आज्ञा दी कि तुम इसे निकाल दो। जब द्रौपदी आई तब सुदेष्णा ने उससे कहा, बेटी! तुम्हारा रूप बहुत ही सुन्दर है और पुरुषों का मन बहुत ही चंचल हुआ करता है। इसके सिवा तुम्हारे गन्धर्व भी बहुत अधिक बलवान हैं। कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारे यहाँ रहने से हम लोगों पर कोई और नई विपत्ति आ पड़े। इसलिए अब तुम यहाँ से और कहीं चली जाओ। तुम्हारी जैसी सैरिन्ध्री का हमारे यहाँ काम नहीं है।

अब पाँडवों के गुप्तवास की अवधि समाप्त होने में थोड़ा ही समय बाकी रह गया था। इसलिए द्रौपदी ने उससे और तेरह दिनों का समय माँगा। मारे भय के सुदेष्णा इनकार न कर सकी।

पाँडवों के गुप्तवास का समय भी पूरा हो गया। पाँडवों ने अपना राज्य वापस माँगने के लिए श्रीकृष्ण को दूत के रूप में युधिष्ठिर के पास भेजा। परन्तु बिना युद्ध किए सूई की नोक के बराबर भी जमीन देने के लिए दुर्योधन तैयार नहीं था, इसलिए कुरुक्षेत्र में महायुद्ध आरम्भ हुआ। अठारह दिनों तक वह युद्ध चलता रहा। उस युद्ध में कुरुवंश प्रायः निर्मूल हो गया।

जब दुर्योधन की जाँघ टूट गई तब द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा रात के समय पाँडवों के शिविर में आकर द्रौपदी के पांच पुत्रों की हत्या कर गया। जब इस प्रकार अन्यायपूर्वक पुत्रों की हत्या हुई तब द्रौपदी को दुःख की अपेक्षा क्रोध ही अधिक हुआ। इसका बदला चुकाने की प्रबल अग्नि तेजस्वी द्रौपदी के हृदय में प्रज्वलित हो उठी। उसने बहुत ही तीव्र शब्दों में पाँडवों से कहा, अश्व-

त्थामा गीदड़ों की तरह रात के समय हमारे शिविर में घुस आया था और मेरे सोए हुए वीर पुत्रों की हत्या कर गया। यदि तुम लोग तुरन्त ही उसे उचित दंड न दोगे तो मैं अन्न जल परित्याग कर अपने प्राण तज दूँगी। युधिष्ठिर ने द्रौपदी को शान्त करने की बहुत चेष्टा की परन्तु उस चेष्टा का कुछ भी फल न हुआ।

द्रौपदी ने कहा, जबतक उस दुष्ट को उचित दंड न दिया जायगा तबतक मुझे ज़रा भी शान्ति न मिलेगी। तुम लोग अश्वत्थामा को मार कर उसके माथे की मणि मेरे पास ले आओ तब मैं समझूंगी कि उसे उसके पाप का उचित दंड मिल गया, नहीं तो नहीं।

भीमसेन तुरन्त ही अश्वत्थामा के पीछे जा पहुँचे। थोड़ी ही देर में वे उसके माथे की मणि ले आए। अश्वत्थामा उनके अस्त्र-गुरु द्रोणाचार्य के पुत्र थे इसलिए उन्होंने उसके प्राण तो नहीं लिए थे पर वे उसके माथे की मणि अवश्य ले आए थे। यह सुनकर द्रौपदी ने कहा, तुम्हारे गुरुपुत्र मेरे भी गुरुपुत्र हैं। वह चाहे जो कुछ करें पर हम लोगों के लिए वह अवध्य ही हैं। जैसे, हुआ तुम उनके माथे की मणि ले आए उनके लिए यही दंड बहुत है। युधिष्ठिर यह मणि अपने मस्तक पर धारण करेगें। पुत्रों की हत्या के बदले के चिन्ह-स्वरूप उनके मस्तक पर यह मणि देखकर मुझे बहुत शान्ति मिलेगी।

बालकों, वृद्धों और बिधवा रमणियों के सिवा इस महा-वंश के और सब लोग मारे गए। श्रीकृष्ण ने धर्मराज का अभिषेक करके उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर बैठाया। और इस प्रकार पृथ्वी पर धर्मराज्य की स्थापना की। कृष्णा सम्राज्ञी बन, धर्मराज

के बाएं ओर सिंहासन पर बैठी। इतने दिनोंके बाद अब जाकर उस के हृदय की ज्वाला शान्त हुई और उसके मन का क्षोभ दूर हुआ।

जब अन्धे धृतराष्ट्र और गान्धारी ने देखा कि इस प्रकार हमारे वंश का सर्वनाश हो गया तब वे संसार छोड़कर वन में चले गए। कुन्तीदेवी और विदुर भी उन लोगों के साथ तपस्या करने के लिए चले गए।

इस महायुद्ध में बहुत से वंशों का नाश हुआ। इस पाप के भय से धर्मराज के मन में भी बहुत अधिक खेद और ग्ला[illegible] हुई। श्रीकृष्ण और ऋषियों के परामर्श से उन्होंने अ[illegible] ही करके इन सब पापों का प्रायश्चित्त किया। सारी पृथ्वी कृ[illegible] पांडवों के यश के गीत गाने लगी।

अश्वमेध यज्ञ करने से पांडवों का पाप तो दूर हो गया परन्तु कुरुक्षेत्र में अपने असंख्य जाति भाइयों और बन्धुवों की जो हत्या हुई थी उसके कारण धर्मराज के मन में जो दुःख और ग्लानि उत्पन्न हुई थी वह किसी प्रकार दूर न हो सकी। चारों ओर से केवल दीर्घ निःश्वास और हाहाकार की शोकमय ध्वनि निकल निकल कर उनका हृदय चीरे डालती थी। यों तो देखने में संसार के सभी श्रेष्ठ सुख उन्हें मिल चुके थे पर उनके हृदय में जरा भी शान्ति नहीं थी। किसी काम में उनकी रुचि या उमंग नहीं रह गई थी। वे केवल अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिए यंत्र की भांति सब काम जैसे तैसे किया करते थे। केवल धर्मचर्चा करने में ही पांडवों का सारा समय बीतने लगा।

कृष्णा ने भी अपने हृदय का भार हलका करने के लिए सब